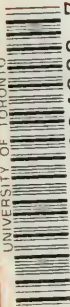
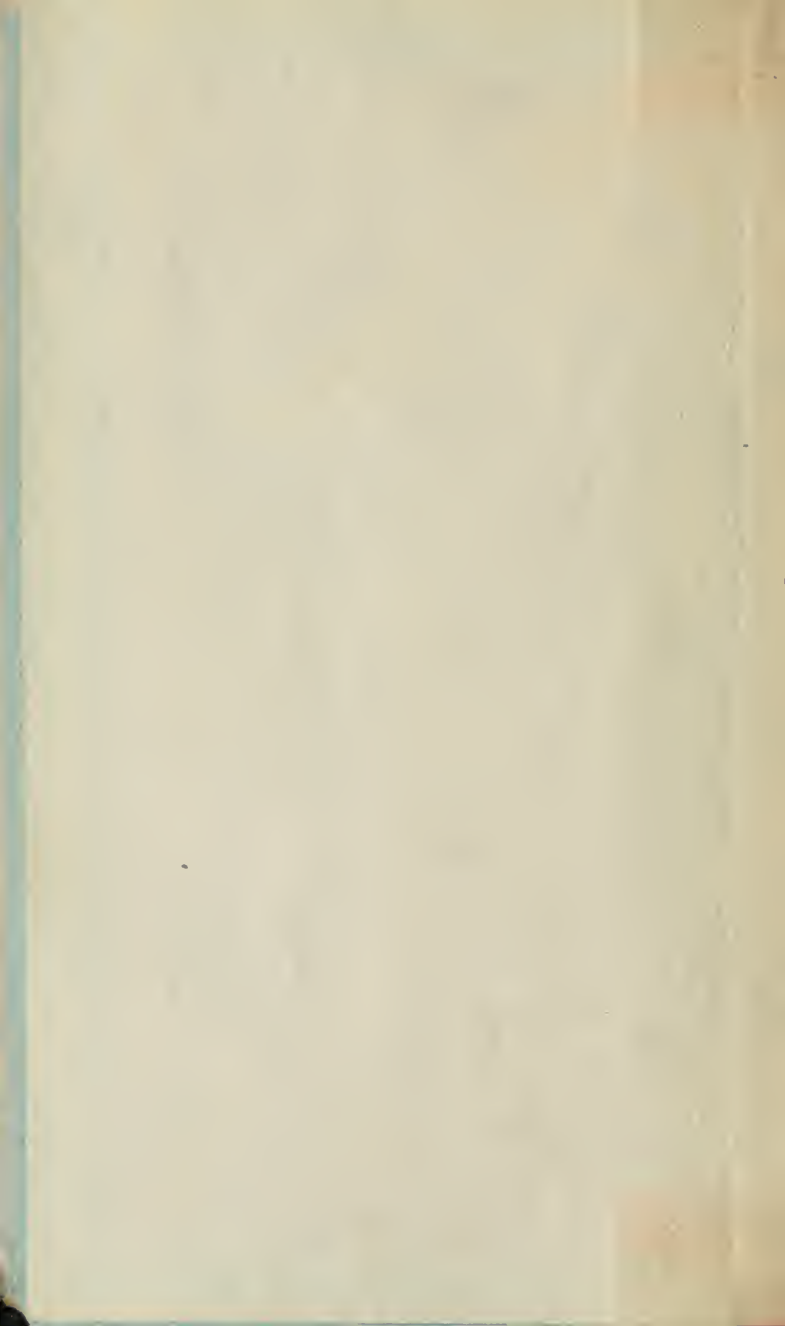



UNIVERSITY OF TORONTO



3 1761 00664222 7



5/8



Digitized by the Internet Archive  
in 2010 with funding from  
University of Toronto



SRI VANI VILAS  
SASTRA SERIES



— No. 7 —



# Sastra Darpana



BY

**SRI AMALANANDA**

*Author of Kalpataru.*



**SRIRANGAM :**

**SRI VANI VILAS PRESS,**

**1913.**

*Copyright Registered.*





022297

B  
132  
A3A45  
1913

॥ ॐ ॥

# ॥ शास्त्रदर्पणम् ॥

श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमदनु-

भवानन्दपूज्यपादशिष्यैः

भगवदमलानन्दैः

विरचितम् ।



श्रीरङ्गस्थ


श्रीवाणीविलासमुद्रायन्त्रालये

संमुद्रितम् ।

१९१३.



## PREFACE.

ASTRA Darpana is, true to its name, a mirror wherein are faithfully reflected the tenets of the ADVAITA VEDANTA as embodied in the well-known Brahma Sutras. These Brahma-sutras have been variously interpreted by several learned men of different creeds but it is clearly and convincingly shown in the book called VYASATATPARYA NIRNAYA \* by Ayyanna Dikshita who lived about 150 years ago that Sri Vyasa while writing the Brahmasutras could have had in view the advaitic interpretation only. Hence a peculiar importance is attached to this interpretation and among the Advaitins the expression "VEDANTA SASTRA" includes the following five works *viz.* 1. Brahmasutras by Sri Vyasa, 2. Bhashya by Sri Sankara Bhagavatpada, 3. Bhamati, a commentary on the Bhashya, by Vachaspati Misra, 4. Kalpataru, a commentary on Bhamati by Amalananda and 5. Parimāla a commentary on Kalpataru by Appaya Dikshita. Of these mighty intellects in the field of Advaita Philosophy the fourth *viz.* Amalananda was not satisfied with writing the Kalpataru. He yearned to write an independent treatise on the Brahma Sutras with the

---

\* Published in the SASTRA BOOKLET Series at the Sri Vani Vilas Press, Srirangam. Cr. 8vo. As. 8 only.

result that this Sastra Darpana was given to the world. It is a masterly treatise consisting of learned lectures on each adhikarana expounding forcibly its meaning and its purport in a way hitherto unrivalled in the field of Sanskrit Literature. This novel method of writing lectures on each Adhikarana as a whole makes an effective impression on the minds of the learned readers. The author of this masterpiece who is himself an excellent scholar has in the course of his lectures versified the substance of the Purvapaksha and the Siddhanta of each Adhikarana into Slokas, thereby showing how facile his pen was. These Slokas are helpful to the readers in that they serve as a mnemonic to bring to mind the various arguments adduced in the different lectures. The existence of this rare masterpiece was brought to our notice by His Holiness the late Sri Jagadguru of Sringeri. Immediately after, we set about the collection of manuscripts of this work and obtained the following: one palm leaf manuscript and one paper manuscript from the Sringeri Mutt, Two palm leaf manuscripts through Brahmasri K. Rama Sastrigal of Mysore, one palm leaf manuscript through Brahmasri Rangavadhyar of Kalladakurichi and one excellently written paper manuscript from Brahmasri Ramaswamy Sastrigal of Gopichettipalayam. The last manuscript was in Grantha characters and was written after a careful collation of three different manuscripts. With the aid of these manuscripts the work was edited with the hearty co-operation of Brahmasri Vaidyanatha Sastrigal.



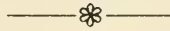
Professor of Mimamsa at the Sanskrit Institute of Bangalore to whom our sincere thanks are due. This forms the second of the three precious sastraic gems issued from the Sri Vani Vilas Press within the course of about thirty days, the other two being the Bhagavadgita with the commentary called Brahmanandagiri and the Taittiriyaopanishad Bhashya with the commentary called Vanamala. It will be an ample recompense to our labours if the literary Public rightly appreciate the value of these hitherto unpublished, yea even unknown scholarly works.

*J. K. Balasubrahmanyam.*



॥ श्रीः ॥

## ॥ अधिकरणानुक्रमणिका ॥



पृष्ठम्

प्रथमोऽध्यायः ... १—९५

प्रथमः पादः .... १—३१

|                           |     |    |
|---------------------------|-----|----|
| १. जिज्ञासाधिकरणम्        | ... | १  |
| २. जन्माद्यधिकरणम्        | ... | ५  |
| ३. शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् | ... | ६  |
| ४. समन्वयाधिकरणम्         | ... | ९  |
| ५. ईक्षत्यधिकरणम्         | ... | १३ |
| ६. आनन्दमयाधिकरणम्        | ... | १६ |
| ७. अन्तरधिकरणम्           | ... | १९ |
| ८. आकाशाधिकरणम्           | ... | २१ |
| ९. प्राणाधिकरणम्          | ... | २३ |
| १०. ज्योतिश्चरणाधिकरणम्   | ... | २४ |
| ११. प्रातर्दनाधिकरणम्     | ... | २८ |

द्वितीयः पादः .... ३२—४५

|                             |     |    |
|-----------------------------|-----|----|
| १. सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् | ... | ३२ |
|-----------------------------|-----|----|

|                         |     |    |
|-------------------------|-----|----|
| २. अत्राधिकरणम्         | ... | ३४ |
| ३. गुहाप्रविष्टाधिकरणम् | ... | ३६ |
| ४. अन्तराधिकरणम्        | ... | ३७ |
| ५. अन्तर्याम्यधिकरणम्   | ... | ३९ |
| ६. अदृश्यत्वाद्यधिकरणम् | ... | ४० |
| ७. वैश्वानराधिकरणम्     | ... | ४३ |

### तृतीयः पादः

.... ४६—७६

|                                    |     |    |
|------------------------------------|-----|----|
| १. द्युम्वाद्यधिकरणम्              | ... | ४६ |
| २. भूमाधिकरणम्                     | ... | ४७ |
| ३. अक्षराधिकरणम्                   | ... | ५० |
| ४. ईक्षतिकर्माधिकरणम्              | ... | ५२ |
| ५. दहराधिकरणम्                     | ... | ५४ |
| ६. दहरान्तराधिकरणम्                | ... | ५८ |
| ७. अनुकृत्यधिकरणम्                 | ... | ५९ |
| ८. प्रमिताधिकरणम्                  | ... | ६२ |
| ९. देवताधिकरणम्                    | ... | ६४ |
| १०. अपशूद्राधिकरणम्                | ... | ६७ |
| ११. कम्पनाधिकरणम्                  | ... | ६९ |
| १२. ज्योतिरधिकरणम्                 | ... | ७१ |
| १३. अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम् | ... | ७३ |
| १४. सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम्   | ... | ७५ |

|                          |      |       |
|--------------------------|------|-------|
| चतुर्थः पादः             | .... | ७७—९५ |
| १. आनुमानिकाधिकरणम्      | ...  | ७७    |
| २. चमसाधिकरणम्           | ...  | ७९    |
| ३. संख्योपसंग्रहाधिकरणम् | ...  | ८०    |
| ४. कारणत्वाधिकरणम्       | ...  | ८४    |
| ५. बालक्यधिकरणम्         | ...  | ८७    |
| ६. वाक्यान्वयाधिकरणम्    | ...  | ९०    |
| ७. प्रकृत्यधिकरणम्       | ...  | ९२    |
| ८. सर्वव्याख्यानाधिकरणम् | ...  | ९४    |

|                 |     |        |
|-----------------|-----|--------|
| द्वितीयोऽध्यायः | ... | ९६—१८४ |
|-----------------|-----|--------|

|                            |      |        |
|----------------------------|------|--------|
| प्रथमः पादः                | .... | ९६—११४ |
| १. स्मृत्यधिकरणम्          | ...  | ९६     |
| २. योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्  | ...  | ९७     |
| ३. विलक्षणत्वाधिकरणम्      | ...  | ९९     |
| ४. शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्   | ...  | १००    |
| ५. भोक्त्रापत्यधिकरणम्     | ...  | १०२    |
| ६. आरम्भणाधिकरणम्          | ...  | १०३    |
| ७. इतरव्यपदेशाधिकरणम्      | ...  | १०७    |
| ८. उपसंहारदर्शनाधिकरणम्    | ...  | १०८    |
| ९. कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् | ...  | १०९    |

|                             |     |     |
|-----------------------------|-----|-----|
| १०. सर्वोपेताधिकरणम्        | ... | ११० |
| ११. प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम्   | ... | १११ |
| १२. वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम् | ... | ११२ |
| १३. सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम् | ... | ११४ |

## द्वितीयः पादः .... ११५—१३८

|                             |     |     |
|-----------------------------|-----|-----|
| १. रचनानुपपत्त्यधिकरणम्     | ... | ११५ |
| २. महद्दीर्घाधिकरणम्        | ... | ११७ |
| ३. परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम् | ... | १२० |
| ४. समुदायाधिकरणम्           | ... | १२३ |
| ५. अभावाधिकरणम्             | ... | १२६ |
| ६. एकस्मिन्नसंभवाधिकरणम्    | ... | १३१ |
| ७. पत्त्यधिकरणम्            | ... | १३५ |
| ८. उत्पत्त्यसंभवाधिकरणम्    | ... | १३७ |

## तृतीयः पादः .... १३९—१६३

|                         |      |     |
|-------------------------|------|-----|
| १. वियदधिकरणम्          | ...  | १३९ |
| २. मातरिश्वाधिकरणम्     | ...  | १४२ |
| ३. असंभवाधिकरणम्        | ...  | १४३ |
| ४. तेजोऽधिकरणम्         | ...  | १४५ |
| ५. अवधिकरणम्            | .... | १४६ |
| ६. पृथिव्यधिकाराधिकरणम् | .... | १४७ |
| ७. तदभिध्यानाधिकरणम्    | ...  | १४९ |

|                            |     |     |
|----------------------------|-----|-----|
| ८. विपर्ययाधिकरणम्         | ... | १५१ |
| ९. अन्तराविज्ञानाधिकरणम्   | ... | १५२ |
| १०. चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् | ... | १५३ |
| ११. आत्माधिकरणम्           | ... | १५४ |
| १२. ज्ञाधिकरणम्            | ... | १५५ |
| १३. उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम् | ... | १५७ |
| १४. कर्त्राधिकरणम्         | ... | १५८ |
| १५. तक्षाधिकरणम्           | ... | १५९ |
| १६. परायत्ताधिकरणम्        | ... | १६० |
| १७. अंशाधिकरणम्            | ... | १६१ |

## चतुर्थः पादः ... १६४—१८४

|                                  |      |     |
|----------------------------------|------|-----|
| १. प्राणोत्पत्त्याधिकरणम्        | ...  | १६४ |
| २. सप्तगत्याधिकरणम्              | ...  | १६५ |
| ३. प्राणानुत्वाधिकरणम्           | ...  | १६९ |
| ४. प्राणश्रेष्ठ्याधिकरणम्        | ...  | १६९ |
| ५. वायुक्रियाधिकरणम्             | .... | १७१ |
| ६. श्रेष्ठानुत्वाधिकरणम्         | .... | १७३ |
| ७. ज्योतिराद्यधिकरणम्            | ...  | १७४ |
| ८. इन्द्रियाधिकरणम्              | ...  | १७६ |
| ९. संज्ञामूर्तिक्लृप्त्याधिकरणम् | ...  | १८१ |

तृतीयोऽध्यायः ... १८५—३२६

प्रथमः पादः .... १८५—१९९

|                             |     |     |
|-----------------------------|-----|-----|
| १. तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् | ... | १८५ |
| २. कृतात्ययाधिकरणम्         | ... | १९० |
| ३. अनिष्टादिकार्यधिकरणम्    | ... | १९२ |
| ४. साभाव्यापत्त्यधिकरणम्    | ... | १९४ |
| ५. नातिचिराधिकरणम्          | ... | १९६ |
| ६. अन्याधिष्ठिताधिकरणम्     | ... | १९७ |

द्वितीयः पादः .... २००—२१६

|                                  |     |     |
|----------------------------------|-----|-----|
| १. संध्यधिकरणम्                  | ... | २०० |
| २. तदभावाधिकरणम्                 | ... | २०२ |
| ३. कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् | ... | २०४ |
| ४. मुग्धाधिकरणम्                 | ... | २०६ |
| ५. उभयलिङ्गाधिकरणम्              | ... | २०७ |
| ६. प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम्       | ... | २१० |
| ७. पराधिकरणम्                    | ... | २१२ |
| ८. फलाधिकरणम्                    | ... | २१४ |

तृतीयः पादः ... २१७—२८८

|                               |     |     |
|-------------------------------|-----|-----|
| १. सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् | ... | २१७ |
| २. उपसंहाराधिकरणम्            | ... | २२४ |



|                           |     |     |
|---------------------------|-----|-----|
| ३. अन्यथात्वाधिकरणम्      | ... | २२६ |
| ४. व्याप्त्याधिकरणम्      | ... | २२७ |
| ५. सर्वाभेदाधिकरणम्       | ... | २२९ |
| ६. आनन्दाद्यधिकरणम्       | ... | २३० |
| ७. आध्यानाधिकरणम्         | ... | २३२ |
| ८. आत्मगृहीत्यधिकरणम्     | ... | २३४ |
| ९. कार्याख्यानाधिकरणम्    | ... | २३८ |
| १०. समानाधिकरणम्          | ... | २३९ |
| ११. संबन्धाधिकरणम्        | ... | २४१ |
| १२. संभृत्याधिकरणम्       | ... | २४२ |
| १३. पुरुषविद्याधिकरणम्    | ... | २४४ |
| १४. वेधाद्यधिकरणम्        | ... | २४६ |
| १५. हान्यधिकरणम्          | ... | २४९ |
| १६. सांपरायाधिकरणम्       | ... | २५२ |
| १७. गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम् | ... | २५३ |
| १८. अनियमाधिकरणम्         | ... | २५५ |
| १९. यावदधिकाराधिकरणम्     | ... | २५७ |
| २०. अक्षरध्यधिकरणम्       | ... | २५८ |
| २१. इयदधिकरणम्            | ... | २५९ |
| २२. अन्तरत्वाधिकरणम्      | ... | २६२ |
| २३. व्यतिहाराधिकरणम्      | ... | २६५ |
| २४. सत्याद्यधिकरणम्       | ... | २६६ |

|                            |     |     |
|----------------------------|-----|-----|
| २५. कामाद्यधिकरणम्         | ... | २६७ |
| २६. आदराधिकरणम्            | ... | २६९ |
| २७. तन्निर्धारणाधिकरणम्    | ... | २७२ |
| २८. प्रदानाधिकरणम्         | ... | २७३ |
| २९. लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्  | ... | २७४ |
| ३०. ऐकात्म्याधिकरणम्       | ... | २७६ |
| ३१. अङ्गावबद्धाधिकरणम्     | ... | २७८ |
| ३२. भूमज्यायस्त्वाधिकारणम् | ... | २८० |
| ३३. शब्दादिभेदाधिकरणम्     | ... | २८१ |
| ३४. विकल्पाधिकरणम्         | ... | २८४ |
| ३५. काम्याधिकरणम्          | ... | २८५ |
| ३६. यथाश्रयभावाधिकरणम्     | ... | २८७ |

## चतुर्थः पादः

.... २८९—३२६

|                           |      |     |
|---------------------------|------|-----|
| १. पुरुषार्थाधिकरणम्      | ...  | २८९ |
| २. परामर्शाधिकरणम्        | ...  | २९२ |
| ३. स्तुतिमात्राधिकरणम्    | ...  | २९७ |
| ४. पारिप्लवाधिकरणम्       | .... | २९९ |
| ५. अग्नीन्धनाद्यधिकरणम्   | ...  | ३०१ |
| ६. सर्वापेक्षाधिकरणम्     | ...  | ३०४ |
| ७. सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् | ...  | ३०६ |
| ८. आश्रमकर्माधिकरणम्      | ...  | ३०८ |

|                             |     |     |
|-----------------------------|-----|-----|
| ९. विधुराधिकरणम्            | ... | ३११ |
| १०. तद्भूताधिकरणम्          | ... | ३१२ |
| ११. आधिकारिकाधिकरणम्        | ... | ३१४ |
| १२. बहिरधिकरणम्             | ... | ३१७ |
| १३. स्वाम्यधिकरणम्          | ... | ३१८ |
| १४. सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् | ... | ३२० |
| १५. अनाविष्काराधिकरणम्      | ... | ३२२ |
| १६. ऐहिकाधिकरणम्            | ... | ३२३ |
| १७. मुक्तिफलानियमाधिकरणम्   | ... | ३२५ |

चतुर्थोऽध्यायः ... ३२७—३६९

प्रथमः पादः .... ३२७—३४२

|                         |      |     |
|-------------------------|------|-----|
| १. आवृत्यधिकरणम्        | .... | ३२७ |
| २. आत्मत्वोपासनाधिकरणम् | ...  | ३२९ |
| ३. प्रतीकाधिकरणम्       | ...  | ३३० |
| ४. ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् | ...  | ३३१ |
| ५. आदित्यादिमत्यधिकरणम् | ...  | ३३२ |
| ६. आसीनाधिकरणम्         | ...  | ३३३ |
| ७. एकाग्रताधिकरणम्      | ...  | ३३४ |
| ८. आप्रायणाधिकरणम्      | ...  | ३३५ |
| ९. तदधिगमाधिकरणम्       | ...  | ३३६ |
| १०. इतरासंश्लेषाधिकरणम् | ...  | ३३७ |

|                                |     |     |
|--------------------------------|-----|-----|
| ११. अनारब्धाधिकरणम्            | ... | ३३८ |
| १२. अग्निहोत्राद्यधिकरणम्      | ... | ३३९ |
| १३. विद्याज्ञानसाधनत्वाधिकरणम् | ... | ३४० |
| १४. इतरक्षपणाधिकरणम्           | ... | ३४१ |

द्वितीयः पादः .... ३४३—३५३

|                         |      |     |
|-------------------------|------|-----|
| १. वागधिकरणम्           | .... | ३४३ |
| २. मनोधिकरणम्           | ...  | ३४४ |
| ३. अध्यक्षाधिकरणम्      | .... | ३४५ |
| ४. आसृत्युपक्रमाधिकरणम् | ...  | ३४६ |
| ५. संसारव्यपदेशाधिकरणम् | ...  | ३४७ |
| ६. प्रतिषेधाधिकरणम्     | .... | ३४८ |
| ७. वागादिलयाधिकरणम्     | ...  | ३४९ |
| ८. अविभागाधिकरणम्       | ...  | ३४९ |
| ९. तदोक्तोधिकरणम्       | ...  | ३५० |
| १०. रश्म्यधिकरणम्       | ...  | ३५१ |
| ११. दक्षिणायनाधिकरणम्   | ...  | ३५२ |

तृतीयः पादः ... ३५४—३६१

|                      |     |     |
|----------------------|-----|-----|
| १. अर्चिराद्यधिकरणम् | ... | ३५४ |
| २. वाय्वाधिकरणम्     | ... | ३५५ |
| ३. तडिदधिकरणम्       | ... | ३५६ |

|                          |      |     |
|--------------------------|------|-----|
| ४. आतिवाहिकाधिकरणम्      | ...  | ३५७ |
| ५. कार्याधिकरणम्         | .... | ३५८ |
| ६. अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् | ...  | ३६० |

चतुर्थः पादः .... ३६२—३६९

|                              |     |     |
|------------------------------|-----|-----|
| १. संपद्याविर्भावाधिकरणम्    | ... | ३६२ |
| २. अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् | ... | ३६३ |
| ३. ब्राह्माधिकरणम्           | ... | ३६३ |
| ४. संकल्पाधिकरणम्            | ..  | ३६४ |
| ५. अभावाधिकरणम्              | ... | ३६५ |
| ६. प्रदीपाधिकरणम्            | ... | ३६७ |
| ७. जगद्धापाराधिकरणम्         | ... | ३६८ |





॥ ॐ ॥

# ॥ शास्त्रदर्पणम् ॥



विद्यारत्नं मयावाप्तं यत्कृपापारवारिधेः ।

तं वन्देऽनुभवानन्दं गुणरत्नाकरं गुरुम् ॥

हरिहरलीलावपुषौ परमेशौ व्यासशंकरौ नत्वा ।

वाचस्पतिमतिविम्बितमादर्शं प्रारभे विमलम् ॥

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

ब्रह्म विचार्य न वेति संदेहः, तद्विचारस्य विषयप्रयोजन-  
संभवासंभवाभ्याम् । तत्र--

जिज्ञास्यं धर्मवद्यद्धि संदिग्धं सप्रयोजनम् ।

नासंदिग्धमनर्थं च घटवत्करटाङ्गवत् ॥

अहंधियात्मनः सिद्धेस्तस्यैव ब्रह्मभावतः ।

तज्ज्ञानान्मुक्त्यभावाच्च जिज्ञासा नोपपद्यते ॥

यद्धि संदिग्धं सप्रयोजनं च, तज्जिज्ञास्यम् । न च आत्मा संदिग्धः, अहंप्रत्ययेन इदं धीगम्येभ्यो देहादिभ्यः पृथक्त्वेन सिद्धेः । अतश्च अहं मनुष्य इत्यादिप्रत्ययाः गृहीतभेदविषय-त्वाद्गौणाः, नाध्यासाः । न च धर्मिणो देहादेरात्मनश्च इतरे-तरानारोपेऽपि तद्धर्माणां जाड्यचैतन्यादीनां धर्मिणोः व्यत्य-स्याध्यासात् तद्वारा आत्मसंदेह इति वाच्यम्, स्वाश्रयाभ्यां विविक्ताभ्यां विप्रकर्षेण धर्मारोपायोगात् । न च स्फटिके कुसुमगतारुणिमवत् विविक्तेऽपि धर्मिणि धर्म्यन्तरधर्मारोपः, तत्र कुसुमस्यैव रूपवतो रूपवति द्रव्ये प्रतिविम्बितत्वात् । आत्मनस्तु नीरूपत्वेन अनात्मनि प्रतिविम्बितत्वस्य अनात्म-प्रतिविम्बाश्रयत्वस्य वा अनुपपत्तेः । तस्मादसंदिग्ध आत्मा । स च बृहत्त्वात् ब्रह्म । न च अस्य अहंप्रत्ययगम्यस्य दुःखि-त्वादिविपरीतं ब्रह्मत्वमुपनिषदोऽवगमयन्तीति युक्तम्, तासां प्रत्यक्षविरोधेन गौणार्थत्वात् । एवम् आत्मज्ञानेऽहंप्रत्यये सत्यपि संसारानिवृत्तेर्निष्प्रयोजनत्वाच्च न तद्विचार्यं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

अत्रोच्यते—

श्रुतिगम्यात्मतत्त्वं हि नाहंबुद्ध्यावगम्यते ।

अविवेकादतो देहाद्यात्मन्यध्यस्तमिष्यताम् ॥

श्रुतिर्हि सच्चिदानन्दैकरसम् एकात्मभूतं ब्रह्म उपक्रमपराम-र्शोपसंहारैकरूप्यात्तात्पर्येणावगमयन्ती नोपचारमर्हति । न च तादृगात्मतत्त्वमहंप्रत्ययोऽवगमयति । अतः तस्य विवेकग्रहण-



मसिद्धम् । न च वर्णादिग्राहकप्रत्यक्षस्य आम्रायोपजीव्यत्वेन प्रथमत्वेन च प्राबल्यात् तज्जातीयाहंप्रत्यक्षमपि प्रबलमिति तद्विरोधादाम्रायो न प्रमाणमिति युक्तम् ; प्रत्यक्षगतार्थक्रियासमर्थवस्तुपरिच्छेदकत्वस्य वेदान्तरूपजीवनात् तस्य च अब्राधनात् प्रत्यक्षगततत्त्वावेदकत्वस्याभ्रायेनानुपजीवनात् सांव्यवहारिकप्रमाणसिद्धस्यापि वर्णदैर्घ्यादेः अगमनमागमनमित्यादौ तत्त्वपरिच्छेदहेतुत्वात् ; प्राथम्यमात्रं तु प्रत्यक्षस्य परेण निरपेक्षेणाम्रायजन्यज्ञानेन बाध्यत्वमेवावगमयति । तदुक्तम्—  
 ‘पूर्वं परमजातत्वादबाधित्वैव जायते । परस्यानन्यथोत्पादादाद्यबाधेन संभवः’ इति । वादिभिरप्यस्य भ्रान्तत्वं मन्तव्यम् ।  
 तथा हि—

सर्वगतत्वे परिच्छेदधीर्भ्रमोऽणुत्व आत्मनः ।

स्थूलादिधीर्मृषा देहमितत्वे स्यादनित्यता ॥

सर्वगतत्वे आत्मनः अहमिहास्मि सद्ने जानान इति परिच्छेदप्रतीतिः भ्रमः स्यात् । न चेदं देहस्य प्रादेशिकत्वं गृह्यते नात्मन इति युक्तम्, तथा सति अहमित्युल्लेखायोगात् । न च अहं-शब्दो देहे उपचरितः, उपचरितात्मभावस्य देहस्य ज्ञातृत्वायोगेन जानान इति प्रयोगायोगात् । न च ज्ञातृत्वमप्युपचर्येत, स्वज्ञानप्रकाशने वक्तुस्तात्पर्यात् । तस्माद्देहगतपरिच्छेद आत्मन्यध्यस्यते । अणुत्वे आत्मनः स्थूलोऽहं दीर्घ इति न स्यात् । निदाघदूनदेहस्य नीरनिमग्नस्य स्वदेहव्यापिसुखसाक्षात्कारानुपपत्तिश्च स्यात् । देहपरिमाणत्वे स्वपरिच्छे-

दोह्येख्यहंप्रत्ययस्य स्यात्प्रमात्वम् । किं तु सावयवस्यात्मनो  
भवेदनित्यत्वम् । विज्ञानमात्रालम्बनत्वेऽपि अहंप्रत्ययस्य अभ्रा-  
न्तत्वं न स्यात्, यः सुपुत्रः सोऽहं जागर्मीत्यादेः स्थिरवस्त्वव-  
गाहित्वात् ।

तत्कृतत्वादहंबुद्धेरविवेकप्रकल्पनात् ।

अहं मनुष्य इत्यादिधीरध्यस्तात्मगोचरा ॥

देहादेरात्मनश्चैवमैक्येऽध्यस्ते भवेद्भ्रमः ।

दुःखानन्दादिधर्माणां व्यत्यासेन हि धर्मिणोः ॥

तथा च अहं मनुष्य इत्यादिव्यपदेशो धर्मिणोरैक्याध्यास-  
कृतः । ममेदं दुःखमित्यादिव्यपदेशोऽपि धर्माध्यासजनितः  
इति न गौणः । न च अद्वैतमते नैकस्याविवेकः, द्वयोर्हि  
शुक्तिरजतादावविवेक इति वाच्यम्; समारोपसिद्धद्वितीय-  
स्याभ्युपगमात् । न च आरोपे द्वितीयप्रतीतिः प्रतीतौ च आरोप  
इति इतरेतराश्रयः शङ्क्यः, पूर्वपूर्वाध्याससिद्धस्य देहादेः सं-  
स्कारारूढस्योत्तरोत्तराध्यासोपयोगित्वेन बीजाङ्कुरवदनादित्वे-  
नाभ्युपगमात् । उपपादितं चैतद्वेदान्तकल्पतरौ । एवमात्मनः  
संदिग्धत्वम् ।

अहंप्रत्ययजं दुःखमपोह्यानन्दमद्वयम् ।

आत्मानं दर्शयन्ती च श्रुतिः स्यात्सप्रयोजना ॥

न च आरोप्यस्य देहादेरसत्त्वादप्रतीतिः गगनकमलवत्,  
तथा च नारोप इति वाच्यम्; मरीचिसलिलात्मवदुपपत्तेः ।

एवं सदेव भातीति व्याप्तौ भग्नायां मरीचिषु सलिलं स्वरूपे-  
णापि न सत् बाध्यमानत्वात् नाप्यसत् अपरोक्षत्वात् इत्यनि-  
र्वाच्यम् । तथा देहाद्यपीति । अध्यासलक्षणं तु परत्रासंनिहि-  
तस्य परस्यावभास इति । अत्र परत्र परस्यावभास इत्युक्ते  
द्वारवत्यां दृष्टस्य चैत्रस्य वाराणस्यामवभासे प्रत्यभिज्ञायाम्  
अतिव्याप्तिरित्यसंनिहितेत्युक्तम् । असंनिहितावभास इत्युक्ते  
स्मृतावतिव्याप्तिर्मा भूदिति परत्रेत्युदितम् । असंनिहितत्वं च  
आरोप्यस्याधिष्ठाने परमार्थतोऽसत्त्वं न देशान्तरादौ सत्त्व-  
मिति नापराद्धान्तः ।

अथवा संनिधानेन सत्ख्यातिरिह वारिता ।

अवभासादसत्ख्यातिर्नृशृङ्गे तददर्शनात् ॥

न च निरंशे स्वप्रकाश आत्मनि सर्वात्मनावभासादध्या-  
सायोगः । पूर्वपूर्वाहंप्रत्ययतत्संस्काराभ्यां विषयीकृतस्य आ-  
त्मनः काल्पनिकसांशत्वप्रतीत्या प्रतीतिवशादधिष्ठानत्वसंभ-  
वात् । अस्य सूत्रस्य वेदान्तैर्विचारापेक्षैरपेक्षणात्संगतिः ।  
स्वाध्यायविधिवच्च स्वेतरविचारप्रयोजकत्वाच्छास्त्रान्तर्भावः ।  
एतदपेक्षत्वाच्च सर्वशास्त्रस्य प्रथमाध्यायप्रथमपादाभ्यां संग-  
तिरिति ॥

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

‘यतो वा’ इत्यादिवाक्यं ब्रह्मलक्षणप्रतिपादकं न वेति  
लक्षणस्य प्रसिद्धयप्रसिद्धिभ्यां संशयः । जिज्ञास्यब्रह्मलक्षण-

माक्षिप्य समाधीयते । तत्र—

विरोधाद्ब्रह्मणा तस्य न जगद्वक्ष्यं मतम् ।

शुद्धानन्ददिकं नापि तस्य लोकाप्रसिद्धितः ॥

अत्रोच्यते—

जगत्कारणता ब्रह्मलक्षणं स्रग्भुजङ्गवत् ।

जीवाज्ञातपरब्रह्मविवर्तश्च जगन्मतम् ॥

एवमुपलक्षणसिद्धिः—

सिद्धः सत्यादिशब्दानामर्थो लोके तदेकता ।

सामानाधिकरण्येन लक्षणातोऽवबोध्यते ॥

‘सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ इत्यत्र सत्यादिशब्दैर्जातिव-  
चनैः एकानन्दव्यक्तिर्लक्ष्यते । सत्यत्वज्ञानत्वयोः परापरभाव-  
वत् आनन्दत्वस्य च ज्ञानत्वापरजातित्वाभावात् कथमान-  
न्दत्वाधारस्य ज्ञानत्वाधारत्वमिति चेत्, शृणु । आनन्दत्वं  
ज्ञाननिष्ठम् आनन्दनिष्ठत्वात् सत्त्ववत् । न च जातिव्यक्ति-  
भेदादानन्दपदबोधिताद्वैतहानिः, एकस्मिन्नपि तत्त्वे कल्पित-  
भेदेन जातिकल्पनोपपत्तेः । तस्मात्स्वरूपलक्षणमपि सिद्धम् ।

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

‘अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्वेदः’ इत्यादि-  
वाक्यं ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वेन सर्वज्ञत्वं न साधयति उत साध-  
यतीति सकर्तृकत्वे वेदस्य सापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्यां संशयः ।

जगत्कारणत्वसामर्थ्यासिद्धमेव ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं शास्त्रकर्तृत्वे-  
नापि समर्थ्यते । शास्त्रकर्तृत्वहेतुसमर्थकन्यायभेदाच्च अधि-  
करणान्तरत्वम् । तत्र—

अर्थद्रष्टा कृतो वेदः सापेक्षत्वेन दुष्यति ।

सिद्धं तद्वयाहरद्रह्य सार्वज्यं न प्रपद्यते ॥

इति प्राप्ते, उच्यते—

कर्त्रपि ब्रह्म वेदस्य न पूर्वक्रमतोऽन्यथा ।

क्रमं करोति वाग्वज्रपातो मा भून्नृणामिति ॥

वर्णनित्यत्ववादेऽपि पदवाक्यादिविभागः क्रमकृतः । क्रम-  
श्च स्वाभिव्यक्तिकारित इति सकर्तृकत्वं वेदस्य तुल्यम् ; उपा-  
ध्यायकृताभिव्यक्तितुल्यत्वात् माणवककृताभिव्यक्तीनां क्र-  
मवतीनां वेदनित्यता वाच्या । तस्मात् नृत्यानुकरणवद्वेदानु-  
करणम् । यादृशं हि नृत्यं शिक्षयन्नर्तको गात्रचालनादि करो-  
ति, तादृशमेव तत् शिक्ष्यमाणा अनुकरोति नर्तकी । अन्यथा-  
करणे च तस्या निग्रहः । एवं सर्वज्ञः सर्वशक्तिरपि सन्  
ईश्वरः क्रमान्यत्वे वाग्वज्रत्वेन प्राणिनां दुरितं स्यादिति तद-  
भावाय पूर्वपूर्वक्रमसदृशक्रमवन्तमुत्तरमुत्तरं वेदं रचयति ।  
रचनातः प्राक्च संस्कारारूढनियतक्रमवतोऽर्थसहितस्य वेद-  
स्य युगपदीश्वरेण ज्ञानान् नोपलब्धिपूर्वकरचना वेदानाम् ।  
अतो न सापेक्षता । युगपच्च शब्दतदर्थज्ञानाच्च सर्वज्ञत्वम् ;  
स्वकृतक्रमानुरूपेण च उत्तरक्रमरचनान् न उपाध्यायतुल्यत्व-

मीश्वरस्य ; सर्वे ह्युपाध्याया उपाध्यायान्तरकृतक्रममनुरुन्ध-  
न्ति । प्रयोगोऽपि, वेदः वेदकर्तृत्वे सति असर्ववित्त्वर-  
हितकर्तृकः, कार्यत्वात् घटवत् । कुलालस्यासर्ववित्त्वेऽपि  
वेदकर्तृत्वविशिष्टासर्ववित्त्वरहित्यमस्येव ; वेदकर्तृत्वाभावात्,  
विशेषणाभावे विशेष्याभावे च विशिष्टाभावात् । ततः स-  
साध्यः सपक्षः । न च वेदकर्तृत्वे सति असर्ववित्त्वरूपप्रतियो-  
ग्यप्रसिद्धौ तदभावाप्रसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणत्वम् । उक्तेन मार्गे-  
ण उपाध्यायादेर्वेदकर्तृत्वे सति असर्ववित्त्वरसिद्धेः । न चैवं  
कार्यत्वादिति हेतोः तत्कृतवेदे व्यभिचारः, पक्षसमत्वेनादोष-  
त्वात् । सर्वोपसंहारेण प्रवृत्तिव्याप्तिबलादीश्वरमादाय तत्रापि  
साध्यपर्यवसानात् । उपाध्याये यदि विशिष्टाप्रसिद्धिः, तदा  
किं वेदकर्तृत्वरहित्याद्वा असर्ववित्त्वरहित्याद्वा ? आद्ये, वेद-  
कर्तृत्वरहितकर्तृत्वं वेदे अव्याहतम् ; द्वितीये, वेदस्य सर्ववित्क-  
र्तृत्वसिद्धिरिति ॥

अपरः प्रकारो वर्ण्यते । ‘तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि’  
इत्यादिवाक्यं ब्रह्मणो वेदैकगम्यत्वं समर्थयेन् न वेति कार्यत्व-  
लिङ्गस्य कारणविशेषपर्यवसानापर्यवसानाभ्यां संशयः । पूर्वं  
जगत्कारणत्वेन ब्रह्म लक्षितम् । तत्र प्रमाणविशेषश्चिन्त्यते ।  
तत्र—

बुद्धिमत्कर्तुरीशस्य जगत्कार्येण लिङ्गनात् ।

लाघवात्तस्य चैकत्वे सर्वज्ञत्वादि सिध्यति ॥

विमतं सकर्तृकं कार्यत्वान् घटवदिति सिद्धे कर्तरि स

एकोऽनेको वेति संदेहे, कल्पनालाघवादेकः, स च बुद्धैव सकलं जगत्करोतीति सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सिध्यतीति वेदान्ता न विचारणीयाः । किं तु अनुमानमेव विचार्यमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

अक्षागम्ये जगद्धेतौ न विशेषानुमोदयः ।

सामान्यतो दृष्टमपि न विशेषार्पणक्षमम् ॥

न तावदप्रत्यक्षं ब्रह्म अग्निवद्विशेषतोऽनुमातुं शक्यम् ; कार्यमात्रं तु कर्तृमात्रं गमयति । न च लाघवात्तदेकत्वनिर्णयः, विचित्रप्रासादादेरनेककर्तृकत्वस्यापि दृष्टत्वेन निश्चेतुमशक्यत्वान् । तथा च कर्तुः न सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वनिर्णयः । वेदान्तेषु यत इत्येकवचननिर्देशादेककर्तृकत्वं सिध्यतीति सर्वज्ञत्वादिनिश्चयः । तस्माद्वैकगम्यं ब्रह्मेति ॥

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ इत्येवमादयो वेदान्ता ब्रह्माणि प्रमाणं न वेति, सिद्धवस्तुबोधात्फलभावाभावाभ्यां वा, सिद्धं रूपादिहीनं वस्तु बोधयतो वाक्यस्य मानान्तरसापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्यां वा संशयः । शास्त्रैकगम्यत्वं ब्रह्मण उक्तम्, तदाक्षिप्यते । अथवा जगत्कारणत्वेन ब्रह्म लक्षितम्, अर्थसिद्धं च सर्वज्ञत्वं शास्त्रकर्तृत्वेन दृढीकृतम् । तादृशे ब्रह्माणि न तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणं संभवति । नापि शास्त्रं तत्र प्रमाणमित्याक्षिप्यते । तथा हि—

सिद्धार्थत्वे फलाभावात्पौरुषेयत्वसक्तितः ।

ब्रह्मोपास्तेर्विधातारो वेदान्ता इति गम्यते ॥

प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्ये हि सुखावाप्तिदुःखनिवृत्ती । न च सिद्धे वस्तुनि प्रवृत्तिनिवृत्ती भवत इति तत्परत्वे वेदान्तानामप्रयोजनत्वम् । सिद्धं वस्तु प्रमाणान्तरेण दृष्ट्वा पुरुषाणां तत्र वचनरचनसंभवात् वाक्यत्वादिहेतुभिः वेदान्तानां पौरुषेयत्वं प्रसज्यमानं न निवारयितुं शक्यम् । अतः सापेक्षत्वं प्रामाण्यस्य स्यात् । कार्यपरत्वे तु कार्यस्य मानान्तरायोग्यत्वात् अदृष्टचरे वचनरचनानुपपत्तेः न पौरुषेयत्वमनुमातुं शक्यमिति अनपेक्षत्वलाभः । तस्मात् ब्रह्मात्मत्वोपास्तिपरत्वं वेदान्तानाम् । एवं च जीवब्रह्मभेदग्राहिप्रमाणैरविरोधः । आरोपेणाप्युपास्तिविधिसंभवादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

अवोधादनवाप्तस्य ब्रह्मानन्दस्य बोधतः ।

लाभादलौकिकत्वाच्च तस्य वेदान्तमेयता ॥

उपक्रमोपसंहाराभ्यां तावद्वेदान्तानामद्वैतब्रह्मपरत्वमवगम्यते । तद्यथा ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ इत्युपक्रम्य ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि’ इत्युपसंहारात् । न च अप्रयोजनत्वम् । आनन्दरूपब्रह्मण आत्मत्वसाक्षात्कारादेव तदज्ञानवाधेन तदवाप्तेः समस्तदुःखवाधाच्च । न च सिद्धार्थत्वे वेदान्तानां नदीतीरफलसत्तावाक्यवत् पौरुषेयत्वम् । ब्रह्मात्मत्वस्य मानान्तरायोग्यत्वेन तत्र वचनरच-



नानुपपत्तेः । कार्यार्थत्वेऽपि चैत्यवन्दनादिवाक्यवत् तदापत्ते-  
र्दुर्वारत्वात् । कर्तृस्मरणास्मरणाभ्यां विशेषे ताभ्यामेव सिद्धा-  
र्थवेदान्तानामपि पौरुषेयत्वानापत्तेः । न च जीवस्य ब्रह्मात्मत्वे  
मानान्तरविरोधः, आत्मकर्तृत्वादिविबोधकाहंप्रत्ययमिध्यात्वस्यो-  
क्तत्वात् । अतः न श्रुतार्थत्यागेन अश्रुत उपास्तिविधिः कल्प-  
नीय इति ॥

अपरः प्रकारः । पूर्वत्र हि, सिद्धार्थेऽपि प्रमाणान्तरपर-  
तन्त्राणां पौरुषेयवाक्यानां प्रामाण्यमङ्गीकृत्य वेदान्तेषु कार्य-  
विषयतामन्तरेण न नैरपेक्ष्यपुरुषार्थपर्यवसाने लभ्येते इति  
पूर्वः पक्षः ब्रह्मात्मैक्यस्य प्रमाणान्तरागम्यत्वेन तदवगममा-  
त्रात्प्रयोजनलाभेन च निरस्तः । इदानीं सिद्धे पदव्युत्पत्त्य-  
भावादिभिः न सिद्धं शब्दप्रमेयम्; अतः वेदान्ता उपासन-  
नियोगपरा इत्याशङ्क्यते । अथवा आरोपितब्रह्मभावस्य जीव-  
स्य उपास्तिपरा वेदान्ताः न ब्रह्मात्मत्वे प्रमाणमिति पूर्वं पूर्वः  
पक्षः ।

अयं तु सन्तु वेदान्ता मानं ब्रह्मात्मवस्तुनि ।

किं तु ज्ञानविधिद्वारेत्येष भेदः प्रतीयते ॥

सदेवेत्यादिवेदान्ता विधेयप्रतिपत्तिविषयत्वेन ब्रह्म प्रमि-  
मते उत साक्षादिति, सिद्धे शब्दस्य व्युत्पत्त्यभावभावाभ्यां  
संशयः । शास्त्रप्रमाणकत्वमुक्तं ब्रह्मणः, तद्रूपविशेषश्चिन्त्यते ।  
तत्र सिद्धे वस्तुनि शब्दानाम्—

अज्ञातसंगतित्वेन शास्त्रत्वेनार्थवत्तया ।

मननादिप्रतीत्या च कार्यार्थाद्ब्रह्मनिश्चयः ॥

सिद्धं वस्त्वप्रयोजनं न श्रोत्रा प्रतिपित्सितं नापि वक्त्रा प्रतिपिपादयिषितमिति न तत्र वाक्यप्रयोगः । न च शब्दप्रयोगाविषये व्युत्पत्तिग्रहः । न च सिद्धस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यगोचरत्वात् तदवगमः मध्यमवृद्धप्रवृत्त्या बालेनानुमातुं शक्यते । अबुद्धा तदवगमं शब्दस्य तज्जनकत्वशक्तिर्न शक्यग्रहा । शास्त्रत्वाच्च वेदान्तानां नियोगपरत्वम्, प्रवर्तकवचनस्य शास्त्रत्वप्रसिद्धेः । तदुक्तम्— ‘प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते’ इति । वेदान्तैः सिद्धब्रह्मप्रतिपादने च न प्रयोजनं दृश्यते । रज्जुरेषेत्यादिसिद्धबोधे भयनिवृत्तिर्दृष्टेति नोदाहरणम् । यदि च ब्रह्मबोधमात्रान्मोक्षः, तर्हि श्रवणेनैव तत्सिद्धेर्मननादिविधिर्न स्यात् । तस्मात् ब्रह्मोपास्तिविधिपरा वेदान्ताः विधेयोपास्तिविषयत्वेन ब्रह्म गमयन्ति । मोक्षश्च उपास्तिफलं विध्यवगम्यः इति प्राप्ते, उच्यते—

कार्यबोधे यथा चेष्टा लिङ्गं हर्षादयस्तथा ।

सिद्धबोधेऽर्थवत्तैवं शास्त्रत्वं हितशासनात् ॥

न तावत्कार्यबोध एव मध्यमवृद्धवर्तिप्रवृत्तिलिङ्गेनावगन्तुं शक्यः न सिद्धबोध इति नियमः, पुत्रस्ते जात इति पटवासोपायनार्पणपुरःसरमभिहितवति वार्ताहरे तेन सह समाग-

तस्य बालस्य प्रतिपन्नपितृप्रमोदहेतुभूतपुत्रजन्मनः पितृमुख-  
 विकासादिना तदीयहर्षमनुमिन्वतः हर्षेण च हर्षहेतुबोधं कल्प-  
 यतः हर्षहेतुबोधे पुत्रस्ते जात इति वाक्यस्य जनकत्वशक्ति-  
 ग्रहात्, प्रयोगभेदेषु च आवापोद्वापाभ्यां प्रतिपदं शक्यवग-  
 मात् । एवं च सिद्धार्थवाक्यस्याप्यर्थवत्ता, पुत्रजन्मवाक्यादेव  
 पितृहर्षोत्पादात् । शास्त्रत्वं तु वेदान्तानां हितब्रह्मबोधकत्वा-  
 दुपपन्नम् । न च ब्रह्मबोधो निष्प्रयोजनः, ब्रह्मसाक्षात्कारे प-  
 रमानन्दब्रह्माभिव्यक्तेः सर्वदुःखोच्छेदाच्च । मननादेस्तु श्रवण-  
 वदवगत्यर्थत्वात् अवगतेश्च दृष्टफलत्वात् अवगतब्रह्मणश्च अपू-  
 र्वानुपयोगात् न उपास्तिविधिकल्पकत्वम् । उपास्तिसाध्यत्वे  
 च मोक्षस्य अनित्यत्वापत्तिरिति ॥

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ ‘तदैक्षत बहु  
 स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत’ इति, तथा ‘यः सर्वज्ञः  
 सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च  
 जायते’ इति समामनन्ति । तत्र यदीक्षितु सर्वज्ञं जगदुपादानं  
 तच्चेतनमचेतनं वेति ज्ञानज्ञातृत्वाभ्यां संशयः । ज्ञानं हि चेतन-  
 स्वरूपे न संभवति । ज्ञानकर्तृत्वं च व्यापारवत्यचेतन इति ।  
 पूर्वं सर्वज्ञे जगत्कारणे समन्वयप्रदर्शनेन चेतनं तदित्युपक्षि-  
 तम् ; तदाक्षिप्यते—

ज्ञानक्रियाशक्त्यभावाद्ब्रह्मणोऽपरिणामिनः ।

न सर्वशक्तिविज्ञाने प्रधाने त्वस्ति संभवः ॥

न तावत्स्वरूपचैतन्येन ब्रह्मणः सर्वज्ञता, जीवानामपि तदापत्तेः । तस्मात्सर्वविषयज्ञानपरिणामेन सर्वज्ञत्वम् ; सर्वोत्पादनक्रियाशक्तियोगाच्च सर्वशक्तित्वम् । न च सर्वजननशक्तिसर्वविषयज्ञानयोर्ब्रह्मणि संभवः, तस्य ज्ञानक्रियाशक्त्यभावात्—ज्ञानक्रिययोः शक्ती ज्ञानक्रियाशक्ती, तयोरभावादित्यर्थः । यस्य हि किञ्चिन्मात्रजननशक्तिः किञ्चिन्मात्रज्ञानशक्तिर्वा न संभवति, कुतस्तस्य सर्वजननशक्तिसर्वविषयज्ञाने भवेताम् ? शक्तिद्वयाभावे हेतुः अपरिणामित्वम् । कार्योन्नेया हि शक्तिः ; कार्ये च ज्ञानक्रिये नास्य स्तः अपरिणामित्वादित्यर्थः । त्रिगुणे तु प्रधाने सत्त्वपरिणामज्ञानसंभवात् जगत्परिणामसंभवाच्च सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वयोरस्ति संभव इति । अथवा ब्रह्मणः कारणत्वेक्षितृत्वयोरसंभवात् 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यादिगौणैक्षणसंनिधेश्च प्रत्यासन्नसर्गत्वनियतकार्यकर्तृत्वाभ्यां गुणाभ्यां प्रधानस्य ईक्षितृत्वमुपपद्यत इति प्राप्ते, अभिधीयते—

दृश्यावच्छिन्नरूपेणानित्यां दृष्टिमपीश्वरः ।

करोतीति स सर्वज्ञो न प्रधानमचेतनम् ॥

ऐक्षतेत्यत्र प्रकृत्यर्थस्तावत् ब्रह्मस्वरूपम् । अस्यैव विषयावच्छिन्नचैतन्यं कादाचित्कमिति तत्प्रति कर्तृत्वाद्ब्रह्मणि प्रत्ययार्थोऽप्युपपन्नः । न च अव्याकृतनामरूपावच्छिन्नचैतन्यस्य

प्रलयसमयादारभ्य सत्त्वात् न सृष्टिनियामकत्वमिति वा-  
 च्यम्, प्राणिकर्मविपाकावसरावच्छिन्नस्य तदुपपत्तेः । न  
 चैवमुपाध्यपेक्षं ज्ञातृत्वममुख्यमिति वाच्यम्, मुख्यस्यान्यस्या-  
 संभवात् । न तावदात्मनः परिणामो गुणो वा ज्ञानं ज्ञातृत्वं  
 च ज्ञानाकारपरिणामित्वं तदाश्रयत्वं वेति युक्तम्, आत्मस्व-  
 प्रकाशत्वसमर्थनादेवोभयविधज्ञातृत्वस्यासंभवात् । तस्मात्  
 व्यापारवत्या बुद्धेश्चैतन्यारोपेण वा बुद्धयवच्छिन्नचैतन्यस्य  
 प्रतिविम्बत्वेन बुद्धिगतव्यापारारोपेण वा आत्मनि ज्ञातृत्वं  
 भवद्विरभ्युपेयम् । अतः सर्वत्रावास्तवं ज्ञातृत्वमिति ब्रह्मण्य-  
 प्यौपाधिकज्ञातृत्वस्य न गौणत्वम् । न च गौणेक्षणप्रायपा-  
 ठादौणत्वम् । संशये प्रायपाठस्यानिश्चायकत्वात् इह च मुख्य-  
 गौणयोर्मुख्यस्यैव निश्चयात् । न च सत्त्वपरिणाम एव ज्ञानम्,  
 तत्कर्तृत्वं च ज्ञातृत्वं मुख्यमस्ति प्रधानस्येति युक्तम् । सत्त्वस्य  
 जडत्वेन ज्ञातृत्वानुपपत्तौ तत्परिणामस्यापि ज्ञानत्वानुपपत्तेः ।  
 न च स्वच्छस्य सत्त्वस्य ज्ञानप्रतिविम्बधारित्वमेव ज्ञातृत्वम्,  
 सत्त्वप्रधानानामिन्द्रियाणां ज्ञातृत्वाभावात्, ज्ञातृत्वस्य च  
 आत्मधर्मत्वप्रसिद्धेः । तस्माद्ब्रह्मैव सर्वज्ञमीक्षितृ, न प्रधानम् ।  
 तस्य च अपरिणामिनोऽपि शुक्तिवज्जगद्विवर्ताधिष्ठानत्वेन  
 सर्वशक्तिमत्त्वमभ्युपपन्नम् । न च प्रधानं परमाणवो वा  
 जगदुपादानम् ईक्षिता तु उपादानातिरिक्त ईश्वर इति युक्तम् ।  
 'तदैक्षत बहु स्याम्' इति ईक्षितुरेव कार्याभेदप्रतीतेरुपादा-  
 नत्वनिश्चयादिति ॥

## आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ ६ ॥

तैत्तिरीयकेऽन्नमयं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयं चानु-  
क्रम्यान्नायते 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा-  
नन्दमयः' इति । तत्रैकदेशिमतेनाधिकरणं रच्यते । तत्रान-  
न्दमयो जीव उत ब्रह्मेति मयटो विकारप्राचुर्ययोः साधारण-  
त्वात्संशयः । तत्र—

गौणप्रवाहपातेऽपि युज्यते मुख्यमीक्षणम् ।

मुख्यत्वे तूभयोस्तुल्ये प्रायदृष्टिर्विशेषिका ॥

अवादिगौणेक्षणप्रवाहपातेऽपि जगत्कारणे ईक्षणं मुख्य-  
मिति युज्यते, मुख्यसंभवे गौणस्यानवकाशत्वात् । अतः तत्र  
संशयानुदये प्रायपाठोऽकिञ्चित्करः । इह तु मयटो विकार-  
प्राचुर्ययोरुभयोर्मुख्यत्वे सति विकारार्थग्रहणेऽन्नमयादिविका-  
रप्रायदृष्टिः विशेषिका प्राचुर्यार्थात् व्यावर्तिका । एवं च पूर्वा-  
धिकरणसिद्धान्ताभावेन पूर्वपक्षोत्थानात् प्रत्युदाहरणलक्षणा  
संगतिः । ननु युक्तमन्नविकारे देहे मयटो विकारार्थत्वम् । प्रा-  
णमयादेस्तु प्राणादिविकारत्वाभावात् न विकारप्रायदृष्टिरिति  
स्वार्थिक एव मयडिति तत्र । प्राणाद्युपाध्यवच्छिन्नस्यात्मनः  
प्राणादिविकारत्वात् अन्नात्मकदेहावच्छिन्नस्य आत्मन एव  
अन्नमयत्वम्, 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इति प्रकृता-  
त्मानं परामृश्य तस्य अन्नरसमयत्वाभिधानात्, सत्यां च गतौ  
प्राणमयादौ मयटः स्वार्थिकत्वायोगात् । न च सर्वान्तरत्वलि-

ङ्गाद्विकारसंनिधिबाध इति युक्तम्, तस्याश्रुतत्वान् । न च आनन्दमयादप्यान्तरवस्त्वनुपदेशादर्थदयमेव सर्वान्तर इति सांप्रतम्, विज्ञानमयान्तकोशापेक्षया आन्तरत्वेऽस्यावगते सति आनन्दमयादान्तरस्यानिवारणान् । बलवान्देवदत्तो यो यज्ञदत्तादीन्प्रसह्य वर्तते इत्युक्ते हि यज्ञदत्तापेक्षमेव देवदत्तस्य बलवत्त्वमवगम्यते, न तु सिंहशार्दूलादीनपि प्रति । प्रियाद्यवयवत्वलिङ्गात् शारीरश्रुतेश्च जीव एवानन्दमय इति तदुपास्तिपरं वाक्यम् । कलं तु दुःखरहितप्रियादियुक्तजीवात्मनावस्थानमिति प्राप्ते, उच्यते—

अत्रानन्दमयोऽभ्यासात्प्रतिपाद्यः प्रतीयते ।

प्रत्यक्षस्य न जीवस्य वेदान्तैः प्रतिपादना ॥

अभ्यस्यते हि—‘यदेष आकाश आनन्दो न स्यादेष ह्यवानन्दयाति’, ‘सैषानन्दस्य मीमांसा भवति’ इत्यादि । न चायं पुच्छब्रह्मणोऽभ्यास इति युक्तम्, तस्यावयवत्वेनाङ्गत्वात्प्रधानत्वाच्चानन्दमयस्यानन्दमयवाक्येन प्रतिपादनात् । तथा च तं प्रक्रम्यानन्दप्रातिपदिकाभ्यासस्तस्यैव । यथा ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य ‘वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत’ इत्यत्र ज्योतिःपदेन ज्योतिष्टोमाभ्यासः । न च विकाराणां संनिधिपठितत्वादयमपि विकार इति मन्तव्यम् । तेषामेतत्प्रतिपत्त्यङ्गत्वेन तत्संनिधेरन्यथासिद्धत्वेन प्रधानस्याङ्गानुरोधेन विकारत्वानुपपत्तेः । न चायमप्येतदभ्यन्तरस्य कस्यचित्प्रतिपत्त्युपाय इति वाच्यम्, एतस्मादान्तरस्याश्रुतत्वान् । बलवत्युक्तेऽपि देवदत्ते सिंहादे-

स्ततोऽपि बलवत्त्वं मानान्तरावगतमिति देवदत्तबलवत्त्वमापेक्षिकम् । आनन्दमयादान्तरे तु नास्ति मानान्तरम्, न च श्रुतिरिति विशेषः । एवं च सर्वान्तरत्वलिङ्गाद्विकारसंनिधेर्बाधान्यथासिद्धी उक्ते प्रियाद्यवयवत्वशारीरत्वे चौपाधिके । तस्माद्ब्रह्मैवानन्दमय इति ॥

स्वमतेनाधिकरणं वर्ण्यते—

### आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ ७ ॥

ब्रह्म किमानन्दमयस्यावयवः उत स्वप्रधानमिति पुच्छ-  
ब्रह्मशब्दाभ्यां संशयः । पूर्वत्र मुख्येक्षणात् ब्रह्मनिर्णयेन  
गौणेष्वक्षणाप्रायपाठो बाधितः । इह तु पुच्छशब्दस्य लाङ्गूले  
रूढस्य अवयवमात्रपरत्वाधारमात्रपरत्वे च तुल्ये लाक्षणिकत्वे  
सति अवयवप्रायपाठात् तत्तत्समभिव्याहृतं ब्रह्म आनन्दमयाव-  
यव इति संगतिः । न च पुच्छशब्दस्याधारमात्रपरत्वेऽप्यस्ति  
ब्रह्मशब्दसमभिव्याहार इति युक्तम्, विशेष्यानन्दमयं प्रत्य-  
ङ्गत्वेन ब्रह्मणोऽवयवत्वप्रतीतेः । तत्रैकदेशिमतसिद्धान्त-  
रूपपूर्वपक्षे प्राप्ते, सिद्धान्तः—

सर्वान्तरत्वमानन्दमयस्यासिद्धमाह हि ।

तस्मादध्यान्तरं ब्रह्म ब्रह्म पुच्छमिति श्रुतेः ॥

यत्तु अवयवत्वेन ब्रह्म समर्प्यते न स्वप्रधानत्वेनेति, नेति  
ब्रूमः । न तावदवयवव्यानन्दमयो वाक्यात्प्रधानोऽवगतः, येन



तस्य ब्रह्मावयवोऽङ्गमिति युक्तम्, ब्रह्मश्रुतेर्ब्रह्मप्राधान्यावग-  
मात्, वाक्याच्च श्रुतेर्वलीयस्त्वात् । अपि च—

प्रायपाठपरित्यागो मुख्यत्रितयलङ्घनम् ।

पूर्वास्मिन्नुत्तरे पक्षे प्रायपाठस्य बाधनम् ॥

आनन्दमये हि ब्रह्मण्याश्रीयमाणे मयटो विकारप्रा-  
यपाठः परित्यक्तः स्यात् । मयट् विकारे मुख्यः, न अविकारे  
ब्रह्मणि । न च प्राचुर्यार्थत्वम्, दुःखाल्पत्वस्यापि प्रसङ्गात् ।  
न च प्रचुरप्रकाशः सवितेत्युक्ते यथा तमसोऽनुवृत्तिर्न प्रती-  
यते एवमिहेति वाच्यम्, तत्रापि शब्दबलाद्विरोध्यनुवृत्ति-  
प्रतीतेः । मानान्तरेण तु तदभावावगमे प्राचुर्यमल्पत्वनिवृत्ति-  
परं कल्प्यते । तस्मान्मयडर्थस्य मुख्यस्य त्यागः । एवमान-  
न्दाभ्यासोऽप्यानन्दे मुख्यस्यज्येत । ब्रह्मशब्दोऽपि निर्विका-  
रब्रह्मणि मुख्योऽतिलङ्घितः स्यात् । एवं पूर्वपक्षे प्रायपाठप-  
रित्यागो मुख्यत्रितयलङ्घनं च स्यात् । सिद्धान्ते तु पुच्छ-  
शब्दावयवप्रायपाठमात्रं बाध्यते । तच्च तुल्यं विकारप्राय-  
पाठवाधेन अनुगृह्यते तु मुख्यत्रितयम् । तस्मात्सिद्धं स्वप्रधानं  
ब्रह्मेति ॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ ८ ॥

इदमाम्नायते—‘य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते  
हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आग्रणखात्सर्व एव सुवर्णः तस्य यथा  
कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः

पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद...  
 इत्यधिदैवतम्' 'अथाध्यात्मम्...य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो  
 दृश्यते' इत्यादि। तत्र किं हिरण्यमयः पुरुषः आदित्यदेवता उत  
 सर्वेश्वर इति रूपवत्त्वादेः सर्वपापविरहसर्वात्मत्वाभ्यां च सं-  
 शयः। पूर्वत्र मुख्यत्रितयादिवहुप्रमाणवशात् ब्रह्म स्वप्रधानमि-  
 त्युक्तम्। एवमिहापि रूपवत्त्वादिवहुप्रमाणानुसारेण सार्वा-  
 त्म्यसर्वपापविरहलिङ्गे नीत्वा संसारी हिरण्यमयो व्याख्येयः।  
 तथा हि—

मर्यादाधाररूपाणि संसारिणि परे न तु।

तस्मादुपाख्यः संसारी कर्मानधिकृतो रविः॥

हिरण्यमश्रुत्वादिरूपश्रवणात्, य एषोऽन्तरादित्ये य एषो-  
 ऽन्तरक्षिणि इति च अधिकरणभेदश्रवणात्, 'ये चामुष्मात्परा-  
 ञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां ये चैतस्मादूर्वाञ्चो लोका-  
 स्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' इत्यैश्वर्यमर्यादाश्रुतेश्च संसार्या-  
 दित्य उपास्यः। तस्य च देवत्वेन कर्मानधिकारात्सर्वपाप्मभ्य  
 उदय उद्गमनम्, तस्य स्तुतित्वेन 'ऋक्च साम च गेष्णो'  
 इत्यादिसार्वात्म्यनिर्देशश्चोपपन्नाविति प्राप्ते, उच्यते—

सार्वात्म्यसर्वदुरितविरहाभ्यामिहोच्यते।

ब्रह्मैवाव्यभिचारिभ्यां सर्वहेतुर्विकारवत्॥

ऋगाद्यात्मत्वेन सर्वात्मत्वं कारणस्य ब्रह्मणः कार्याभेदाद्यु-  
 ज्यते। जीवस्य तु न जगत्कारणत्वम्। सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित

इति सर्वपाप्मविरहः परमेश्वरस्य युक्तः, अपहृतपाप्मेत्यादौ त-  
स्यैव तदवगतेः । न जीवस्यादित्यस्य, तस्य देवशरीरे पाप्मान-  
धिकारेऽपि अनादिभवपरंपरोपार्जितपाप्मनां प्रसुप्तानां संभ-  
वात् । एवमनन्यथासिद्धसर्वपाप्मविरहसर्वात्मत्वाभ्यां बहून्यपि  
रूपवत्त्वादीनि नेतव्यानि । तत्र रूपवत्त्वमीश्वरस्य परानुग्रहार्थं  
कार्यनिर्माणेन वा कार्यस्य शरीरस्य कारणाभेदाद्वा घटते ।  
एवं मर्यादाधारभेदावपि कार्यगतौ कार्यस्य कारणाभेदादीश्वर-  
स्योपासनार्थं निर्दिष्टौ । तस्मादीश्वर एव हिरण्मयः पुरुष  
इति ॥

### आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ ९ ॥

‘अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह  
वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं  
यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणं स एष परोव-  
रीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः’ इत्यत्र संशयः— किमाकाशश-  
ब्देन ब्रह्म अभिधीयते, उत भूताकाश इति, भूताकाशे आका-  
शशब्दस्य रूढत्वात्, ब्रह्मणि च वेदे निरूढप्रयोगदर्शनात् ।  
पूर्वत्रानन्यथासिद्धलिङ्गादन्यथासिद्धरूपवत्त्वादिलिङ्गं नीतम् ।  
इयं तु श्रुतिर्लिङ्गान्नान्यथयितव्येति प्रत्युदाहरणलक्षणा सं-  
गतिः ।

प्रथमत्वात्प्रधानत्वादाकाशं मुख्यमेव नः ।

तदानुगुण्येनान्यानि व्याख्येयानीति निश्चयः ॥

‘अस्य लोकस्य का गतिः’ इति प्रश्नोत्तरे ‘आकाश इति हो-  
वाच’ इत्याकाशस्य गतिशब्दवाच्यकारणत्वेन प्रतिपाद्यतया  
प्राधान्यात् सर्वकारणत्वादेस्तद्विशेषणत्वेन गुणत्वात् प्रथमत्वे-  
नाजातविरोधित्वादाकाशस्य परत्वाच्च इतरस्य तदनुसारेण  
वाय्वादिकारणे आकाशे नेतव्यत्वाद्भूताकाशमुद्गीथे संपाद्यो-  
पाख्यमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

सामानाधिकरण्येन प्रश्नतत्प्रतिवाक्ययोः ।

पौर्वापर्यपरामर्शात्प्रधानत्वेऽपि गौणता ॥

न तावदाकाशस्य प्रथमश्रुतत्वम् । ‘अस्य लोकस्य का  
गतिः’ इति सर्वजगत्कारणस्य पूर्वं पृष्ठत्वात् आकाशस्य लोक-  
मध्यपातित्वेन सर्वकार्यकारणत्वानुपपत्तेः । न च ‘अस्य लो-  
कस्य’ इति पृथिवीलोकमात्रमुपलक्षितमिति वाच्यम् । तत्का-  
रणमात्रं निरूपयितुं पृच्छतः प्रवाहणस्य स्वपक्षेऽप्यन्तवत्त्व-  
साम्यात् ‘अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम’ इति परपक्षेऽन्तव-  
त्त्वप्रसञ्जनानुपपत्तेः । एवं सति उत्तरेणाकाशशब्देन ब्रह्मैव  
अभिधानीयम् । तदेवं प्रश्ने ब्रह्मैव प्रस्तुतम् । उत्तरे च तदेव  
वक्तव्यम्, प्रश्नप्रतिवचनयोरैकार्थ्यात् । न चोत्तरे रूढिबलेन  
भूताकाशप्रतीतेस्तद्वशात्प्रश्नो नेतव्य इति युक्तम्, प्रश्नस्य  
पूर्वत्वेनाजातविरोधित्वात् । तदुक्तं पौर्वापर्यपरामर्शादिति,  
पूर्वोत्तरत्वेनानुसंधानादित्यर्थः । न च आकाशस्य प्राधान्यम्,  
सर्वकारणस्य पृष्ठस्यैव प्रधानत्वान् । आकाशपदमपि तदवग-  
मयत्प्रधानार्थं स्यादिति ॥

## अत एव प्राणः ॥ १० ॥

‘प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेद्विद्वान्प्रस्तोष्य-  
 सि मूर्धा ते विपतिष्यति’ इति चाक्रायणेनाक्षिप्तः प्रस्तोता तं पृ-  
 च्छति ‘कतमा सा देवता’ इति । चाक्रायणस्तु प्राण इति होवाच  
 सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति लयकाले,  
 प्राणमभ्युज्जिहते उद्गच्छति सृष्टिकाले, सैषा देवता प्रस्तावमन्वा-  
 यत्ता इति । अत्र अतिदेशत्वात्पूर्ववत्संशयादयः । प्राणशब्दो हि  
 ‘प्राणस्य प्राणम्’ इत्यादौ वेदे ब्रह्मणि निरूढः प्रयुज्यते । रूढश्च  
 वायुविकारे । अतः किंविषय इति संशयः । हिरण्यवाक्ये-  
 ऽनन्यथासिद्धब्रह्मलिङ्गानुसारेण रूपवत्त्वादि नीतम् । प्राणश्रु-  
 तिलिङ्गान्नान्यथयितव्येति पूर्ववदेव संगतिः । अथवा अनन्त-  
 वस्तुपरत्वादुपक्रमोपसंहारयोरस्त्वाकाशवाक्यं ब्रह्मपरम् । अत्र  
 तु ब्रह्मासाधारणधर्मपरोपक्रमोपसंहारादर्शनान्न ब्रह्मपरतेति  
 संगती । अथवा आकाशवाक्यानन्तर्यात्प्राणवाक्यस्येति सं-  
 गतयः । तत्र प्रथमत्वप्रधानत्वादिभिः पूर्वपक्षः । ‘कतमा सा  
 देवता’ इति चेतनवचनदेवताशब्देन प्राणशब्दात्प्रागेव प्रश्नोप-  
 क्रमात्प्राणश्रुतिप्राथम्यश्रुतेः, ‘प्राण इति होवाच’ इत्युत्तरस्य च  
 प्रश्नेन समानविषयत्वात्पूर्वप्रतीतप्रश्नानुसारेण च चरमप्रतिव-  
 चनस्य नेतव्यत्वान्, पृष्टदेवतायाश्चेतनाया एव प्रधानत्वात्  
 सर्वभूतसंवेशनोद्गमनलिङ्गाच्च ब्रह्मैवात्र प्राणशब्दमिति पूर्वव-  
 देव सिद्धान्तः । तर्हि तेनैवैतद्गतम् ; तन्न । यतः—

अर्थे श्रुत्येकगम्ये हि श्रुतिमेवाद्वियामहे ।

मानान्तरावगम्ये तु तद्वशात्तद्व्यवस्थितिः ॥

आकाशवाक्ये हि ब्रह्मणो वा सर्वभूतकारणत्वं नभसो वा वाय्वादिकारणत्वं न मानान्तरेणावगन्तुं शक्यम् । पौर्वापर्यालोचनायाम् आम्नायो यत्र समञ्जसः स तदर्थः, नेतरः । इह तु भूतसंवेशनोद्गमने प्राणं प्रति श्रूयमाणे, किं ब्रह्म प्रति श्रूयते, किं वा वायुविकारं प्रतीति विशये, 'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति' इत्यादिकायाः श्रुतेः सुषुप्तिसमये जाग्रत्समये च सर्वभूतसारेन्द्रियोपलक्षितसर्वभूतानां प्राणे लयोद्भवप्रतिपादिकाया मानान्तरसंवादलब्धबलाया बलात् 'सर्वाणि ह वा' इति वाक्यमपि वायुविकारे सर्वभूतोत्पत्तिलयपरमित्यधिकाशङ्का अत्र निवर्त्यते ।

पुंवाक्यस्य बलीयस्त्वं मानान्तरसमागमात् ।

अपौरुषेये वाक्ये तत्संगतिः किं करिष्यति ॥

संवादश्च प्राणेन्द्रियमात्रलयस्य दृश्यते, न सर्वभूतानाम् । तेन 'यदा वा' इति वक्यमिन्द्रियमात्रस्य प्राणे लयं वक्ति, न तद्वलात् 'सर्वाणि' इति वाक्यव्यवस्था । किंच—

यदा वा इति संवर्गविद्यायां श्रूयते वचः ।

सर्वाणीत्येतदुद्गीथे नानयोरेकवाक्यता ॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ ११ ॥

‘अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः’ इति समाम्नायते । विश्वशब्दस्य संकोचमाशङ्क्य सर्वत इत्युक्तम् ; नास्त्येभ्योऽधिकमन्यदुत्तममित्यनुत्तमेष्वित्यभिहितम् । अत्र संशयः— किं ज्योतिःशब्देन तेजोऽभिधीयते, उत ब्रह्मेति । ‘तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः’ इत्यादिषु श्रुतिषु ब्रह्मणि निरूढप्रयोगात्तेजसि रूढेश्च । पूर्वत्र वाक्यशेषगतब्रह्मलिङ्गादाकाशप्राणशब्दौ ब्रह्मणि नीतौ । ज्योतिर्वाक्ये तु नास्ति ब्रह्मलिङ्गम् । अथवा तल्लिङ्गाद्ब्रह्मनिर्णयवत्तेजोलिङ्गादिह तेज एव ज्योतिःशब्दम् । तथा हि, मुख्यगौणग्रहणविशये मुख्ये संप्रत्ययस्य

औत्सर्गिकत्वाद्वाक्यस्थतेजोलिङ्गोपलम्भनात् ।

वाक्यान्तरेणानियमात्तदर्थप्रतिसंधितः ॥

तेज एव ज्योतिःशब्दमित्यधस्तनप्रतिज्ञया संबन्धः । बलवद्बाधकाद्वा आकाशप्राणशब्दौ मुख्यार्थादपोदितौ । ज्योतिःपदस्य तु मुख्यतेजोवचनत्वे बाधकस्तावद्वाक्यशेषो नास्ति । एतेनाग-  
तार्थत्वं च सिद्धम् । प्रत्युत तेजोलिङ्गमेव वाक्यशेषे दृश्यते ‘दी-  
प्यते’ इति प्रज्वलत्वम् । ‘इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्यो-  
तिः’ इति च कौक्षेयतेजस्यध्यस्यमानं तत्सरूपं भवितुमर्हति,  
सारूप्यनिमित्तत्वादारोपस्य । तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत  
चक्षुष्यो रूपवान् श्रुतो विश्रुतः—इति च अल्पफलश्रवणं न ब्र-  
ह्मोपासनस्य युक्तम् । ‘तस्यैषा दृष्टिर्यदेतत्तत् स्पर्शनोष्णिमानं

जानाति तस्यैषा श्रुतिर्यदेतत्कर्णावपिधाय निनदमिव शृणोति ' इति चौष्ण्यघोषानुमितत्वं कौक्षेयस्यैव तेजसः । तस्मादत्र वाक्ये तेजोलिङ्गमेव दृश्यते । न च ' पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ' इति ब्रह्मप्रतिपादकं वाक्यान्तरम् 'यद-  
तः परो दिवो ज्योतिः' इति ज्योतिःशब्दं ब्रह्मणि व्यवस्थापयति,  
संनिधानाच्छ्रुतेर्वलीयस्त्वात् । तदिदमुक्तं वाक्यान्तरेणानि-  
यमादिति । अपि च वाक्यान्तरे दिवीति द्यौराधारत्वेनोक्ता ।  
अत्र तु दिव इति मर्यादात्वेन । अतोऽर्थप्रत्यभिज्ञाभावरूप-  
लिङ्गादपि संनिधिबाधः । तदिदमुक्तं तदर्थाप्रतिसंधित इति ।  
अपि च अभ्युपेत्य वाक्यान्तरस्य ब्रह्मविषयत्वमिदमुक्तम् । न  
त्वेतदस्ति । तत्र गायत्रीच्छन्दोभिधायित्वसंदेहात् । तदप्यु-  
क्तं तदर्थाप्रतिसंधित इति । अर्थानिश्चयादित्यर्थः । एवं  
प्राप्ते, उच्यते—

सर्वनामप्रसिद्धार्थं प्रसाध्यार्थविघातकृत् ।

प्रसिद्धयपेक्षिसत्पूर्ववाक्यस्थमपकर्षति ॥

तद्वलात्तेन नेयानि तेजोलिङ्गान्यपि ध्रुवम् ।

ब्रह्मण्येव प्रधानं हि ब्रह्म छन्दो न तत्र तु ॥

न वयं वाक्यान्तरस्थब्रह्मलिङ्गमात्राज्ज्योतिःश्रुतिं बाधाम-  
हे । किंतु तदुपबृंहितयच्छब्दश्रुत्या । अत्र हि 'यदतः' इति प्रथम-  
पठितयच्छब्दोक्तमेव ज्योतिःपदेन वाच्यम् । यच्छब्दश्च प्रज्ञात-  
वचनः । अगत्या तु प्रज्ञास्यमानं वदति । स च पूर्ववाक्यनि-



दिष्टं त्रिपाद्ब्रह्म परामृशति । लोकप्रसिद्धेरपि वाक्यप्रसिद्धेः श्रुतिं प्रति संनिकर्षात् । येनैष पूर्ववाक्यस्थमपकर्षति, तेन तस्य सर्वनाम्नो बलात्तेजोलिङ्गानि ब्रह्मण्येव नेयानि, दीप्यमानकार्यज्योतिषि तत्कारणत्वेनानुगते ब्रह्मणि लक्षणया दीप्यमानत्वं व्याख्येयम् । सारूप्यं चारोपेऽनैकान्तम्, नास्मिन् ब्रह्मारोपात् । अल्पफलवत्त्वमपि अब्रह्मोपास्तित्वे सव्यभिचारम् । ‘अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु’ इत्यादावन्नादत्वादिगुणविशिष्टब्रह्मोपास्ते-रन्नादिप्राप्तिफलश्रवणात् । न च दिव्याधेयस्य त्रिपाद्ब्रह्मणो दिवःपरत्वायोगाज्ज्योतिर्वाक्ये नास्ति प्रत्यभिज्ञेति वाच्यम् । अर्थतः प्रधानस्य द्युप्रातिपदिकार्थस्योभयत्र प्रत्यभिज्ञाने तद्विशेषणविभक्त्यर्थभेदस्याकिञ्चित्करस्य तदनुसारेण नेतव्यत्वात् । तदुक्तं प्रधानं हीति । प्रातिपदिकार्थ इत्यध्याहारः । शरीराद्ब्रह्मिः शरीरमध्ये हृदयपुण्डरीकमध्ये च आकाशस्त्रिधावच्छिन्नः । तस्मिन् सर्वत्र वर्तमानमपि ब्रह्म अन्तराकाशावच्छिन्नं बाह्याकाशभागापेक्षया दिवः परमित्युच्यते । तत्तदवकाशावच्छेदाच्च तदेव दिवीत्युक्तमिति । यत्तु पूर्ववाक्ये छन्द उक्तमिति, तन्न । यतः ‘गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्’ इति गायत्रीं प्रकृत्य ‘तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः’ इत्यस्यामृचि तावच्चतुष्पाद्ब्रह्मोक्तम्, पुरुषपदश्रवणात् । सैव च ‘तदेतदृचाभ्यनूतम्’ इति तदेतच्छब्दाभ्यां प्रकृतार्थे संगमिता । सर्वभूतात्मत्वं च न छन्दसः । न च भूतपृथिवीशरीरहृदयात्मत्वादयः । तस्माद्गायत्र्युपलक्षितं ब्रह्म उपास्यम् ॥

## प्राणस्तथानुगमात् ॥ १२ ॥

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि इन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका ।  
 ‘प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च  
 पौरुषेण च’ इत्याम्नाता । तस्यां श्रूयते ‘स होवाच प्राणोऽस्मि  
 प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व’ इति तद्देवताया लिङ्गम् । त-  
 थोत्तरत्र ‘अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापय-  
 ति’ इति एतत्प्राणस्य । तथा ‘न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं वि-  
 द्यात्’ इत्यादि एतत् जीवस्य । अन्ते च ‘स एष प्राण एव प्रज्ञा-  
 त्मानन्दोऽजरोऽमृतः’ इत्यादि इदं ब्रह्मणः । नैतत् ‘अत एव  
 प्राणः’ इत्यनेन गतार्थम् । तत्र हि ब्रह्मलिङ्गात्प्राणश्रुतिर्नीता ।  
 इह तु श्रुतिभङ्गाय न्यायो न निरूप्यते, किं तु तां स्वीकृत्यैव ॥

अनेकलिङ्गसंदोहे बलवत्कस्य किं भवेत् ।

लिङ्गिनो लिङ्गमित्यत्र चिन्त्यते प्रागचिन्तितम् ॥

अनेकेषां जीवादीनां प्रत्येकमनेकानि लिङ्गानीह मिलन्ति ।  
 तेन भूयसां न्यायोऽपि सर्वेषां समः । तत्र किं लिङ्गं बल-  
 वत्किं सर्वाणि समबलानि, उतैकस्यैव लिङ्गिनो लिङ्गं बलवत् ?  
 यदैकस्य, तदापि कस्य लिङ्गिनः— किं जीवादेरुत ब्रह्मण इति  
 इह चिन्त्यते । न चैतत्प्राक् ‘अत एव प्राणः’ इत्यत्र चिन्तितम् ।  
 चिन्ता चैवम्— ‘प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा’ इत्युपक्रमात् ‘स एष  
 प्राण एव प्रज्ञात्मा’ इत्युपसंहाराच्चैकमिदं वाक्यम् । एकश्चास्या-  
 र्थः । स च क इति विचारे कार्यदेवताप्राणयोर्धर्माः कारणे ब्रह्म-

णि संभवन्ति, तस्य कार्येऽनुगतत्वात् । न कारणधर्माः कार्ये,  
कारणस्य कार्यान्तरेष्वप्यनुगमात्कार्यस्य च व्यावृत्तत्वात् । एवं  
ब्रह्मावच्छेदकल्पितजीवधर्मा ब्रह्माणि संभवन्ति ; न ब्रह्मधर्मा-  
स्तस्मिन्निति । एतत्तु ‘अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्’ इत्यनेन न गतम् ।  
तत्र हि सार्वत्रिक्यसर्वदुरितविरहाभ्यां ब्रह्माणि सर्वकारणे-  
ऽवगते रूपवत्त्वादिकार्यधर्मा नीताः । इह तु प्रका-  
रान्तरेण वर्ण्यते । अत्र संशयः— किं जीवप्राणब्रह्माणि  
त्वीणीहोपास्यानि, ब्रह्मैव वा ज्ञेयं प्रतिपाद्यत इति, पदार्थ-  
वाक्यार्थयोः परस्परं प्राबल्यदौर्वल्यानवधारणात् । पूर्वत्र  
दिवि दिव इत्यत्र प्रधानप्रकृत्यर्थाभेदमाश्रित्य गुणभूतप्र-  
त्ययार्थभेदो नीतः । एवमिहापि स्वतन्त्रप्राणादिपदार्थभेदप्र-  
तीत्या एतत्सापेक्षत्वेन गुणभूतवाक्यार्थप्रतीतेर्युक्तमन्यथा-  
नयनम्, तथा हि—

पदार्थबुद्ध्यपेक्षत्वाद्वाक्यार्थस्य स्वतन्त्रतः ।

पदार्थानां च वाक्यैक्यं प्रतीतमपि बाध्यते ॥

अत्र तावत् ‘यावद्ब्रह्मस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदा-  
युः’ इत्याद्यध्यात्मसंबन्धबाहुल्यदर्शनान् पराचीन्द्रे तदनु-  
पपत्तेः ‘मामेव विजानीहि’ इत्यादेश्च शास्त्रदृष्ट्योपपत्तेर्न देव-  
तोपास्तिशङ्का । अत एव हि भगवान्सूत्रकारो देवतापक्षं फल्गु-  
त्वात्पृथगेव निरस्य ‘उपासात्रैविध्यान्’ इत्याह । इतरथा चा-  
तुर्विध्यादित्यवक्ष्यत् । जीवप्राणब्रह्मणां तु संभवति, ‘प्राणोऽस्मि

प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्व ' इत्युपास्यत्वेनोक्तप्राणप्रज्ञा-  
त्मनोः 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येताव-  
स्मिन्न शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति सहोक्रान्त्यभिधानात्  
द्विवचनाच्च प्राणस्य प्रज्ञात्मनश्च जीवस्य उपास्ययोर्भेदात् । न  
च ब्रह्मण्यभेदे द्विवचनं घटते । सहप्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यामनयोर-  
भेद उक्तः 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा' इत्यादिना 'आनन्दोऽजरः'  
इत्यादि ब्रह्मणो भविष्यति । तस्मात्रयाणामुपास्यत्वम् । न चो-  
पक्रमोपसंहारैकरूप्यावगतैकवाक्यत्वाद्वाक्यस्यैकार्थपरत्वम्,  
वाक्यार्थावगमस्य पदार्थावगमजन्यत्वेनोपजीव्याहुर्बलत्वात् ।  
न च सर्वत्रैवं वाक्यार्थभङ्गप्रसङ्गः, प्रधानभूतपदार्थावगमस्य  
वाक्यार्थैक्यावगमाविरोधित्वात् । अत्र चोक्तक्रमेण पदार्थानां  
स्वतन्त्रत्वमित्येवं प्राप्ते, ब्रूमः ॥

वाक्यार्थबोध उद्देश्यः पदानां नान्तरीयकः ।

पदार्थबोध एवं च वाक्यार्थस्य प्रधानता ॥

मत्तं पदार्थावगम उपायो वाक्यार्थबोधस्य, न तु पदार्था-  
वगमपराण्येव पदानि, तन्मात्रस्य निष्फलत्वात् । अपि तु  
एकवाक्यार्थावगमपराणि तमेव त्वेकवाक्यावगमं पदार्थाव-  
गमेन विना न शक्नुवन्ति कर्तुमित्यन्तरा तदर्थमेव तमपि  
कुर्वन्ति । तेन प्रधानवाक्यार्थस्योपक्रमोपसंहारैकरूप्यावगतस्य  
न भङ्गः । तेन पदानि विशिष्टैकार्थावबोधनस्वरसान्येव बलव-  
द्बाधकोपनिपातान्नानार्थावबोधपरतां नीयन्ते । यथाहुः—' सं-

भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि नेष्यते' इति । यथा उपांशु-  
याजवाक्ये जामितादोषोपक्रमे तत्प्रतिसमाधानोपसंहारे च  
एकवाक्यस्थाः 'विष्णुरुपांशुयष्टव्यः' इत्येवमादयो न पृथ-  
ग्विधयः किंत्वर्थवादा इति निर्णीतम्, तथेहापि 'मामेव  
विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्युक्त्वा  
अन्ते 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः'  
इत्युपसंहाराद्ब्रह्मण्येकवाक्यत्वावगतौ सत्यां जीवमुख्यप्राण-  
लिङ्गे अपि तदनुगुणतया नेतव्ये, अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात् ।  
यत्तु भेददर्शनम् 'सह ह्येतौ' इति, तत् ज्ञानक्रियाशक्तिमद्बुद्धि-  
प्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्निर्देशः प्रत्यगात्मानमेव ता-  
भ्यामुपलक्षयितुम् । अत एवोपलक्ष्यस्य प्रत्यगात्मन एकत्वमुप-  
लक्षयितुं उपलक्षणयोरभेद उक्तः 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा'  
इत्यादिना । एवमुपलक्षितप्रत्यगात्मन इह ब्रह्मत्वं बोध्यते 'स  
एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरः' इत्यादिना ॥

एवं चानन्यथासिद्धब्रह्मलिङ्गानुसारतः ।

एकवाक्यतया प्राणजीवलिङ्गोपपादनम् ॥

कारणधर्माणां कार्येऽनन्यथासिद्धिश्च पूर्वोक्तैवेति ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमदनुभवानन्दपूज्य-  
पादशिष्यस्य भगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

## द्वितीयः पादः ॥

स्पष्टब्रह्मलिङ्गवाक्यानि प्रथमपादे उदाहरणम् । द्वितीय-  
तृतीययोस्तु अस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि । तयोऽस्तु प्रायशः सविशेष-  
निर्विशेषब्रह्मलिङ्गवाक्यविषयतया रूढियोगविषयतया वा अ-  
वान्तरभेदः । प्रथमपादे ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वजगत्कारणत्वसामर्थ्य-  
सिद्धसर्वात्मत्वादेरुपजीवनादुत्तरसंदर्भस्य तदानन्तर्यम् ॥

### सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत’— तस्मा-  
ज्जायत इति तज्जम्, तस्मिँल्लीयत इति तल्लम्, तस्मिन्ननिति स्थि-  
तिकाले चेष्टत इति तदन्, इतिर्यस्मादर्थे; एवं यस्मात्सर्वं खल्विदं  
ब्रह्म, ततो रागद्वेषविषयाभावात् शान्त उपासीतेत्यर्थः । ‘अथ  
खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति । तथेतः  
प्रेत्य भवति । स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरः’ इत्यादि ।  
तत्र संशयः— किमिह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैः शरीर आत्मो-  
पास्यत्वेनोपदिश्यते, आहोस्वित् ब्रह्मेति, मनोमयत्वादीनां  
प्रकृतब्रह्मनैरपेक्ष्यसापेक्षत्वाभ्याम् । पादान्तरत्वादेव न अवा-  
न्तरसंगतिः । तत्र—

क्रतुमित्यादिवाक्येन विहितां क्रतुभावनाम् ।

अनूद्य सर्वमित्यादिवाक्यं शमगुणे विधिः ॥

शमगुणविधिसंक्रान्तत्वात् 'सर्वं खलु' इति वाक्यं नोपास्तिविधिक्षमम् । अपि तु 'स क्रतुं कुर्वीत' इति वाक्य-विहितां क्रतुप्रवृत्तिमनूय तदङ्गत्वेन शमं विधत्ते । न च 'सर्वं खलु' इति वाक्यं स्वपाठात्पूर्वमविहितामुपास्तिं कथमनुवदेत् अप्राप्तत्वादिति युक्तम् । 'सर्वं खलु' इति वाक्यस्य 'स क्रतुम्' इति वाक्यार्थोपजीवित्वेन पाठक्रमस्यार्थक्रमेण बाधात् ततः परत्वोपपत्तेः । ननु विधीयतां 'स क्रतुम्' इत्यादिवाक्येन उपासना ; तस्यास्तु 'सर्वं खलु' इति वाक्यान्नातं ब्रह्म विषयः स्यात् । तन्न, क्रतुवाक्यस्य स्वगतमनोमयत्वादिविशिष्टवस्तुविषयत्वेन पर्यवसाने वाक्यान्तरगतगुणविध्यर्थवादस्थब्रह्मसमाश्रयायोगात् । तस्मान्मनोमयत्वादिविशिष्टजीवोपास्तिविधौ पर्यवसिते पश्चाच्छमो विधीयते । एवं च उत्पत्तिशिष्टगुणावरुद्धोपास्तिः नोत्पन्नशिष्टब्रह्मणा संबध्यते । न च 'सर्वं खलु' इति वाक्यं ब्रह्मपरम्, अपि तु सृष्टिवाक्यसिद्धसार्वभौम्यानुवादेन शमविध्यर्थो हेतुवन्निगदार्थवादः । न च अन्यपरादप्यपेक्षितं ब्रह्म ग्राह्यम्, एकवाक्योपात्तमनोमयत्वादिभिरपेक्षाशान्तेः । तस्माज्जीवोपास्तिपरत्वे प्राप्ते, अभिधीयते—

समासः सर्वनामार्थः संनिकृष्टमपेक्षते ।

तद्विधितार्थोऽपि सामान्यान्नापेक्षाया निवर्तकः ॥

तस्मादपेक्षितं ब्रह्म ग्राह्यमन्यपरादपि ।

तथा च सत्यसंकल्पप्रमुखानां यथार्थता ॥

इह हि प्राणः, शरीरमस्येति बहुव्रीहिसमासः सर्वनामार्थः; सर्वनामोऽर्थ एवार्थो यस्य स तथा । तेन समासान्तर्वर्तिनी अस्येति सर्वनामश्रुतिः संनिवृष्टमपेक्षमाणा 'सर्वं खलु' इति संनिहितं ब्रह्म प्राप्य पर्यवसिताभिधाना तदेव विधीयमान-  
 क्रतुविषयं गमयति । न च मनोमयपदोक्ततद्वितार्थः सर्वना-  
 माकाङ्क्षां शमयेत्, मयटस्तद्वितस्य विकारप्राचुर्यसाधारण्येन  
 संदिग्धार्थत्वेन जीवनिश्चायकत्वायोगात्, मनःप्राचुर्यस्य च  
 मनस्युपलभ्यत्वेन ब्रह्मण्यपि संभवात् । एवं च मनोमयत्वा-  
 देरुपास्यासमर्पकत्वे सति विहितोपासनया विषयत्वेनापेक्षितं  
 ब्रह्म शमविधिपरादपि वाक्यात् गम्यमानं ग्राह्यम् । तथा च  
 वाक्यशेषस्थानां सत्यसंकल्पादिशब्दानां यथार्थता स्यादिति ।  
 न च ज्योतिर्विचारेण गतार्थत्वम्; तत्र हि द्युसंबन्धः प्रत्य-  
 भिज्ञापकोऽस्ति, नात्रेति शङ्कायास्तद्वितार्थसंदेहेन अशान्ते-  
 रिति ॥

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ २ ॥

कठवल्लीषु पठ्यते 'यस्य ब्रह्म च क्षेत्रं चांभे भवत ओदनः  
 मृत्युर्यन्योपमेचनं क इत्था वेद यत्र सः' इति । अत्र कश्चि-  
 दोदनोपमेचनसूचितोऽत्ता प्रतीयते । स किमग्निः, उत जीवः,  
 आहो परमात्मेति संशयः । तदर्थं च किमतृत्वं भोक्तृत्वम्,  
 उत संहर्तृत्वमिति संशय्यते— ओदनपदश्रवणात्, ब्रह्मक्षत्रप-  
 दश्रवणाच्च । पूर्वाधिकरणान्ते परमेश्वरस्याभोक्तृत्वोक्तेः इह



न सोऽत्ता, किं तु जीवः इति प्रसाधनात्संगतिः । अतृत्वं च भोक्तृत्वमेव । तथा हि—

इहोदनस्य भोग्यत्वप्रसिद्धेर्बुद्धिमागतम् ।

भोक्तृत्वं प्रथमं पश्चात्संहर्तृत्वं च गम्यते ॥

ततश्च प्रथमावगतभोक्तृत्वानुसारेण जीव एव अत्ता अत्रोपास्यः ; ब्रह्मक्षत्रादिश्च जीवस्य कार्यकारणसंघातवतो भोगायतनतया भवति भोग्यः । मृत्युरपि कस्यचिद्ब्याघ्रादेर्ब्रह्मक्षत्रादिभोजने भवत्युपसेचनम् । अथ तु मृत्यूपसेचनश्रवणस्य असंकोचाय संहर्तृत्वमत्तृत्वम्, ततः ‘अग्निरन्नादः’ इति श्रुतेः लोकप्रसिद्धेश्च अग्निरत्ता स्यात् ; न परमात्मा, तस्याविक्रियत्वात्— इति प्राप्ते, ब्रूमहे—

भक्तमोदनशब्दस्य मुख्यार्थो न तु भोग्यता ।

लक्षणायां तु तद्वारं भोक्तृत्वं प्रथमं कुतः ॥

ओदनशब्दस्य न भोग्यत्वमर्थः, चन्दनादावप्रयोगात् । अथ भोग्यत्वं लक्ष्येत, तर्हि भोग्यद्वारकभोक्तृत्वस्य संहर्तृत्वस्येव न प्राथम्यम् । तथा च विशेषमृत्यूपसेचनसंनिधानात् ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितविनश्वरवस्तुमात्रे ओदनगतविनाशित्वगुणयोगेन ओदनशब्दो वर्तते । तत्संहर्ता च अत्ता अत्र प्रतीयते । स च अक्रियोऽपि मायोपाधिः संहर्ता ॥

## गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ३ ॥

‘ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये ।  
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्रयो ये च त्रिणाचिकेताः’  
इति । अत्र बुद्धिजीवौ प्रतिपाद्यौ, जीवेश्वरौ वेति संशयः,  
उभयत्र लक्षणाया अविशेषात् । ऋतपानकर्तृत्वं हि जीवेन  
सह बुद्धेरिव परमेश्वरस्यापि छत्रिन्यायेन लाक्षणिकम् । पूर्वत्र  
ब्रह्मक्षत्रशब्दस्य संनिहितमृत्युपदानुसारेण अनित्यवस्तुपर-  
त्ववत्, इहापि पिबच्छब्दस्य संनिहितगुहाप्रविष्टादिशब्दानु-  
सारेण बुद्धिजीवपरत्वम् । तथा हि—

नियताधारता बुद्धिजीवसंबन्धिनी न हि ।

क्लेशात्कल्पयितुं युक्ता सर्वगे परमात्मनि ॥

नियतहृदयगुहाश्रितत्वं हि परिच्छिन्नयोर्बुद्धिजीवयोर्यु-  
क्तम् । परमात्मा तु बुद्ध्यावन्यत्रापि वर्तते । स तु सालग्रामे  
इव कमलनाभः तत्राभिव्यक्तत्वेन तन्नियतालय इति कल्पनं  
क्लिष्टमयुक्तम् । अत्रोत्तरम्—

ऋतपानेन जीवात्मा निश्चितोऽस्य द्वितीयता ।

ब्रह्मणैव सरूपेण न तु बुद्ध्या विरूपया ॥

गौः सद्वितीयेत्युक्ते हि गवान्तरेण सजातीयेन सद्विती-

यता अवगम्यते ; न तु विजातीयेन तुरंगमादिना । तदिह पिबन्तावित्यत्र जीवे कर्मफलात्मकऋतपानकर्तरि निश्चिते तस्य द्वितीयश्चेतनत्वेन सजातीय ईश्वर एव ; नाचेतना विजातीया बुद्धिः । यत्तु गुहाहितत्वम्, तत्र समाधिः—

प्रथमं सद्वितीयत्वे ब्रह्मणावगते सति ।

गुहाहितत्वं चरमं व्याख्येयमविरोधतः ॥

पिबन्ताविति पदे प्रथमं परमात्मना सद्वितीयत्वे जीवस्य वर्णितमार्गेणावगते सति गुहाप्रविष्टत्वं चरमश्रुतं प्रथमावगतानुसारेण सालग्रामकमललोचनन्यायेन व्याख्येयम् । एवं सुकृतलोकवर्तित्वमपि छत्रिन्यायेन परमात्मनि गमयितव्यम् । एवं छायातपतुल्यत्वं जीवस्याविद्याश्रयत्वात् परमेश्वरस्यानावृतबोधात्मत्वाद्युक्तम् ॥

अन्तर उपपत्तेः ॥ ४ ॥

‘य एषोऽन्तरिक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचै-  
तदमृतमभयमेतद्ब्रह्म’ इत्यत्र छायात्मा चक्षुष्युपास्यः, ईश्वरो  
वेति दर्शनस्य लौकिकत्वशास्त्रीयत्वाभ्यां संशयः ॥

उपक्रमवशात्पूर्वमितरस्योपवर्णनम् ।

कृतं न्यायेन येनैव स खल्वत्रानुषज्यते ॥

पूर्वत्र हि ‘ऋतं पिबन्तौ’ इत्यत्र जीवपरमात्मानौ प्रथमाव-

गताविति तदनुरोधेन गुहाप्रवेशादयः पश्चात् व्याख्याताः । तद्वदिहापि 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति प्रथममवगते छायात्मनि तदनुरोधेन अमृताभयत्वादयः स्तुत्या कथंचिद्व्याख्यायाः । इयं च सुखविशिष्टब्रह्मप्रकरणं नास्तीति कृत्वाचिन्ता । अतश्च 'य एषः' इति सर्वनामनी वक्ष्यमाणार्थे । तेन च मनोमयतद्वितार्थवदत्र संदेहः, 'दृश्यते' इत्यस्य छायात्माभिधायकत्वात् । तथा हि—

एष दृश्यत इत्येतत्प्रत्यक्षेऽर्थे प्रयुज्यते ।

परोक्षं ब्रह्म न तथा प्रतिबिम्बं तु युज्यते ॥

सिद्धान्तस्तु— 'य एषः' इत्येते हि

अनिष्पन्नाभिधाने द्वे सर्वनामपदे सती ।

प्राप्य संनिहितस्यार्थं भवेतामभिधातृणी ॥

इह हि 'दृश्यते' इत्यस्मात् प्रागेव 'य एषः' इति सर्वनामनी अपर्यवसिताभिधाने सती पुरुषपदोक्तमर्थं प्राप्य पर्यवसिताभिधाने स्याताम् । 'दृश्यते' इत्येतदपि सापेक्षं पुरुषपदार्थं प्राप्य पर्यवस्येत् । पुरुषपदं च नैरपेक्ष्येण चेतनमभिधत्त इति । एवं सति 'दृश्यते' इत्यतः प्रागेव पुरुषस्य प्रस्तावात् तदुपक्रमत्वं वाक्यस्य । पुरुषस्य च शास्त्रजन्यमेव ज्ञानं स्फुटत्वात् 'दृश्यते' इत्युपचरितम् । अक्षि च अन्तर्यामिणः स्थानं निर्दिष्टम्— 'यश्चाक्षुषि तिष्ठन्' इति, तदेवेह 'अक्षिणि' इत्युपास्त्यर्थमुक्तम् । किं च,

कं खं ब्रह्मेत्युपक्रान्तमीश्वरं सर्वनामनी ।

वदेतामिति निर्णीतं ब्रह्मप्रकरणादपि ॥

न च तत्र अग्नीनां वक्तृत्वात् इह आचार्यवक्तृके वाक्ये न ब्रह्माभिधानमिति युक्तम्, 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इत्यग्निभिः उक्तशेषाभिधानस्याचार्यकृत्यस्य निवेदितत्वादिति ॥

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥

'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि यो-  
ऽन्तरो यमयति' इत्यादि । अत्र अन्तर्यामी जीव ईश्वरो वे-  
ति अशरीरस्य नियन्तृत्वासंभवसंभवाभ्यां संशयः । प्रधानप-  
क्षस्तु वाक्यशेषगतद्रष्टृत्वाद्यसंभवेन दूषितो भाष्ये तुच्छः ।  
पूर्वत्र 'य एषोऽक्षिणि' इति परमात्मानः स्थाननिर्देशोपपाद-  
नाय 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इत्यादिः तस्यैव स्थानव्यपदेशो  
दृष्टान्त उक्तः । स आक्षिप्यते । तथा हि—

स्वकर्मोपार्जितं देहं तेनान्यच्च नियच्छति ।

तक्षादिरशरीरस्तु नात्मान्तर्यामितां व्रजेत् ॥

ईश्वरो न नियन्ता, अशरीरत्वात्— घटवत् इत्युक्तम्—  
अशरीरस्त्विति । स्वशरीरनियन्तरि तक्षणि शरीरान्तररहिते  
अनैकान्तमशरीरत्वमाशङ्क्योक्तम्— स्वकर्मोपार्जितमिति ।  
न नियम्यातिरिक्तशरीररहितत्वं हेतुः ; किं तु शरीरेण भोक्तृ-  
त्वेनानन्वयः । तक्षा तु स्वकर्मजेन देहेन तादृशसंबन्धवानेव

तं देहं तेन द्वारेण अन्यच्च वास्यादि नियच्छतीति न व्यभिचार इति । न च अचेतनत्वमुपाधिः, मुक्तात्मसु सत्यपि साध्ये उपाध्यभावेन साध्याव्याप्तेरिति । अत्राभिधीयते—

देहेन्द्रियादिनियमे नास्य देहेन्द्रियान्तरम् ।

तत्कर्मोपार्जितं तच्चेत्तदविद्यार्जितं जगत् ॥

किमशरीरित्वम्—यतो नियन्तृत्वाभावः, नियम्यातिरिक्त-देहरहितत्वं वा, देहसंबन्धाभावो वा, देहे भोक्तृत्वाभावो वा ? आद्ये अनैकान्तिकः, यतोऽस्य तक्षणः स्वशरीरादिनियमने साध्ये न देहाद्यन्तरम् । अस्तु द्वितीय इति चेत्, तदा हि तत् तक्षदेहादि तस्य तक्षणः कर्मोपार्जितमिति ; तर्हि परमात्मनोऽपि शरीरसंबन्धाभावोऽसिद्धः, तद्विषयाविद्यार्जितत्वेन शरीरादिजगतः तेन संबन्धात् । तृतीये तु परमात्मा न नियन्ता, अभोक्तृत्वात्— इत्यत्र अचेतनत्वमेवोपाधिः । न च मुक्तात्मसु साध्याव्याप्तिः, तेषां परमेश्वराभेदेन पक्षनिक्षेपात् । अपि च अत्र नियन्तृत्वस्यात्यन्ताभावसाधनात् मुक्तानां प्राङ्नियन्तृत्वात् न साध्यं तेषु विद्यते । ईश्वरं पक्षीकृत्यानियन्तृत्वसाधने आगमविरोधश्चेति ॥

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥

‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम-  
गोत्रमवर्णमचक्षुश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं

सुसूक्ष्मम् । तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' इत्यत्र किं प्रधानमदृश्यत्वादिधर्मकं सर्वज्ञाद्विवेकाय निर्दिश्यते, उत जीवो देहादिव्यतिरिक्तोऽभ्युदयनिश्रेयसप्राप्तये निरूप्यते, किं वा ब्रह्मैव प्रतिपाद्यत इति अदृश्यत्वादिसाधारणधर्मदर्शनात्संशयः । पूर्वत्र द्रष्टृत्वादिश्रवणान्न प्रधानमन्तर्यामीत्युक्तम् । इह तदश्रवणादक्षरं प्रधानम् ; भूतयोनित्वमपि तस्यैव ; यतः—

परिणामो विवर्तो वा सारूपस्योपलभ्यते ।

चिदात्मना तु सारूप्यं जडानां नोपपद्यते ॥

जडं प्रधानमेवातो जगद्योनिः प्रतीयताम् ।

योनिशब्दो निमित्तं चेत्कुतो जीवनिराक्रिया ॥

‘न विलक्षणत्वात्’ इत्यत्र परिणाममभ्युपेत्यापि परिणामसारूप्ययोर्व्याप्तिर्निवार्यते ; इह तु विवर्तसादृश्ययोः । परिणामस्तु तत्रत्य इहानूद्यते । इह हि हेमादेः परिणामो रुचकादिर्हेमसारूप एव दृश्यते । शुक्त्यादेर्विवर्तश्च रजतादिस्तत्सदृश एव । जगतस्त्वचेतनत्वान्न चिदात्मसादृश्यम् । अतः प्रधानं जडं जडस्य जगतः प्रकृतिः । प्रयोगोऽपि भूतयोनिर्जडा परिणममानत्वात् विवर्तमानत्वाद्वा हेमरज्ज्वादिवदिति । अथ भूतयोनिरित्यत्र योनिशब्दो निमित्तार्थः, तथापि ब्रह्मण इव जीवस्यापि निमित्तत्वसंभवात् ब्रह्म भूतयोनिर्जीवो वेत्यविनिगमेन पूर्वः पक्षः । अत्रोच्यते— न तावद्भूतयोनेर्जडत्वम् ; यतः—

अक्षरस्य जगद्योनिभावमुक्त्वा ह्यनन्तरम् ।  
 यः सर्वज्ञ इति श्रुत्या सर्वज्ञस्य स उच्यते ॥  
 तेन निर्देशसामान्यात्प्रत्यभिज्ञानतः स्फुटम् ।  
 अक्षरं सर्वविद्विश्चयोनिर्नाचेतनं भवेत् ॥  
 अक्षरात्परत इति श्रुतिस्त्वव्याकृते मता ।  
 अश्नुते यत्स्वकार्याणि तेनाव्याकृतमक्षरम् ॥  
 विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः ।  
 अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते ॥

अत्र हि अक्षरं भूतयोनिं प्रक्रम्य वाक्यशेषे 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' इति सर्वज्ञस्य जगद्योनित्वमुच्यते । उपादानप्रा-  
 यपठितायाश्च तस्मादिति पञ्चम्या न निमित्तार्थताशङ्का ।  
 अतः उपादानत्वप्रत्यभिज्ञयैकवाक्यत्वे सति वाक्यप्रमाणात्स-  
 र्वज्ञ एव भूतयोनिर्विश्चयोनिः । यदक्षरं तत्सर्वविद्वेत् इत्यु-  
 द्देश्यविधेयभावः । ननु यद्यक्षरशब्दवाच्यभूतयोनेः सर्वज्ञत्वम्,  
 कथं तर्हि 'अक्षरात्परतः परः' इति सर्वज्ञस्य कार्यापेक्षया परा-  
 त्कारणादक्षरात् परत्वमुक्तम् श्रुतौ ? अत आह—अक्षरात्परत  
 इति । अत्र वाक्ये अक्षरशब्देन ब्रह्मणो भूतयोनेरुपादानत्व-  
 निर्वाहकमव्याकृतं मायाशक्त्यपरपर्यायं योगवृत्त्या अभिधी-  
 यते । यत् यस्मादर्थे । न च अक्षरशब्दप्रत्यभिज्ञानात् भूत-  
 योनिरेव अक्षरशब्दनिर्दिष्ट इति वाच्यम् । प्रथमश्रुते 'यः



सर्वज्ञः' इति वाक्ये सर्वज्ञस्य जगदुपादानत्वप्रत्यभिज्ञया अस्य बाध्यत्वात्, 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' इति च अक्षरस्य ब्रह्मविद्याधिगम्यपुरुषत्वाभिधानाच्च । यत्तु परिणामविवर्तयोः सारूप्यापेक्षेति, तत्र न ब्रह्मपरिणामो जगत्, किं तु विवर्तः, स च शङ्खपीतिमादौ विसदृशेऽप्यस्तीति ; विवर्तमानत्वहेतुश्च देहात्मत्वाद्यारोपाधिष्ठाने जीवे अनैकान्तः ॥

### वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥

‘को न आत्मा किं ब्रह्मेति’ ‘आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि’ इति च उपक्रम्य, द्युसूर्यादीनां सुतेजस्त्वादिगुणयोगमैकैकोपासननिन्दया वैश्वानरं प्रत्येषां मूर्धादिभावमप्युपदिश्य आम्नायते— ‘यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते’ स सर्वलोकाद्याश्रयं फलं भुङ्क्ते ‘तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्वं सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचनमास्यमाहवनीयः’ इत्यादि । किमयं वैश्वानरो जाठरः, उत परमेश्वर इत्यात्मब्रह्मशब्दाभ्यां अग्निवैश्वानरशब्दाभ्यां च संशयः । अग्निशब्दोऽपि हि समानप्रकरणे वाजसनेयके श्रूयते—‘अयमग्निर्वैश्वानरः’ इति । ये त्विह भाष्यकारेण भूताग्निदेवताजीवपूर्वपक्षा उपन्यस्ताः,

ते उपक्रममात्रम्, तेषु प्राणाहुत्याधारत्वादेद्युमूर्धत्वादेश्च असा-  
मञ्जस्यात् । पूर्वत्र हि—

सार्वात्म्यरूपोपन्यासादक्षरं ब्रह्म वर्णितम् ।

जाठरेऽसावनेकान्त इति शङ्कात्र वार्यते ॥

तत्र—

अग्नित्रेताप्रकल्प्यादिविहिताग्न्यादिशब्दतः ।

आरोपितद्युमूर्धादेरौदर्याग्नेरुपास्यता ॥

‘हृदयं गार्हपत्यः’ इत्यादिना हि शरीरावयवाः संनिहित-  
स्यौदर्यस्याग्नेः गार्हपत्यादिभावेन कल्प्यन्ते । ‘आस्यमाहवनीयः  
तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्’ इति च वैश्वानरस्यास्या-  
नुगतस्य प्राणाहुत्याधारस्याहवनीयकुण्डत्वेन आस्यं कल्प्यते,  
‘तस्य ह वा एतस्य वैश्वानरस्य’ इति प्रकृतत्वात् । एताभ्या-  
मुपोद्बलिताभ्याम् अग्निवैश्वानरशब्दाभ्यां जाठरोऽग्निरुपाख्यः  
प्रतीयते ; न च द्युमूर्धत्वादेः तस्मिन्नसंभवः, वाजसनेयके हि  
‘स होवाच मूर्धानमुपदिशन्नेष वा प्रतिष्ठा वैश्वानरः’ इत्या-  
दिना मूर्धाद्यवयवानां द्युलोकाद्यात्मना संपादितत्वात् वैश्वान-  
रस्य जाठरस्यापि द्युमूर्धत्वादिसंभवात् । एवं च आरोपित-  
द्युमूर्धत्वादिना रूपेण बृहत्त्वात् ब्रह्मत्वम् आपनादात्मत्वम् ।  
अत एव च ब्रह्मण्यप्यारोपादग्नित्रेतादेरुपपत्तिः— जाठर इव  
द्युमूर्धत्वादेरिति न शङ्कनीयम् । जाठरे द्युमूर्धत्वादिकल्पना-

याः श्रुतिकृतत्वेन ब्रह्मण्यग्नित्रेतादिकल्पनायाश्च पौरुषेयत्वेन विशेषे सति प्रतिबन्धनवतारादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

कल्प्यं च गार्हपत्यादि कुक्ष्यग्नावीश्वरे पुनः ।

द्युमूर्धत्वादि सहजमित्येतद्बलवत्तरम् ॥

इह हि उपक्रमश्रुतैरग्निवैश्वानरात्मब्रह्मशब्दैर्जाठरपरमात्मसंदेहे किं वाक्यशेषगताग्नित्रेताप्रकल्पनादेर्जाठरः परिगृह्यताम्, उत द्युमूर्धत्वादेर्वाक्यशेषगतात् परमात्मेति वाक्यशेषस्याप्यनिर्णायकत्वे प्राप्ते, जाठरे समारोप्यादग्नित्रेतादेः सकाशात् सगुणेश्वरे सर्वकारणे सहजद्युमूर्धत्वादेर्बलवत्त्वात् तदनुसारेणात्मब्रह्मशब्दयोर्मुख्यार्थत्वम् । अग्निवैश्वानरशब्दयोस्तु जाठरोपाधिब्रह्मपरत्वमिति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्य भगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥



## तृतीयः पादः ॥

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

‘यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृत-  
स्यैष सेतुः’ इत्यत्र द्युप्रभृतीनाम् ओतत्ववचनेन यदाय-  
तनमवगम्यते, तत्किं प्रधानम् उत ब्रह्मैवेति आयतनत्वसा-  
धारणधर्मदर्शनात् संशये, प्राप्तं तावत्—

पारवत्त्वेन सेतुत्वाद्भेदे षष्ठ्याः प्रयोगतः ।

द्युभ्वाद्यायतनं युक्तं नामृतं ब्रह्म कर्हि चित् ॥

नदीपारावारमध्यवर्ती हि जलविधारकः पारवान् सेतुश-  
ब्दार्थः, न बन्धनहेतुमात्रम्; निगलादीनामपि सेतुशब्दार्थ-  
त्वप्रसङ्गात् । तथा च जगद्व्यवस्थाया बन्धके परमेश्वरे षिङ्  
बन्धने इति धातोर्निष्पन्नस्य सेतुशब्दस्य वृत्तिरित्ययुक्तम् ।  
अतः पारवत्त्वेनैव सेतुत्वात् ब्रह्मणश्चापारत्वात् वस्तुतः  
परिच्छिन्नं प्रधानमेव जगदायतनम् । अपि च ‘अमृतस्य  
सेतुः’ इति षष्ठीप्रयोगः सेतोरमृताद्भेदे भवति । ब्रह्मणश्चामृ-  
तस्य नामृताद्भेदः, ब्रह्मव्यतिरिक्तामृताभावात् । प्रधानं त्वमृ-  
तान्मुक्तजीवाद्भिन्नम् बन्धावस्थायां च तस्य भोग्यमिति ‘अ-

मृतस्य' इति व्यपदेशमर्हति । आत्मशब्दश्च स्वभाववचन  
इति । सिद्धान्तस्तु—

धारणाद्वामृतत्वस्य साधनाद्वास्य सेतुता ।

पूर्वपक्षेऽपि मुख्यार्थः सेतुशब्दो न हीष्यते ॥

मृद्वारुविरचिते जलविधारके हि सेतुशब्दः प्रसिद्धः । न  
च प्रधाने मृन्मयाद्यात्मत्वमस्तीति पारवत्त्वाद्गुणाद्वर्तयितव्यः ।  
तत्र अस्मन्मतेऽप्यात्मशब्दानुसारेण ब्रह्मणि वा तज्ज्ञाने वा  
गुणात्प्रवर्तिष्यते । न च आत्मशब्दः स्वभाववाची, वस्तूक्ते-  
रेव स्वभावसिद्धौ तत्प्रयोगवैयर्थ्यात् । तथा हि—अस्य  
द्युभ्वाद्यायतनस्य ब्रह्मणोऽस्य वा तज्ज्ञानस्य 'जानथ' इति  
प्रकृतस्य यथाक्रमममृतत्वस्य धारणाद्वारकत्वात्, साधनात्सा-  
धकत्वाद्वा सेतुता भवति । अमृतशब्दश्च भावप्रधानः अमृ-  
तत्वस्येत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्मैवामृतम्, तथापि तदज्ञातं न मोक्षः,  
अपि तु ज्ञातम् । ज्ञातरूपं च निरवद्यममृतत्वं तस्येति व्यप-  
देशार्हम् । यथा हि सेतुर्जलं धारयति, एवं ब्रह्मामृतत्वं धा-  
रयतीति तस्य सेतुता । यथा वा सेतुः प्रवाहनिरोधेन प्रभू-  
तमुदकं साधयति, एवं ब्रह्मैक्यज्ञानममृतत्वं साधयतीत्य-  
स्यापि सेतुतेति ॥

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ २ ॥

इदमामनन्ति— 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति, भू-

मानं भगवो विजिज्ञासे' इति, 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्य-  
च्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा अथ यत्रान्यत्पश्य-  
त्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्' इत्यादि । भूमाशब्दः  
बहुत्ववाची तद्वन्तं लक्षयति । तत्र संशयः—किं प्राणो भूमा  
स्यात्, आहोस्वित्परमात्मेति, उभयोरपि प्रकृतत्वात् । 'तरति  
शोकमात्मवित्' इति परमात्मा प्रकृतः, 'प्राणो वा आशाया  
भूयान्' इति च प्राणः । आत्मशब्दात्तु द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मे-  
त्युक्तम् । तत्रात्मशब्दः प्राणेनैकान्त इति प्रत्यवस्थीयते ।  
तथा हि—

प्राणादूर्ध्वमपृष्टत्वाद्भूमस्तस्यातिसंनिधेः ।

प्रतीकोपास्त्युपक्रान्तेर्ब्रह्मप्रकरणादपि ॥

पित्वाद्यात्मत्वनिर्देशैः प्राणसार्वात्म्यबोधनात् ।

स आत्मा स च भूमेति तद्विच्छोकाम्बुधिं तरेत् ॥

अस्मिन् हि प्रकरणे उक्तादन्यो भूमा उच्यमानः प्रश्नपूर्व-  
कमुच्यते । यथा 'नाम्नो वाव किं भूयोऽस्ति' इत्यादयः प्रश्नाः ।  
'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इत्याद्युत्तराणि । नैवम् 'प्राणो  
वा आशाया भूयान्' इत्यस्यानन्तरं प्राणात् किं भूय इति  
पृच्छयते ; नापि इदं प्राणद्वय इति प्रत्युच्यते । तस्मात् प्राणा-  
दुपरि भूमोऽनुपदेशात् प्राण एव भूमा ; पूर्वे तु भूमानस्तत्प्रति-  
पत्त्यर्थाः आपेक्षिकाः । अपि च भूमेति भावो भवितारमपेक्ष-  
ते । प्राणश्च भूमवाक्यात्समनन्तरवाक्ये निर्दिष्ट इति स एव

भूमा । ‘तरति शोकमात्मवित्’ इति तु अनेकवाक्यैर्विप्रकृष्टम् । न च प्राणसंनिधिः आत्मप्रकरणाद्वाध्यः । अनात्मविदः आत्मानं विविदिषोर्नारदस्य सोऽहं भगवो अनात्मवित् तं मामात्मविज्ञानप्लवेन शोकस्य पारं तारयतु इति परमात्मनो विजिज्ञास्यत्वेन प्रक्रमात् सनत्कुमारीयोत्तरस्यापि तत्प्रतिपादनाङ्गत्वेन पर्यवसानादिति वाच्यम् । सनत्कुमारस्य ‘नाम ब्रह्मेत्युपास्व’ इति प्रतीकोपदेशरूपेण उत्तरेण अब्रह्मविषयत्वेन निर्णीतेन नारदप्रश्नस्यापि तद्विषयत्वेन परमात्मोपदेशप्रकरणस्यानुत्थानात् । ‘प्राणो ह पिता प्राणो माता’ इत्यादिना च प्राणस्य सर्वात्मत्वाभिधानात् आत्मब्रह्मभूमशब्दाः प्राणे एव वर्तन्ते । एवं च ‘आत्मवित्’ इत्यत्र आत्मविद्या नामादिषु प्राणदृष्टिः । सा च शास्त्राच्छ्लोकनिवृत्तिहेतुरिति प्राप्ते, आचक्ष्महे—

प्राणादुपगि निर्देशात्सत्यश्रुत्या परात्मनः ।

तथा प्रकरणेनापि प्राणसंनिधिबाधनम् ॥

तं प्राणवादिनं चेत् ब्रूयुः अतिवाद्यसीति, ‘अतिवाद्यस्मीति ब्रूयात् । नापह्नुवीत’ इति प्राणदर्शिनोऽतिवादित्वमभ्युपगम्य तस्माद्व्यावर्तयन् ब्रह्मविदम्, ‘एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति’ इत्याह । न चैतत् नामाद्यतिवादित्वात्प्राणविदो व्यावृत्त्यर्थम्, सत्यशब्दश्च प्राण एवेति युक्तम्; नामाद्यतिवादित्वस्य शब्दतोऽनुक्तेः ततो विशेषाप्रतीतेः, सत्यशब्दस्य च ब्रह्मणि परमार्थे रूढत्वात्, भाक्तत्वाच्च प्राणे । न च प्राणवे-

दिन एव सत्यवदनं गुणविध्यर्थम्, अतिवादित्वं प्रति सत्यस्य हेतुभाववोधितृतीयाश्रुतिविरोधात् । न च सहार्थे तृतीयेयम्, अतिवादित्वे हेत्वनुपदेशप्रसङ्गात् । न च संनिहितप्राणवचनं हेतुः कल्प्यः, श्रौतहेतुसंभवे तस्यायोगात् । न च प्रश्नेनैवार्थान्तरपरत्वम्, प्रकृतासंभवकृतत्वात्तस्य । एवम् ‘तरति शोकमात्मवित्’ इति प्रकरणादपि प्राणसंनिधिबाधः । यत्तु प्रतीकोपदेशात्तत्परत्वमिति तत्र, नामादिव्यापकवस्तूपदेशानां परमसूक्ष्मपरमव्यापकब्रह्मप्रतिपत्त्युपयोगित्वात् । तेषु प्रतीकेषु ब्रह्मदृष्टिविधीनां गोदोहनविधिवत् आश्रित्यविधानत्वादिति ॥

### अक्षरमम्बरान्तधृतः ॥ ३ ॥

कस्मिन्खल्वाकाशोऽव्याकृतमोतश्च दीर्घतन्तुवत्प्रोतश्च तिर्यक्तन्तुवदाश्रित इति गार्ग्या पृष्ठः याज्ञवल्क्यः । ‘स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु’—इत्यादिवाक्ये किमक्षरं वर्णाः, उत ब्रह्मेति संशयः—‘अक्षरसमाम्नायः’ इत्यादौ वर्णे अक्षरशब्दस्य रूढप्रयोगात्, ‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते’ इत्यादौ ब्रह्मणि च निरूढप्रयोगात् । पूर्वत्र ‘प्राणो ह पिता’ इत्यादिप्राणसार्वात्म्यं गौणमित्युक्तमयुक्तम्, अब्रह्मणोऽपि प्रणवस्य मुख्यसार्वात्म्यदर्शनादिति प्रत्यवस्थानात्संगतिः । तत्र—

रूढेर्योगाद्वलीयस्त्वादर्थानां शब्दमात्रतः ।

शब्दानां प्रणवात्मत्वादाकाशस्य स आश्रयः ॥



अश्रुते न क्षरतीति वा ब्रह्माणि यावद्योगादक्षरशब्दोऽवय-  
ववृत्त्या व्याख्यातुमारभ्यते, तावदनपेक्षसमुदायप्रसिध्या वर्ण  
एव बुद्धौ निविशमानः अवयवकल्पनां बाधेत । न च वर्णेष्वा-  
काशस्योत्प्रोतत्वे नोपपद्येते ; अर्थस्य सर्वस्य घटोऽयम्—इत्या-  
दिप्रतिभासे शब्दतादात्म्योपलम्भात् । न चैष शब्दानामर्थ-  
बुद्ध्युपायत्वकृतः, धूमोपायाया वह्निबुद्धेरपि धूमात्मकवह्निवि-  
षयत्वप्रसङ्गात् । न ह्येषा धूमो वह्निरिति वह्निं विषयीकरोति ।  
किं तु धूमाद्वह्निरिति वैयधिकरण्येन । तस्मादभेदकृतोऽयं शब्दा-  
र्थयोः सामानाधिकरण्यापलम्भः । अपि च शब्दानुपायेऽप्यर्थ-  
प्रत्यये लिङ्गेन्द्रियादिजन्यं अस्ति शब्दसामानाधिकरण्यात्मक-  
त्वोल्लेखोऽर्थस्य । तस्मान्नामसु पृथिव्यादयो अम्बरान्ताः ओताश्च  
प्रोताश्च । नामानि च ओंकारात्मकानि तद्व्याप्यत्वात् प्रणवे ;  
तद्यथा शङ्कुना पर्णमध्यस्थसिरया सर्वाणि पर्णानि पर्णाव-  
यवाः संतृण्णानि, एवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णा विद्धा  
इति श्रुतेः । तस्माद्वर्ण एवाक्षरं न परमात्मेति प्राप्ते, अभि-  
धीयते—

रूपक्रियाप्रमाभेदाद्विभेदो नामनामिनोः ।

निरन्तरप्रतीतत्वकृतभ्रान्तेस्तदेकता ॥

शब्दत्वसामान्यात्मकानि श्रोत्रग्राह्याणि अभिधेयप्रत्ययार्थ-  
क्रियाणि नामधेयान्यनुभूयन्ते । रूपधेयानि तु घटपटादीनि  
घटत्वपटत्वसामान्यात्मकानि चक्षुरादीन्द्रियग्राह्याणि क्षीरधा-  
रणप्रावरणाद्यर्थक्रियाणि ; अतश्च नामधेयेभ्यो भेदेनानुभू-

यन्ते । कुतो नामात्मकत्वममीषाम् । न च घटोऽयमिति प्रत्य-  
येऽपि इदंशब्दार्थस्य घटस्य घकारटकारात्मत्वं प्रतीयते । किं  
तु कुम्भस्य संनिहितदेशकालत्वम् । घटोपलम्भानन्तरक्षणे तु  
गृहीतसंबन्धे घटसंज्ञा घटाननुप्रविष्टैव संस्कारोद्धोधात् स्म-  
र्यते । अतश्च निरन्तरप्रतीतेः शब्दार्थयोरैक्यभ्रमः । तस्मा-  
द्वर्णानामम्बरान्तधारकत्वायोगः । स्फोटपरिग्रहे च अक्षर-  
शब्दस्य रूढित्यागस्तुल्यः । तदप्रामाणिकत्वं च वक्ष्यते ।  
तदेवमक्षरशब्दस्य रूढ्यनुपपत्तेः अम्बरान्तजगदधिष्ठाने ब्रह्म-  
णि योगाद्वृत्तिरिति ॥

### ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ ४ ॥

‘एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोकारस्तस्माद्विद्वा-  
नेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति’ इति प्रकृत्य श्रूयते— ‘यः  
पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत  
स तेजसि सूर्ये संपन्नः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्’ इत्यत्र  
परं ब्रह्म अभिध्यातव्यमुच्यते, उतापरमिति परापरब्रह्मणोः  
प्रकृतत्वात्संशयः ॥

अक्षरादम्बराधारात्प्रणवः पर्युदासितः ।

तद्व्येयमपरं किं वा परमित्यत्र चिन्त्यते ॥

इयं बुद्धिसंनिधिसंगतिः । तत्र—

ब्रह्मलोकाग्निहेतुत्वाद्ध्यानस्यार्थविभागतः ।

दर्शनध्यानयोर्ध्येयमपरं ब्रह्म गम्यते ॥

यः परं पुरुषमभिध्यायीत, स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्—इति देशपरिच्छिन्नफलत्वाद्ध्यानस्य ध्येयमपरं ब्रह्मेति गम्यते । न च ईक्षणस्य तत्त्वविषयत्वात् ध्यानस्यापि तत्समानविषयत्वात् परब्रह्मविषयता, ध्यानस्य परपुरुषविषयत्वेन दर्शनस्य परात्परविषयत्वेन च समानविषयत्वासिद्धेरिति । ईक्षणस्य च तत्त्वविषयत्वं स्वप्रेक्षणादौ सव्यभिचारमिति प्राप्ते, राद्धान्तः—

ईक्षणध्यानयोरेकः कार्यकारणभूतयोः ।

अर्थ औत्सर्गिकस्तत्त्वविषयत्वं तथेक्षतेः ॥

ध्यानस्य हि साक्षात्कारः फलम्, साक्षात्कारश्च उत्सर्गतस्तत्त्वविषयः । न चेहास्त्यपवादः । तथा च ध्यानस्यापि तद्धेतोस्तत्समानविषयतेति तत्त्वविषयता । प्रकारान्तरेण च एकविषयत्वम्—इह हि ‘स एतस्मात्’ इति प्रकृतापेक्षात् समभिव्याहरादेकवाक्यता अवगता । तदनुगृहीता च ‘परं पुरुषमभिध्यायीत’ ‘परं पुरुषमीक्षते’ इति च परपुरुषप्रत्यभिज्ञा ध्यानेक्षणयोरेकविषयत्वं गमयति । यस्तु ‘परम्’ ‘परात्परम्’ इति च रूपभेदः, स प्रतीतैकवाक्यत्वभञ्जकत्वात् ‘जीवघनात्परात्’ इत्यत्र जीवघनशब्दस्य जीवब्रह्मलोकयोरन्यतरविषयत्वम्, न तु ध्यातव्यपुरुषविषयत्वमिति नेतव्यः । जीवो ह्यौपाधिकत्वेन घनः, जीवानां च समष्टिकरणात्मनि हिरण्यगर्भे करणद्वारा अस्ति घनीभावः; तन्निवासत्वात् ब्रह्मलो-

कोऽपि जीवघनः । ब्रह्मलोकप्राप्त्युपदेशोऽपि क्रममुक्तिपर-  
त्वादविरुद्धः । न चैवं 'परं चापरं च ब्रह्म' इत्यत्रापरब्रह्मो-  
पक्रमस्य निष्प्रयोजनत्वम्, त्रिमात्रायतनोपास्तेः परब्रह्मविष-  
यत्वात्, प्रणवगतैकैकमात्रायतनोपास्तेरपरविषयत्वादिति ॥

**दहर उत्तरेभ्यः ॥ ५ ॥**

‘अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मि-  
न्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासि-  
तव्यम्’ इत्यादि । तत्र द्विर्वा विचारः— किं दहराकाशादन्य-  
दन्वेष्टव्यम्, उत दहराकाश इति ; यदा ‘तस्मिन्यदन्तः’ इ-  
त्यत्र तच्छब्दस्याकाशेनान्वयः, तदा आकाशादभ्यन्तरस्यान्वे-  
षणा । यदा दहरपुण्डरीकेण, तदा आकाशस्यान्वेष्टव्यत्वमिति ।  
यदापि दहराकाशः, तदा स किं भूताकाशः, किं वा जीवः,  
उत परमात्मेति । अत्र च संशये कारणमाकाशब्रह्मपुरशब्दौ—  
आकाशशब्दो हि लोके नभसि रूढः ; ब्रह्मणि च वेदे निरूढः ;  
ब्रह्मपुरशब्दोऽपि ब्रह्मणः पुरमिति विग्रहे ब्रह्मशब्दादीश्वरः  
प्रतीयते । षष्ठ्या च पुरःस्वामी जीवः । तत्र आकाशा-  
दन्यदन्वेष्टव्यमिति प्राप्तम् । तथा हि—

संनिकृष्टान्वये लभ्ये विप्रकृष्टेन नान्वयः ।

तच्छब्दस्यात आकाशादन्तर्गतमुपास्यताम् ॥

यदा ‘दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तः’ इति तच्छब्देन  
अव्यवहितमाकाशं परामृश्यते, तदा तच्छब्दस्य संनिकृष्टान्व-

यो लभ्यते । यदा तु 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म' तस्मिन्पुण्डरीके यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्— इत्यन्वयं कृत्वा किं तस्मिन्विद्यते इत्याकाङ्क्षायाम् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति वाक्यं योज्यते, तदा तच्छब्दस्य व्यवहितान्वयप्रसङ्गः । अत्रोच्यते—

यावान्वा अयमित्यादावाकाशव्याप्तिवर्णनान् ।

न ततोऽन्तर्गतं चिन्त्यं दिवादेस्तत्प्रसङ्गतः ॥

इह हि 'यावान्वा अयमाकाशः तावानेधोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्याकाशमहिमवर्णनान् तदेवोपास्यम् । इतरथा तदभिधानवैयर्थ्यात् । तदप्याकाशान्तर्गतवस्तुप्रतिपत्त्यर्थमिति चेत्, न । तथा सति 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इत्यादिना अभिहितस्य द्यावापृथिव्यादेरुपास्यत्वप्रसङ्गात् । 'अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्येताः सत्यान्कामास्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इत्यात्मोपास्तेः फलवत्त्वावगमात् । 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इति समाधानाधारत्वेनोक्तस्याकाशस्य 'अस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मा' इत्यभिहितस्यात्मनश्च समाधानाधारत्वेन प्रत्यभिज्ञया एकत्वावगमाच्च । 'एषः' इति 'आत्मा' इति च एकवचनपुंलिङ्गशब्दाभ्यां तद्रूपेणोक्ताकाशाभिधानस्य न्याय्यत्वाच्च । एवं च 'तस्मिन्' इत्यस्य व्यवहितपुण्डरीकेण संबन्धः संनिहिताकाशसंबन्धासंभवादिति । यदा च दहराकाश एवान्वेष्टव्यः, तदा स भूताकाशः, तत्राकाशशब्दस्य रूढत्वान्

पुण्डरीकावच्छिन्नस्य च नभसो बाह्येनोपमानात्; आकाश-  
स्वरूपाविशेषाच्च हार्दनभसो द्यावापृथिव्याद्याश्रयत्वोपचारा-  
दिति पूर्वपक्षः तुच्छः, वाक्यशेषगतबहुलिङ्गेष्वात्मश्रुतौ च  
सत्याम् अस्याः शङ्काया अनुत्थानात्, 'आकाशस्तलिङ्गात्'  
इत्यादौ च रूढित्यागस्य आश्रितत्वात् । तथा हि—

तेन तस्योपमेयत्वं रामरावणयुद्धवत् ।

अगत्या भेदमारोप्य गतौ सत्यां न युज्यते ॥

‘रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव’ इत्यत्र हि एकस्मिन्नपि  
युद्धे अगत्या भेदं परिकल्प्य उपमेयत्वसिध्यर्थमेवं व्यपदि-  
श्यते । अस्ति तु इह दहराकाशस्य नभसोऽन्यत्वादुपमोक्ते-  
र्गतिः । तथा ‘एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः’  
इत्यादि द्रष्टव्यम् । तस्माज्जीवपूर्वपक्ष एव अत्र दृढः । पूर्वत्र ईक्ष-  
तिध्यायतिकर्मणोः परपुरुषविषयत्वेन प्रत्यभिज्ञानादैक्ये सति  
ध्यायतिकर्म परं ब्रह्मेत्युक्तम्, तदयुक्तम्, दहरवाक्योपक्रमो-  
क्तजीवस्य वाक्यशेषे ‘स उत्तमपुरुषः’ इति उत्तमपुरुषश-  
ब्दाभिधानात्, तद्वत्परपुरुषशब्दस्याप्यब्रह्मविषयत्वसंभवात्—  
इत्याशङ्कापाकरणात् संगतिः । तत्र—

आधेयत्वाद्विशेषाच्च पुरं जीवस्य युज्यते ।

देहो न ब्रह्मणो युक्तं हेतुद्वयवियोगतः ॥

जीवस्य परिच्छिन्नत्वेन ‘ब्रह्मपुरे’ इति सप्तमीनिर्दिष्टाधारं

प्रति आधेयत्वात् भोगायतनेन भोक्तृविशेषसंबन्धाच्च जीवस्य ब्रह्मणः पुरमिति समासान्तर्वर्तिषष्ठ्युक्तसंबन्धोपपत्तेः तस्यैव शरीरं पुरं युज्यते । न ब्रह्मणः, तस्य सर्वगतत्वेनानाधेयत्वात्, शरीरेण विशेषसंबन्धाभावाच्च । कारणत्वेन संबन्धस्य सर्वविकारसाधारण्यात् । असाधारणनिमित्ता हि व्यपदेशा भवन्ति । तद्यथा क्षितिजलपवन-बीजादिसमवधानजन्माप्यङ्कुरः शालिबीजेन व्यपदिश्यते शाल्यङ्कुर इति । न क्षित्यादिभिः, तेषां कार्यान्तरेष्वपि साधारणत्वात् । ननु जीवस्वामिकेऽपि पुरे पुण्डरीकवेश्मनि आकाशशब्दं ब्रह्म वर्तताम्— यथा वत्सराजस्य पुरे उज्जयिन्यां चैत्रः स्वगृहे वर्तते इति । नैतत्, वेश्मनोऽनिर्दिष्टाधेय-विशेषस्याधेयाकाङ्क्षायां ब्रह्मपुरशब्दसंनिहितपुरस्वामिनो जीवस्याधेयत्वेन संबन्धात् । ब्रह्मशब्दस्य च रूढिं परित्यज्य देहादिवृंहकत्वयोगाद्वा चैतन्यगुणयोगाद्वा जीवेऽपि प्रवृत्तत्वादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

ब्रह्मेति प्रकृतिः षष्ठ्याः प्राधान्याद्बलवत्तरा ।

ब्रह्मातो दहरः षष्ठी नेया तदनुसारतः ॥

यदुक्तं ब्रह्मणः पुरेण असाधारणसंबन्धाभावात् ब्रह्मणः पुरमिति षष्ठ्यनुपपत्तिरिति, तन्न, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थस्य विशेष्यस्य प्राधान्यात्, तद्विशेषणभूतषष्ठ्यर्थस्य तदनुसारेण ब्रह्माणि नेतव्यत्वात् । तथा हि—



उपलब्धेरधिष्ठानं ब्रह्मणो देह इष्यते ।

तेनासाधारणत्वेन देहो ब्रह्मपुरं भवेत् ॥

देहे हि ब्रह्मोपलभ्यत इत्यसाधारणतया देहो ब्रह्मपुर-  
मिति व्यपदिश्यते । ‘पुरे’ इत्याधारनिर्देशोऽपि प्रथमश्रुतब्रह्म-  
शब्दानुसारेणोपलब्ध्याधारत्वपरः । अस्तु वा ब्रह्मपुरं जीवपु-  
रम् ; तथापि वत्सराजपुरे चैत्रसदनवत् जीवपुरे ब्रह्मसदनं  
हृदयपुण्डरीकं भविष्यति । न च संनिधानाज्जीव एव वेश्मना-  
धेयत्वेन संबध्यत इति वाच्यम् । उत्तरेभ्यः अहरहर्ब्रह्मलोकग-  
त्यादिलिङ्गेभ्यो ब्रह्मावगमात्, संनिधेश्च लिङ्गादुर्बलत्वा-  
दिति ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ ६ ॥

अन्तरागर्भितमिदमधिकरणम् । दहरविद्यान्नायोपरि इ-  
न्द्रविरोचनयोर्हिरण्यगर्भेण सह संवादरूपायामाख्यायिकायां  
समाम्नायते— य आत्मापहतपाप्मत्वादिमान् सोऽन्वेष्टव्यः—  
इत्युपक्रम्य— य एषोऽक्षिणि पुरुषो जाग्रदवस्थायां दृश्यते,  
एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति, तथा य एष  
स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाच, तथा तद्यत्रैतत्सु-  
प्तः समस्तः, उपसंहृतकरण इत्यर्थः, संप्रसन्नः स्वप्नं न विजा-  
नाति एष आत्मेति होवाच, तथा एष संप्रसादोऽस्माच्छरी-  
रात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते  
इति । तत्र योऽयं जाग्रदाद्यवस्थासु तुरीये च पर्याये निर्दिष्ट



आत्मा, स किं जीवः, परमात्मा वेति संशयः, अवस्थात्रय-  
लिङ्गादमृताभयत्वादेश्च । पूर्वत्र अपहतपाप्मत्वादिलिङ्गात्  
दहरो ब्रह्मेत्युक्तम् । तत्र अपहतपाप्मत्वादेर्जीवेऽपि अनेन  
वाक्येन अभिधानादनैकान्तिकत्वमिति प्रत्यवस्थानात् संग-  
तिः । तथा हि—

अवस्थावत्त्वतो देहादुत्थितेर्जीव एव सन् ।

उपाध्यपगमात्पाप्ममृत्युशोकादिवर्जितः ॥

जाग्रदाद्यवस्थावत्त्वं शरीरात्समुत्थानं च जीवस्यैव सं-  
भवति; न च तस्यापहतपाप्मत्वाद्यसंभवः । शरीराद्युपा-  
धिको हि अस्य पाप्मादिः, तन्निवृत्तौ निवर्तत इति ।  
उत्तरम्—

उपाधिभिर्वियुक्तस्य जीवस्य ब्रह्मरूपतः ।

अपापत्वादि तस्मिंश्चेद्ब्रह्मण्येव तदिष्यताम् ॥

**अनुकृतेस्तस्य च ॥ ७ ॥**

‘न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतो-  
ऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं  
विभाति’ इत्यत्र यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा  
सर्वमिदं विभाति, तत्किं तेजः, उत ब्रह्मेति सप्तम्याः सति  
विषये च साधारण्यात्संशयः । पूर्वम् ‘एतं त्वेव ते’ इत्ये-  
तच्छब्दस्य प्रकृतार्थत्वात् दहरस्य जीवता निरस्ता; तदयु-

क्तम्, 'तत्र' इत्यादौ सर्वनाम्नः प्रकृतार्थत्वानियमादिति प्रत्य-  
वस्थानात्संगतिः । 'तत्र' इति विषयसप्तमीस्वीकारे न तद्भा-  
सयतीति णिजध्याहारप्रसङ्गात् सतिसप्तमीयम् । तथा च—

अभानं तेजसो दृष्टं सति तेजोऽन्तरे यतः ।

तेजो धात्वन्तरं तस्मादनुकाराच्च गम्यते ॥

बलीयसा सौरेण तेजसा मन्दतेजश्चन्द्रतारकाद्यभिभूयते,  
नाल्पतेजसा । तस्माद्यत्र सति सूर्याद्यभिभूयते, तत्तेजः । न च  
प्रदीपपिधायकघटगृहादौ व्यभिचारः, तस्याभासकत्वात् । अस्य  
तु अभिभावकस्य 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति भासक-  
त्वश्रवणात् । विमतं तेजः, प्रकाशकत्वे सति तेजोऽभिभावक-  
त्वान्-सूर्यवत् । न च 'सर्वमिदं विभाति' इति सर्वलिङ्गात्पर-  
मात्मेहाभिमत इति युक्तम्, सर्वशब्दस्य प्रकृतसूर्याद्यपेक्षत्वान् ।  
न च अनिन्द्रियभावमापन्नस्य तेजसः कथं तेजःप्रकाशकतेति  
सांप्रतम् । अस्य तेजसोऽन्यत्रादृष्टस्यापि तेजःप्रकाशकत्वस्य  
श्रुतिवशादाश्रितत्वात्, अनिन्द्रियत्वेऽप्यविरोधान् । न चैव-  
मतेजस्यपि ब्रह्मणि श्रुतिवशादभिभवानुकारौ किमिति नाश्रि-  
ताविति वाच्यम् । अन्याय्ययोः द्वयोः श्रुतिवशादाश्रयणे श्रुति-  
शिरसि गुरुतरभारारोपप्रसङ्गात् । तस्मादभिभवादिह तेजो-  
ऽन्तरं गम्यते । अनुकाराच्च गम्यते; अनुभानं ह्यनुकारः; स च  
समानेष्वेव दृष्टः गच्छन्तमनुगच्छतीति । यद्यपि 'यस्मिन्द्यौः  
पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' इति ब्रह्म प्रकृतम्, तथाप्यभिभवानु-

कारलिङ्गाभ्यां प्रकरणबाधया तेजः । न च 'तत्र' 'तम्' 'तस्य'  
इति सर्वनामश्रुतिभिः प्रकृतब्रह्मपरामर्शाच्छ्रुतिभिरेव लिङ्ग-  
बाध इति सांप्रतम् । न हि सर्वनामश्रुतिर्नियमेन प्रकृतमेव  
परामृशतीति नियन्तुं शक्यम् । 'तेन रक्तं रागात्' 'तस्याप-  
त्यम्' इत्यादौ पूर्वोक्ताभावेन तच्छब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वा-  
दर्शनात् । ततश्चेदिहैव तच्छब्दैर्ब्रह्माप्यमाणं परामृश्यते, तर्हि  
तेज एव परामृश्यतामिति तेज एवालौकिकमिहोपास्यत्वेन  
गम्यते इति प्राप्ते, अभिधीयते—

ब्रह्मण्येव हि तल्लिङ्गं न च तेजस्यलौकिके ।

तस्मान्न तदुपास्यत्वं ब्रह्म ज्ञेयं तु गम्यते ॥

न तावत् 'न तत्र' इति सतिसप्तमी, तथा सति हि तेजः-  
प्रतिरोधितेजसः प्रकाशमानत्वेन तेजःप्रकाशकत्वासंभवात्  
'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति भासमानस्य सतः सूर्यादि-  
सर्वजगदवभासित्वमसंकुचद्वृत्ति सत् विरुध्येत । तथा सति  
लोकशब्दानवगतं दृष्टतेजोविपरीतं तेजः परिकल्प्य तदुपास्तिः  
कल्प्या । ततो वरम् 'भारूपः सत्यकामः' इति 'अगृह्यो न हि  
गृह्यते' इति च अविषयस्य सर्वावभासकस्य ब्रह्मणः श्रुतिप्रसि-  
द्धस्येह ग्रहणम् । तथा च 'तत्र' इति विषयसप्तमी । 'न तद्भा-  
सयते' इति स्मृतेरपि विषयसप्तमीयम् । तथा च अभिभवरूप-  
तेजोलिङ्गमसिद्धम्, अपि तु ब्रह्मण्येवैतदुक्तप्रकारेण लिङ्गम् । न  
च अत्र भासयतीति णिजध्याहारप्रसङ्गः । 'तत्र' इति विषयत्वे

उक्ते अर्थाद्विषयित्वेन भासयतीति लभ्यत्वात् । तस्मात् 'ज्यो-  
तिषां ज्योतिः' इति प्रकृतम्, तत्किमित्यपेक्षायां ज्ञेयं ब्रह्मेह  
प्रतिपाद्यते । अनुकारस्तु सजातीयत्वे नैकान्तः, तन्नायःपिण्डो-  
ऽग्निं दहन्तमनुदहतीति दर्शनात् । अपि च 'तत्र' इत्यादि-  
भिः सर्वनामभिः प्रकृतं ब्रह्म परामृष्टव्यम् । 'तेन रक्तम्'  
इत्यादौ च प्रकृतेः परस्य प्रत्ययस्यार्थविशेषे अन्वाख्यायमाने  
पूर्वस्याः प्रकृतेरर्थस्य सतः प्रकृतस्य तच्छब्देन परामर्श इति  
न सर्वनाम्नः प्रकृतार्थत्वव्यभिचारः ॥

### शब्दादेव प्रमितः ॥ ८ ॥

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मानि तिष्ठति । ईशानो भूत-  
भव्यस्य स एवाद्य स उ श्र एतद्वै तत्' यदन्यत्र धर्मादिति  
पृष्टम्-इत्यत्र अयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः किं जीवः उपास्यत्वेनो-  
पदिश्यते, उत परमात्मा ईश्वरत्वेन प्रतिपाद्यते इति संशयः ।  
कस्मात् ?

नाञ्जसा मानभेदोऽस्ति परस्मिन्मानवर्जिते ।

भूतभव्येशिता जीवे नाञ्जसी तेन संशयः ॥

यद्यत्र परमात्मा प्रतिपाद्यः, तर्हि परिमाणविशेषप्रतिपाद-  
काङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्न मुख्या । यदि जीवः, ईशानश्रुतिर्न मुख्या ।  
अत एकत्र गौणता । सा च केत्यज्ञानात्संशयः । पूर्वं सति  
विषये च साधारणा सप्तमी 'न तद्भासयते' इति विषयत्वनि-  
षेधकस्मृत्या विषये व्यवस्थापिता । तद्वत्परिमाणमपि जैवमै-

श्वरं वेति संशये, 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्' इति निर्णीतार्थस्मृत्या जैवमिति प्रत्यवस्थानात् संगतिः । तत्र—

उपाधिना विना पूर्वं परिमाणोपवर्णनात् ।

भूतभव्येशिता पश्चात्तनी जैवीति नीयताम् ॥

हृत्पुण्डरीकस्थाननिर्देशाद्धि दहरत्वं परमात्मन एवौपाधिकं युक्तम् । न च अत्र स्थानं किञ्चिन्निर्दिष्टम्, परिमाणमात्रनिर्देशात् । न च अत्रापि 'मध्य आत्मनि' इति स्थानविशेषो गम्यते । आत्मशब्दो ह्ययं स्वभाववचनो वा जीववचनो वा ब्रह्मवचनो वा स्यात् । तत्र स्वभावस्य स्वभवित्रधीननिरूपणतया स्वस्य भवितुरनिर्देशात् न ज्ञायते कस्य मध्य इति । न च जीवपरयोरस्ति मध्यमञ्जसेति—नैष स्थाननिर्देशः स्पष्टः । तस्मादुपाधिमन्तरेण परिमाणनिर्देशात्तस्य च प्रथमत्वाज्जीवस्य च परमात्मावच्छेदस्योपाध्यन्तरमन्तरेण परिमितत्वाच्चरमप्रतीतं भूतभव्येशानत्वमापेक्षिकं व्याख्येयमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

प्रश्नोत्तरत्वादीशानश्रवणस्याविशेषतः ।

जीवस्य ब्रह्मरूपत्वप्रत्यायनपरं वचः ॥

अङ्गुष्ठमात्रश्रुतेः प्राथम्यमसिद्धम् । ततोऽपि प्राक् 'अन्यत्र धर्मात्' इति परमात्मनः पृष्टत्वात् । तदनन्तरस्यास्य संदर्भस्य तत्प्रतिवचनतोचिता । तर्हि जीवनिर्देशस्य का गतिरिति,

उच्यते— अङ्गुष्ठमात्रजीवानुवादेन विरुद्धांशप्रहाणेन तस्ये-  
शानत्वप्रतिपादनपरमिदं वाक्यम्— तत्त्वमस्यादिवन् । एवं  
भूतभव्येशानत्वं न संकोचयितव्यम् ॥

**तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥ ९ ॥**

इदानीं नरवहेवादीनां ब्रह्मविद्यासाधनवेदान्तवाक्यविचा-  
रादिषु अधिकारोऽस्ति न वेति विचार्यते, तेषां सामर्थ्यासंभ-  
वसंभवाभ्याम् । यद्यपीयं चिन्ता शास्त्रसंगता, तथापि समन्व-  
यलक्षणे साक्षादसंगतेति प्रासङ्गिकी । अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनु-  
ष्यहृदयापेक्षा, मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तम् । तर्हि वेदा-  
न्ता अपि मनुष्याधिकारा एवेति प्राप्य प्रतिविधीयते ।  
यद्यप्ययमधिकारविचारो न देवादिप्रवृत्त्यर्थः, तथापि क्रममु-  
क्तिफलोपास्तिषु भोगद्वारा मोक्ष्यमाणमनुष्यप्रवृत्त्यङ्गम् ।  
तत्र—

देवानामशरीरत्वाद्वेदाध्ययनवर्जनान् ।

दृष्टशास्त्रीयसामर्थ्यहानेर्विद्या न विद्यते ॥

अपि च ।

नानादेशे नैकदैवैकदेवो यागानां स्यात्संप्रदानं विरोधात् ।

देहध्वंसे ध्वंसमापद्यमानः शब्दैर्नित्यैर्नैष शक्योऽभिधातुम् ॥

अत्रोच्यते—

विध्येकवाक्यतां यातुं योऽर्थः शब्दैरतत्परैः ।

अविरुद्धः प्रतीयेत स तैरेव प्रमीयते ॥

मन्त्रार्थवादा हि ‘जगृभ्णाते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्’, ‘मे-  
धातिथेर्मेघ’ इत्यादयः स्वार्थमात्राभिधानस्याप्रयोजनत्वाद्विधि-  
भिरेकवाक्यतां प्राप्नुवन्तो विध्यपेक्षितदेवताः विग्रहादिमतीरव-  
गमयन्तः तद्वारेण विधेयप्राशस्त्यं लक्षयन्ति— ईदृग्देवताक-  
त्वादिदं कर्म प्रशस्तमिति । न पुनरविवक्षितस्वाभिधेयाः ; तथा  
सति अभिधेयाविनाभावलक्षणाबीजस्यासंभवे लक्षणैव न  
स्यात् । अत एव हि गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गाशब्दः स्वाभिधे-  
यस्य विवक्षितत्वात् स्वार्थसंबद्धमेव तीरं लक्षयति, न तु समु-  
द्रतीरम् । तथा च यत्र सः अर्थवादानां द्वारीभूतोऽर्थः प्रमा-  
णान्तरेण बाध्यते, तत्रार्थवादस्य प्राशस्त्यलक्षणयापि सावका-  
शत्वाद्गुणलक्षणया प्राशस्त्यं लक्ष्यत इति लक्षितलक्षणा—  
यथा ‘यजमानः प्रस्तरः’ इति । यत्र तु प्रमाणान्तरेण संवा-  
द्यते— यथा ‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता’ इति, तत्र द्वयोरपि पर-  
स्परानपेक्षत्वेन प्रवृत्तेः प्रत्यक्षानुमानयोरिव प्रामाण्यम् ; यत्र तु  
न संवादविसंवादौ— ‘जगृभ्णाते’ इत्यादौ, तत्रापि अर्थवादा-  
त्सोऽर्थः तथाभूत एव प्रतिपाद्यते ; स्वतः प्रामाण्यात्, मुख्य-  
संभवे गौणस्यानवकाशाच्च । तथा सति अनधिगतं विग्रहादि  
प्रतिपादयद्वाक्यं भिद्येतेति चेत्, सत्यं भिन्नमेवैतद्वाक्यम्,  
वाक्यैकवाक्यत्वाद्विध्यर्थवादयोः । तथा सति तात्पर्यभेदो-  
ऽपि स्यात्, एवं च कचिद्विरुद्धार्थार्थवादिषु गौणार्थता न  
स्यात्, तत्परत्वादेव ; तत्परवाक्यस्यापि प्रमाणान्तरविरोधेन  
गौणार्थत्वे वेदान्तेष्वपि द्वैतग्राहिमानविरोधाद्गौणार्थता स्या-

दिति चेत्; न, औपनिषदस्य ब्रह्मणो मानान्तरायोग्यतया बाधासंभवेन अगौणत्वात्; तात्पर्यगम्यविधेयस्तुतौ द्वारतोऽपि देवताविग्रहाद्यवगतौ तत्र तात्पर्यकल्पनानुपपत्तेः । न च यत्न यस्य न तात्पर्यं तत्र तस्याप्रामाण्यम्; यतः—

विशेषणानि मीयन्ते विशिष्टविधिभिर्यथा ।

अतत्परैस्तथा देवदेहा मन्त्रार्थवादतः ॥

‘एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत’ इत्यत्र रेवतीनामृचां वारवन्तीयसाम्नश्च संबन्धो विशेषणं मानान्तरागम्यम्; तद्विशिष्टयागविधिर्न विशेषणपरः; तथा सति विध्यावृत्त्यापातात् । अथ च विशेषणेऽपि प्रमाणम् । न च विशिष्टविषयत्वेन विशेषणाक्षेपः; तथा सति परस्पराश्रयात्— आक्षेपाद्विशेषणप्रतिपत्तौ सत्यां विशिष्टविषयत्वम्; विशिष्टविषयत्वाच्च तदाक्षेप इति । न च कर्मणि विरोधः, मन्त्रार्थवादप्रमितैश्चर्याणां देवतानां नानाविग्रहवतीनामन्तर्धानादिशक्त्यांगात् परैरदृष्टानां युगपदनेकदेशवर्तियागेषु संप्रदानत्वसंभवात् । न च शब्दे विरोधः; अवान्तरप्रलये वस्वादिशब्दानां विद्यमानत्वात् तेषां च वसुत्वादिजात्यर्थत्वात् महाप्रलये शब्दानां संस्कारशेषं लीनानां पूर्वक्रमसदृशक्रमवतां पुनरुद्भवात् अर्थानां च जातीनां पूर्वसदृशीनामुत्पादात् वर्णनित्यत्वपक्षेऽपि क्रमोपगृहीतवर्णानां वेदत्वात् क्रमस्य उच्चारणोपलब्ध्योरन्यतरधर्मस्यानित्यत्वात् तत्सादृश्यनियम-



स्यैव वेदानित्यत्वप्रयोजकत्वात् । जन्मान्तरे च विधिवदधीत-  
वेदस्य देवजन्मन्याविर्भावात् स्मर्यमाणवेदात् देवानां विद्या  
स्यात् । अस्माकमपि वेदो न अधीयमानदशायामेवार्थबोधकः ;  
किं तु अध्ययनोत्तरकालं मीमांसादिसहकृतः स्मर्यमाण  
एवेति ॥

**शूद्रस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणा-**

**त्सूच्यते हि ॥ १० ॥**

शूद्रस्य ब्रह्मविद्यासाधनवेदान्तवाक्यविचारादिषु अधिका-  
रोऽस्ति न वेति अध्ययनस्य प्रधानकर्मत्वसंस्कारकर्मत्वाभ्यां  
संशयः । पूर्वत्र अत्रैवर्णिकदेवानाम् ‘तद्यो यः’ इति लिङ्गादधि-  
कार उक्तः । तद्वद्विद्याधिकारिणः शूद्रशब्देन परामर्शल्लिङ्गा-  
च्छूद्रस्याप्यधिकारः । श्रूयते हि— ‘अहं हारेत्वा शूद्रं तवैव  
महं गोभिरस्तु’ इति । न च ब्रह्मविद्यायामलौकिकमस्ति  
साधनम्, यच्छूद्रस्य न स्यात् । वेदार्थावबोधे अध्ययननि-  
यमस्य स्वाध्यायविध्यबोधितत्वान् । शूद्रस्य उपनीतद्विजात्य-  
धिकारकाध्ययनाभावान् ब्रह्मज्ञानसाधनविचारादावनधिकार  
इति चेत्, न ; यतः—

अनारभ्यविधेः कर्मव्याप्तार्थानाश्रितत्वतः ।

न क्रत्वर्थेऽस्य नियमो न पुमर्थेऽनभीष्टतः ॥

‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ इति हि विधिः कंचित्कर्तुं प्रकृत्य  
न पठ्यते । न च स्वाध्यायः केनचित्कर्तुना जुहूवन्नियतसं-

बन्धः ; यतस्तेनोपस्थापिते क्रतौ अध्ययनं वाक्येन क्रतुसंबन्धमनुभवेत् । तस्मान्न क्रत्वर्थेऽक्षराधिगमे अर्थबोधे वा अध्ययनं नियन्तुं शक्यते । नापि पुरुषार्थे, पुरुषेच्छाधीनप्रवृत्तिर्हि पुरुषार्थः ; न च स्वाध्यायावाप्तिः तदर्थधिगमो वा विधिं विना पुरुषेच्छाधीनप्रवृत्तिः ; प्रवृत्तिविषयस्य इष्टसाधनत्वेन इष्टत्वेन वा अनधिगतत्वात् । तस्मान्न पुरुषार्थे अध्ययनं नियन्तुं शक्यम् । तस्माद्विधिविपरिणामेन अध्ययनेन अदृष्टं फलं कल्प्यम् । अतः अध्ययनविधेरनियामकत्वात् शूद्रस्याध्ययनेन वा पुस्तकादिपाठेन वा वेदार्थाधिगमसिद्धेः सामर्थ्यसंभवात् सोऽपि ब्रह्मविद्यायामधिक्रियते ॥

एवं स्वाध्यायविधिना विरोधेऽपाकृते सति ।

अर्थवादगताल्लिङ्गादपि शूद्राधिकारिता ॥

लिङ्गं च दर्शितम् 'अहं हारेत्वा शूद्र' इत्यादि । दृष्टश्च अत्रैवर्णिकस्यापि निषादस्थपतेरिष्ट्यधिकारः । एवमत्रापीति प्राप्ते, अभिधीयते—

सामर्थ्यरूपलिङ्गेन लोककल्पस्या च वृंहितात् ।

तव्यप्रत्ययतो वेदः संस्कार्योऽध्ययनान्मतः ॥

अध्ययनसामर्थ्यादवाप्तवेदादभ्युदयनिःश्रेयसोपयोग्यत्वावबोध उत्पद्यते । तेन सामर्थ्यादर्थबोधे अध्ययनं विनियुज्यते । विशेषनिष्ठत्वाच्चास्य लिङ्गस्य न सामान्यसंबन्धापेक्षा । 'अध्येतव्यः' इति च तव्यप्रत्ययेन स्वाध्यायस्य कर्मत्वम् अध्ययनस्य

तं प्रति गुणत्वमवगतम् । तथा च अध्ययनविधिः अध्ययनस्या-  
पेक्षितोपायत्वमवगमयन् अवाप्तस्वाध्यायसामर्थ्यसिद्धे अर्था-  
वबोधे दृष्टफले सति नादृष्टं कल्पयति । न च श्रुतपदान्वया-  
नुरोधेन अध्ययनस्य गुणकर्मत्वसंभवे 'स्वाध्यायेनाधीयीत'  
इति अश्रुतपदान्वयकल्पनया प्रधानकर्मत्वस्वीकारेण स्वर्गादि-  
फलकल्पना उचिता । तस्मात् अध्ययनसंस्कृतेन स्वाध्यायेन  
जन्यमानोऽर्थावबोधः फलवत्कर्मब्रह्मसाक्षात्कारोपयोगी । अ-  
ध्ययनं च उपनीतस्यैव, 'उपनयीत' 'तमध्यापयीत' इति वच-  
नात् । उपनयनं च त्रैवर्णिकस्यैव 'अष्टवर्षे ब्राह्मणमुपनयीत'  
इत्यादिवचनात् । तथा च शूद्रस्य वेदाध्ययनाभावात् न वि-  
द्याधिकार इति । एवं च अध्ययनविधिविरोधे अर्थवादगत-  
लिङ्गं न शूद्रमधिकारयितुमलम् । निषादस्य तु विधिवला-  
दिष्ट्यधिकार इति वैषम्यम् । शूद्रशब्दस्तु वर्णितेन प्रकारेण  
रूढ्यसंभवे क्षत्रिये एव जानश्रुतौ शुचमभिदुद्राव इत्यादि-  
योगाद्वर्तयितव्यः ॥

अपि च—

राजयाजककापेययाज्यस्याभिप्रतारिणः ।

प्रायेऽपाठि यतो जानश्रुती राजा ततो भवेत् ॥

कम्पनात् ॥ ११ ॥

‘यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतं महद्भयं वज्र-  
मुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति’ इत्यत्र वायुः प्राणः संवर्ग-

विद्यायामिव उपास्यत्वेन आम्नायते, उत ब्रह्म ज्ञेयं प्रतिपाद्यते—इति प्राणशब्दस्योभयत्र प्रयोगदर्शनात् सर्वश्रुतिप्राणश्रुतिभ्यां वा संशयः । वज्रोद्यमनहेतुत्वेन च अत्र वायुप्रतीतिः । न हि आध्यात्मिकप्राणो वज्रोद्यमननिमित्तमिति । अस्त्राधिकरणस्य अनुप्रसक्तेन अपशूद्रविचारेण न संगतिरिति व्यवहितेन उच्यते— ‘शब्दादेव प्रमितः’ इत्यत्र ब्रह्मवाक्ये जीवानुवादो ब्रह्मैक्यबोधायेत्युक्तम् । इह तु प्राणस्य स्वरूपेण कल्पितस्य न ब्रह्मैक्यसंभवः । यतोऽनूद्येत । अतस्तदुपास्तिविधिरिति प्रत्यवस्थीयते । ‘प्राणमेवाभिसंविशन्ति’ इत्यत्र निरपेक्षकारणत्वपरैवकारश्रवणात् ब्रह्मपरत्वम् ; इह तदभावात् ‘अत एव प्राणः’ इत्यनेन अगतार्थत्वम्, उपक्रमोपसंहारैकरूप्यस्य अस्पष्टत्वाच्च प्रातर्दनविचारेणापीति । तत्र—

प्राणवज्रश्रुती वायोरन्यत्रार्थं न विन्दतः ।

सर्वशब्दस्तु संकोच्यः स्वार्थलेशस्य लाभतः ॥

ब्रह्मपरिग्रहे हि प्राणवज्रशब्दौ स्वार्थं सर्वथैव त्यजतः, वज्रमुद्यतमित्युपमोपादानात् । ब्रह्मनिमित्तं वज्रमुद्यतमिति व्याख्यानेऽपि वज्रेण ब्रह्मणः असाधारणसंबन्धाभावाद्वज्रशब्दार्थत्यागः । वायोर्वाक्यार्थत्वे तु प्राणशब्दस्तावत् प्राणभावापन्ने वायवार्थवान् । वज्रशब्दोऽपि पर्जन्यभावेन परिणममानस्य वायोरेवाशनिभावापत्तेः सार्थकः । यद्यपि सर्वं जगत् इति सवायुकं जगत्प्रतीयते, तथापि सर्वशब्दो वायुकार्या-

पेक्षया संकोच्यमानोऽपि न स्वार्थं जहाति ; किं तु अर्थैक-  
देशं लभते । तस्मात्स्वार्थत्यागाद्वरं वृत्तिसंकोच इति प्राप्ते,  
अभिधीयते—

पूर्वापरैकवाक्यत्वप्रक्रियाभ्यां समन्वितः ।

सर्वशब्दस्य संकोचः श्रुत्यर्थत्यागकारणम् ॥

न श्रुतिसंकोचमात्रं श्रुत्यर्थपरित्यागे हेतुः । अपि तु पूर्वा-  
परवाक्याभ्यामख्य वाक्यस्य एकवाक्यत्वेन प्रकरणेन च संव-  
लितश्रुतिसंकोचः । पूर्वत्र हि ‘तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म’ इति ब्रह्म  
निर्दिष्टम् । परत्र च ‘भयादस्याग्निस्तपति’ इति ब्रह्म निर्दे-  
क्ष्यते । ताभ्यां वाक्याभ्यामिदं वाक्यमेकवाक्यतां लभेत यदि  
ब्रह्मपरं स्यात् । ‘अन्यत्र धर्मान्’ इति च ब्रह्म प्रकृतम् ॥

**ज्योतिर्दर्शनात् ॥ १२ ॥**

‘एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य  
स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते’ इत्यत्र ज्योतिः आदित्यो ब्रह्म वा—  
इति ज्योतिःश्रुतेः परश्रुतेश्च संशयः । पूर्वत्र सर्वशब्दस्येव इह  
न कस्याश्चिच्छ्रुतेः संकोचः । अथवा प्रागिव इहापि ‘समु-  
त्थाय’ इत्यादिश्रुतिसंकोचात् ‘स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदा-  
दित्यं गच्छति’ इति नाडीखण्डप्रस्तुतादित्यप्रकरणाच्च आदित्य  
एव ज्योतिः । तथा हि—

समुत्थायोपसंपद्य तथा ज्योतिरितीह हि ।

श्रुतीनां तिसृणां पीडा ब्रह्मपक्षे प्रसज्यते ॥

ब्रह्मज्योतिः व्यापीति न तत्प्राप्तौ शरीरात्समुत्थानापेक्षा ।  
 तथा परंज्योतिष एव स्वरूपत्वात् तत्प्राप्तिरप्येकैवेति तद-  
 पेक्षया तस्या एव पूर्वकालत्वायोगात् 'उपसंपद्य' इति श्रुति-  
 रयुक्ता । ज्योतिःश्रुत्ययुक्तिः प्रसिद्धैव । आदित्यं तु अर्चिरा-  
 द्यपेक्ष्य परमुपसंपद्य तस्य समीपे भूत्वा स्वेन रूपेणाभिनि-  
 प्पद्यते । कार्यब्रह्मप्राप्तौ क्रमेण मुच्यत इत्युपपद्यन्ते श्रुतयः ।  
 'परम्' इति श्रुतिस्तु विशेषणविषया विशेष्यार्थज्योतिःश्रुत्या  
 संकोच्या । 'य आत्मापहतपाप्मा' इति प्रकरणस्य च तिसृभिः  
 श्रुतिभिर्बाधया आदित्य एव ज्योतिरिति प्राप्ते, अभिधीयते—

आनर्थक्यप्रतिहतश्रुतिभ्योऽपि बलीयसा ।

ब्रह्म प्रकरणेनेह ज्योतिःशब्दस्य गोचरः ॥

आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलमिति स्थितिः । इह  
 च 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः इत्यशरीरता-  
 फलश्रवणात् निर्गुणविद्येयम् । अस्यां च न अर्चिरादिमार्ग  
 इत्यादित्यः अनर्थकः । न च सगुणविद्यासु उत्कृष्येत ; तासु  
 'संवत्सरादादित्यम्' इत्यादिना स्पष्टं मार्गपर्वत्वेन आदित्यस्य  
 श्रुतत्वात् ; अश्रुतस्थले च स्पष्टस्यैवोपसंहारात् ; इह च ज्योतिः-  
 पदमात्रश्रवणान्मार्गानिर्देशाच्च मार्गातिवाहकत्वस्यास्पष्टत्वात् ।  
 अतः आदित्यादेरभिधाने तिस्रः श्रुतयः अनर्थिकाः स्युरिति  
 आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलमिति प्रकरणात् ब्रह्मैव  
 ज्योतिःशब्दम् । तस्य 'य आत्मापहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः'

इति प्रकृतत्वात्, तत्प्रतिपादनार्थत्वाच्च उत्तरग्रन्थस्य; मध्ये च  
 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इति परामर्शात्, अन्ते  
 च 'स उत्तमः पुरुषः' इत्युपसंहारात्। यत्तु नाडीखण्डे आ-  
 दिल्योऽपि प्रकृत इति, स तु ततः प्राक्प्रस्तुतदहरविद्याफ-  
 लप्राप्त्यर्थ इत्यविरोधः। एवं च 'शरीरात्समुत्थाय' इति परो-  
 क्षशरीरादिविवेकज्ञानमुक्तम्। स्वरूपाभिनिष्पत्तिः साक्षा-  
 त्कारः। परंज्योतिरुपसंपत्तिः इत्यविद्यानिवृत्तौ ब्रह्मभावः। सा-  
 क्षात्कारपूर्वकत्वेऽप्यविद्यानिवृत्तेः व्युत्क्रमनिर्देशः 'मुखं व्या-  
 दाय स्वपिति' इतिवद्दृष्टव्य इति ॥

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ १३ ॥

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म  
 तदमृतं स आत्मा' इत्यत्र आकाशशब्दार्थो नभः, उत ब्रह्म—  
 इति आकाशशब्दब्रह्मश्रुतिभ्यां संशयः। न च 'आकाशस्तल्लि-  
 ङ्गात्' इत्यनेन गतार्थत्वम्; नामरूपनिर्वहणस्य नभस्यपि  
 वाय्वादिकारणत्वादुपपत्तेः, 'सर्वाणि ह वा इमानि' इत्यत्रेव  
 इह सर्वशब्दाभावात्, नामरूपयोरन्तरालत्वरूपप्रपञ्चाधिष्ठा-  
 नत्वस्य 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' इत्युक्तब्रह्मधर्मत्वेन आकाश-  
 धर्मत्वाभावात् अन्तरालस्य च ब्रह्मणो यत्तच्छब्दाभ्यां नपुं-  
 सकाभ्यामाकाशनैरपेक्ष्येण प्रतिपादितस्य आकाशादन्यत्वात्  
 निर्वोदुश्चाकाशस्यान्तरालात् भेदेन पुंलिङ्गाकाशनिर्वहितृशब्दा-  
 भ्यां निर्दिष्टस्य नामरूपाधिष्ठानब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वेन निवेशा-

त् । पूर्वं ब्रह्मप्रकरणादानर्थक्यप्रतिहतज्योतिःश्रुतिर्नीता ; इह तु न ब्रह्मप्रकरणम्, नाप्याकाशश्रुत्यानर्थक्यम्, ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वादाकाशस्य ॥

तस्माच्छ्रुतेर्वलीयस्याः संकोचे हेत्वसंभवात् ।

तन्मूलभूतमात्रस्य ब्रह्माधिष्ठानता भवेत् ॥

पूर्वपक्षे आकाशकार्यवाय्वादिमात्राधिष्ठानं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिः प्रयोजनम् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

निर्वोदृत्वं नियन्तृत्वं चेतनस्यैव युज्यते ।

संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदोऽपि दुर्बलः ॥

राज्यस्य निर्वोढा इत्यादौ हि निर्वाहकत्वं चेतनधर्मः प्रतीयतः । स इह प्रतीयमानो न नभसि युज्यते । नामरूपशब्दश्च प्रकाश्यप्रकाशकसर्वजगन्मात्रवाची न संकोच्यः । एवं च निर्वोदुरेवान्तरालत्वेन वाक्यस्यैकार्थविषयत्वेनैकत्वसंभवे सति नोपायोपेयपरत्वेन वाक्यभेदकल्पना उचिता । सति चैवं ब्रह्मशब्दो भ्रमृताभयत्वादीनि च आकाशगोचराणि तस्य ब्रह्मतां गमयन्ति । तत्र च आकाशश्रुतौ ब्रह्मश्रुत्या निरुद्धायां लिङ्गैर्ब्रह्मनिर्णयः । यत्तच्छब्दावपि प्रस्तुतार्थलाभे न प्रस्तोष्यमाणं वदत इत्याकाशविषयावेव ॥

प्रकृतेः प्रकृतार्थे च निवेशे प्रत्ययार्थता ।

परिणेतान्यथैवेह गुणे त्वन्याय्यकल्पनात् ॥

यच्छब्दप्रातिपदिकं हि प्रधानं प्रकृताकाशे संभवति ।



नपुंसकलिङ्गं तु प्रत्ययार्थो विशेषणत्वेन गुणभूतत्वात् प्रधानानुरोधेन पुंस्त्वेन परिणीयते । अत्र च निर्वोद्धृत्वमधिष्ठातृत्वम् अन्तरालत्वमधिष्ठानत्वेनोपादानत्वमिति विवेकः । यदा ते नामरूपे यस्माद्विन्ने इति व्याख्यायते, तदापि प्रपञ्चवैलक्षण्यं ब्रह्मलिङ्गम् । तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मेति ॥

### सुषुप्त्युत्क्रान्तयोर्भेदेन ॥ १४ ॥

बृहदारण्यके षष्ठेऽध्याये 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्युपक्रम्य भूयानात्मविषयः प्रपञ्चः कृतः । तत्र किं संसारिस्वरूपान्वाख्यानपरं वाक्यम्, उत असंसारिब्रह्मात्मप्रतिपादनपरमिति उपक्रमगतविज्ञानमयशब्दादुपसंहारवर्तिसर्वेशानादिशब्दाच्च संशयः । 'अङ्गुष्ठमात्रः' इत्यत्र नोपक्रमोपसंहारौ जीवे; अत्र तु विद्येते इत्यागता चिन्ता । पूर्वत्र नामरूपाभ्यां भेदव्यपदेशादाकाशं ब्रह्मेत्युक्तम् । तत्र भेदव्यपदेशोऽनेकान्तः, असत्यपि भेदे 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' इति भेदोपचारदर्शनादित्याशङ्क्य तत्रापि मुख्यभेदपरत्वसाधनात्संगतिः । तत्र—

आदिमध्यावसानेषु संसारिप्रतिपादनात् ।

तत्परे ग्रन्थसंदर्भे सर्वं तत्रैव युज्यते ॥

आदावन्ते च 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति संसारी पठ्यते । मध्ये च 'स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे स्वप्ने बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा' इत्यादिना अवस्थात्रयाभिमानी जीवो अभि-

धीयते । अतः साभ्यासे ग्रन्थे जीवपरे सति ‘महानजः’  
 ‘सर्वस्य वशी’ इत्यादि सर्वमापेक्षिकत्वेन संसारिण्येव योज्य-  
 ते । ‘प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः’ इति तु सुषुप्तौ विषयोपरागा-  
 भावात् घनीभूतप्राज्ञेनात्मना स्वरूपेण परिष्वक्त इत्यभेदेऽपि  
 भेदोपचारेण जीवे योजनीयम् । जीवप्रतिपादनप्रयोजनं तु  
 कर्माधिकारसिद्धिरिति प्राप्ते, अभिधीयते—

विविच्य लोकसंसिद्धं जीवं प्राणाद्युपाधितः ।

ब्रह्मत्वमन्यतोऽप्राप्तं महानात्मेति बोध्यते ॥

अनधिगतार्थबोधकं हि शब्दं प्रमाणं न जीवानु-  
 वादमात्रपरं भवितुमर्हति । न च कर्माधिकारिमात्ररूपो जीव  
 इह प्रतिपाद्यते । अपि तु स एष जीव एव सर्वेशानादिरूपः,  
 विज्ञानमयं प्रकृत्य ‘स एष सर्वस्य वशी’ इति वचनात् ‘स  
 वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु’ इति च  
 विज्ञानमयानुवादेन स महानात्मेति विधानात् । जीवस्य तु उ-  
 पक्रमे संकीर्तनं प्राणादिविवेकार्थम्, स्वप्रादेर्व्यभिचारादनात्म-  
 धर्मत्वार्थं मध्ये निर्देशः, शोधितत्वंपदार्थस्य ब्रह्मत्वबोधार्थमन्ते  
 कीर्तनमित्यभ्यासोऽप्यन्यथा सिद्धः । एवं च महत्त्वसर्वेशान-  
 त्वादि न सति संभवे आपेक्षिकं कल्पितं भवति । नापि  
 भेदनिर्देशस्यौपचारिकत्वमिति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्य भगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

## चतुर्थः पादः ॥

जगत्कारणत्वेन ब्रह्मणः प्रतिवेदान्तं प्रतिपाद्यत्वात् यद्यपि सर्ववेदान्तानां ब्रह्मणि गतिसामान्यमवधारितम्, तथापि वेदान्तेषु कानिचिद्वाक्यानि प्रधानादिकारणत्वमपि प्रतिपादयन्तीति ब्रह्मकारणत्वमभ्युपेत्यैव प्रधानादिकारणत्वशङ्काया अपाकरणार्थं पाद आरभ्यते ॥

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूप-  
कविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

‘महतः परमव्यक्तम्’ इत्यत्र अव्यक्तपदं प्रधानपरं शरीर-  
परं वेति स्मार्तक्रमश्रौतक्रमपारिशेष्याभ्यामुभयोः प्रत्यभिज्ञा-  
नात्संशयः । सांख्यानां श्रुतिस्मृत्योरनुमानसिद्धानुवादित्वेन  
तुल्यता । तत्र,

रूढेर्योगात्क्रमात्स्मार्तादव्यक्तं प्रकृतिर्मता ।

व्यक्तत्वान्न शरीरं स्यादव्यक्तपदगोचरः ॥

अव्यक्तशब्दो हि सांख्यस्मृतौ प्रधाने रूढः । शब्दादि-  
हीनत्वेन प्रधानस्याव्यक्तत्वात् यौगिकश्च ; महदव्यक्तपुरुषाश्च  
श्रुतौ स्मृतौ च क्रमेण पठ्यन्ते । यद्यपि प्रकृतं परिशिष्टं च

शरीरम्, तथापि तत् व्यक्तत्वेन अयोग्यत्वात् न अव्यक्तशब्द-  
मर्हति । अतः प्रधानमिह अव्यक्तशब्दार्थः । तदेव जगत्प्र-  
कृतिः, 'महतः परम्' इति महत्तत्त्वमपेक्ष्याविप्रकृष्टपूर्वकाल-  
त्वेन कारणत्वप्रतीतेः इति प्राप्ते, अभिधीयते—

यौगिक्यव्यक्तगीर्नं प्रकृततनुमुदस्यान्यदीष्टेऽभिधातुं

रूढा नैषा प्रधाने समयिभिरुदिता रूढिरप्यप्रमाणम् ।

योगार्थिभूतमायाप्रभवमभिवदेल्लक्षणावर्त्मनैव

प्रक्रान्तार्थस्य लाभाद्व्यवहितविषया स्यात्प्रधानाभिधाने ॥

इह हि 'सोऽध्वनः पारमाप्रोति तद्विष्णोः परमं पदम्'  
इति विष्णुपदाख्यः पुरुषः प्रधानम्; तत्प्रमित्यङ्गानि इन्द्रिया-  
दीनि 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादिना निर्दिष्टानि । तानि  
च 'आत्मानं रथिनम्' इत्यादिवाक्येषु रथादिरूपितान्येव गृह्य-  
न्ते, रूपकोपन्यासस्य दृष्टार्थत्वाय । एवं स्थिते रथत्वेन रूपितं  
शरीरं पुरुषपरत्वप्रतिपादकवाक्यान्वयमपेक्षते । न च स्वा-  
भिधेयावरूढाः इन्द्रियशब्दादयः तदभिदधति— इति अस्य-  
व्यक्तशब्दापेक्षा शरीरस्य । अव्यक्तशब्दोऽप्यनभिव्यक्तं किं-  
चिद्योगाद्वदति । किं तत्—इत्यभिधेयविशेषाकाङ्क्षी स्वशब्दो-  
पात्तेन्द्रियादि अभिधातुमक्षमः शरीराकाङ्क्षी शरीरमेव वदेत् ;  
न प्रधानम् । तद्वि पौरुषेयवाक्यस्थं विप्रकृष्टम्— इत्येवं  
प्रकृतार्थावलम्बित्वे अव्यक्तशब्दस्य, यद्यपि शरीरम् अस्य न  
मुख्यार्थः, तथापि मुख्यार्थमायाजन्यत्वाल्लक्ष्यं स्यादिति ॥

## चमसवदविशेषात् ॥ २ ॥

‘अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः’ इति मन्त्रः प्रधानपरः, तेजोऽवन्नलक्षणावान्तरप्रकृतिमायारूपपरप्रकृत्योरन्यतरपरः—इति संशयः, अजाशब्दस्य छागतोऽपकृष्टस्य प्रधानमाययोः तेजोऽवन्ने च गुणवृत्तिसंभवात् । पूर्वत्र प्रधानस्यार्थतोऽप्रत्यभिज्ञानात् न अव्यक्तपदवाच्यता—इत्युक्तम् । इह तु त्रिगुणत्वादिना प्रधानप्रत्यभिज्ञानात् तत्परो मन्त्रः । तथा हि—

ऐक्यादजायास्त्रिगुणात्मकत्वप्रतीतितो लोहितशुक्लकृष्णैः ।  
पुंभेदगीतेर्जुषमाणभेदान्मन्त्रः प्रधाने भवति प्रमाणम् ॥

‘अजाम्’ इत्येकत्वमवगम्यते । मायाश्च प्रतिजीवं भिन्नाः न अजाशब्दार्थाः । तेजोऽवन्नानां त्रित्वात् नैकवचनार्हत्वम् । नापि न जायत इत्यजात्वम्, जन्मवत्त्वात् । न च अजावदजेति गौणोऽयं शब्दः ; मुख्ययोगवृत्तिसंभवे गौण्या जघन्यवृत्तेरयोगात् । लोहितादिशब्दैश्च रज्जकत्वप्रसन्नत्वावरकत्वगुणयोगात् रजःसत्त्वतमांसि लक्ष्यन्ते । लोहितं हि कुसुम्भादि रञ्जयति, शुक्लं चाम्भः प्रसन्नम्, कृष्णं च तम आवरकम्—इति सिद्धान्तेऽप्येते शब्दा लाक्षणिकाः, तेजआदेर्मायायाश्च साक्षाद्रोहितत्वाद्ययोगात् । अजो ह्येको जुषमाणो यो अजामनुशेते स तां जहत्ततोऽन्यः स्यात् इत्यात्मभेदाभिधानाच्च कापिलं मतं

प्रत्यभिज्ञायते । औपनिषदानामात्मैक्याभ्युपगमात्— इति प्राप्ते, अभिदध्महे—

अनुवाद्यः पुंभेदो गुणवचनैर्गुणिषु लक्षणासन्ना ।

रूढार्थापरिहाराद्गौणी योगाद्वरा वृत्तिः ॥

अत्र तावदात्मभेदो बन्धमोक्षव्यवस्थार्थं लोकसिद्धोऽनू-  
द्यते । लोकप्रसिद्धिश्च 'एको देवः सर्वभूतेषु' इत्यादिशास्त्र-  
बाधिता न प्रमाणम् । तत्र लोहितादिशब्दैर्वा प्रधानं गम्यते,  
अजाशब्दाद्वा । नाद्यः, लोहितादिशब्दानां हि शुक्लादिशब्दवत्  
गुणवचनत्वात् द्रव्येषु लक्षणा निरूढेति तेजोऽवन्नलक्षणा प्र-  
त्यासन्ना ; रज्जकत्वादिभिः सत्त्वादिलक्षणा सांप्रतिकी तैरेव  
व्यवहिता चेति विप्रकृष्यते । नापि द्वितीयः, अजादिशब्दाद्धि  
रूढोऽर्थः प्रथमं प्रतीतः ; स यदि वाक्यार्थे नान्वेति, ततः त-  
द्गुणयोगादन्यत्र वृत्तावपि स न त्यज्यते । तत्त्यागे तद्गुणस्या-  
प्यलाभेन गुणवृत्तेर्लोपात् । योगे तु स त्यक्त इति स गौण्या  
वृत्तेर्दुर्बलः । तथा च तेजोऽवन्नमपि अजेति वक्तुं शक्यम् ।  
प्रधानं च 'यदग्ने रोहितं रूपम्' इत्यादिश्रुत्यन्तरश्रुतत्वात् तदे-  
वेह ग्राह्यम् । न प्रधानं मानहीनम् । यदापि यौगिको अजा-  
शब्दः, तदा 'देवात्मशक्तिमपश्यन्' इति प्रकृतत्वात् माया  
ग्राह्या । तस्यां च प्रमाणवत्याम् एकवचनं जात्यभिप्रायमिति ॥

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावाद-

तिरेकाच्च ॥

‘यस्मिन्पञ्च पञ्च जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्’ इति मन्त्रः सांख्यसंमततत्त्वपरः, उतार्थान्तरपर इति योगरूढ्यविनिगमात्संशयः । पूर्वत्र अध्यात्मप्रकरणे रूढच्छागाया असंबन्धाद्वाक्ये च तत्सदृशतेजआदेरन्वयसंभवात् अजा तेजआदिकेत्युक्तम् । इहापि रूढमनुष्यग्रहे वाक्यस्य निस्तात्पर्यप्रसङ्गात् लक्ष्यमाणप्राणादेश्च वाक्येऽनन्वयान् अवयववृत्त्या सांख्यीयतत्त्वपरत्वम् । तथा हि—

रूढार्थस्याश्रितौ स्याद्वच इदमफलं रूढवाच्यान्वितस्य  
प्राणादेर्लक्षणायां भवति हि कलहः काण्वमाध्यन्दिनानाम् ।  
तेनैषा पञ्चसंख्या जनवचसि समासं प्रपद्यान्यसंख्या-  
संबन्धात्सांख्यसिद्धान्गमयति नितरां पञ्चविंशत्पदार्थान् ॥

न तावदयं पञ्चजनशब्दो रूढ्या मनुष्यान्वक्तुमर्हति,  
पञ्च मनुष्या यस्मिन् प्रतिष्ठिताः इति वदतो वाक्यस्य नि-  
स्तात्पर्यप्रसङ्गात् । न च रूढमनुष्यसंबन्धस्य ‘प्राणस्य प्राण-  
म्’ इति वाक्यशेषगतस्य प्राणादेः पञ्चकस्य जनशब्देन लक्ष-  
णा ; तथा सति माध्यन्दिनानामन्नेन काण्वानां ज्योतिषा च  
पञ्चसंख्यापरिपूरणेन विरोधात् । न च विकल्पः ; वस्तुनि तद-  
योगात् । तस्माद्यौगिकोऽयं पञ्चजनशब्दः— पञ्च च ते जना-  
श्चेति । जायन्त इति च जनाः तत्त्वानि । जायमानत्वं च दण्डि-  
न्यायेन जायमानाजायमानेषु लाक्षणिकम् । तैश्च पञ्चसंख्या-

विशिष्टैः आद्यपञ्चशब्दवाच्या संख्या संवध्यते इति न नोपस-  
 र्जनन्यायः अत्रावतरति—संख्यया संख्यायाः संबन्धे हि स  
 स्यात्, न संख्येयेन संबन्धे; तस्य प्राधान्यात् । न च समान-  
 पदोपात्तसंख्यावच्छिन्नत्वात् जनानां न संख्यान्तराकाङ्क्षा;  
 संख्यान्तरस्याकाङ्क्षया निराकाङ्क्षेऽपि जनेषु रक्तपटन्या-  
 येन आकाङ्क्षोत्थापनात् । तस्मात्पञ्चजनाः प्रत्येकं पञ्च-  
 संख्यायोगिनः पञ्चविंशतिः । सांख्यैश्च तावन्ति संख्या-  
 तानि—‘मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।  
 षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः’ इति ।  
 मूलत्वात्प्रकृतिरेव प्रधानम्; न विकृतिः । महदहंकारतन्मा-  
 त्राणि सप्त प्रकृतयश्च विकृतयश्च; महानहंकारस्य प्रकृतिः  
 मूलप्रकृतेस्तु विकृतिः । अहंकारस्तामसः प्रकृतिः पञ्चतन्मा-  
 त्राणाम् । स एव सात्त्विकः प्रकृतिरेकादशेन्द्रियाणाम् । राज-  
 सस्तु क्षोभयति परम्; न प्रकृतिः कस्यचित् । स एवाहंकारो  
 महतो विकृतिः । तन्मात्राणि शब्दादीन्यहंकारस्य विकृतिः,  
 प्रकृतिराकाशादीनाम् । पञ्चभूतानि एकादशेन्द्रियाणि षो-  
 डशसंख्यावच्छिन्नो गणो विकार एव; न प्रकृतिः । तत्त्वान्-  
 तरोपेक्षया च इह प्रकृतित्वम् । तथा च पृथिव्यादयो यद्य-  
 पि घटादीनां प्रकृतिः, तथापि न तानि तेभ्यस्तत्त्वान्तरमिति  
 न प्रकृतित्वमभिमतम् । पुरुषस्तु कूटस्थत्वात् न विकृतिः,  
 अपरिणामित्वात् न प्रकृतिरिति । अत्र ब्रूमहे—



नेह रक्तपटन्यायः समानेन विशेषणात् ।

उपासाया विकल्पत्वाच्छ्रुत्योरप्यविरुद्धता ॥

यदुक्तं पञ्चजनाः इति समासे कृते द्वितीयपञ्चशब्दान्वय इति, तन्न; तदा जनानामनाकाङ्क्षत्वात् । न हि पञ्चजनाः इत्युक्ते, पुनः कति— इत्याकाङ्क्षा भवति । न च रक्तपट-  
न्यायेनाकाङ्क्षोत्थापना; ‘रक्तः पटो भवति’ इत्यत्र हि पटो भवतीति वाक्यपर्यवसानसंभवेऽपि, रक्तत्वस्य भवतीत्येतस्मा-  
द्विजातीयत्वात् युक्तमाकाङ्क्षोत्थापकत्वम् । अत्र तु द्वितीयप-  
ञ्चसंख्याया समासान्तर्वर्तिसंख्याया समानजातीयत्वात् न आकाङ्क्षोत्थापकत्वम् । न हि रक्तो रक्तः पटः—इत्यत्राकाङ्क्षोत्थापनम् । एवमिहापि पञ्चजनानां न पञ्चसंख्याकाङ्क्षित्वमिति संख्यैव संख्याया अन्वयो वाच्यः । तत्र पञ्चशब्द एव तावच्छ्रुक्तादिशब्दवत् संख्येयं प्रत्युपसर्जनां संख्यामाह, विशेषतस्तु समासे संख्याया जनान्प्रत्युपसर्जनत्वात् । तथा च न उपसर्जनेन संख्यान्तरस्य संबन्धः, सामर्थ्यस्य नैरपेक्ष्यरूपत्वात्, संख्यान्तरसापेक्षसंख्यायास्तेनाकृष्यमाणाया जनैः सह समासायोगात् । एवं च योगासंभवे, रूढ्यर्थस्य च वाक्यार्थानन्वये, पञ्चजनशब्दो रूढ्यपरित्यागप्रवृत्तलक्षणया मनुष्यसंबन्धान प्राणादीन् लक्षयति । ते च पञ्चैवेति न पञ्चविंशतितत्त्वानामिह प्रतीतिः । न च काण्वमाध्यन्दिन-  
श्रुत्योर्विरोधः, ‘मनसैवानुद्रष्टव्यम्’ इत्युक्तोपास्तौ अन्नज्यो-  
तिषोर्ब्रह्माश्रितयोर्विकल्पेनोपास्यत्वात् । उपास्तिश्च साक्षात्का-

रार्थं कर्तव्यत्वेन प्राप्ता 'द्रष्टव्यम्' इत्यनूद्यते । सा च क्रियात्वाद्विकल्पेन कर्तुं शक्येति ॥

**कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदि-**

**ष्टोक्तेः ॥ ४ ॥**

जगज्जन्मादिकारणे ब्रह्मणि समन्वयपर्यवसानाय कारण-विषयवाक्यानामविरोध इह प्रतिपाद्यते । पर्यवसिते तु कारणे वेदान्तसमन्वये, कार्यविषयवाक्यानामितरेतरविरोधान् परपक्षवन् स्वपक्षस्याप्यसमञ्जसत्वमाशङ्क्य, तेषामविरोधो द्वितीयाध्याये प्रतिपादयिष्यते । एतदुक्तं सूत्रकारेण—'कारणत्वेन च' इति । यद्यपि कार्यश्रुतिविरोधः इहैव परिहर्तुं शक्यते, तथापि कार्यं न वेदान्ततात्पर्यमिति गमयितुम् इह न परिहृतः । अभ्युपेत्य तु प्रतिपाद्यतां तत्र परिहरिष्यते । काचित्कस्य असच्छब्दस्य कर्मकर्तृप्रयोगस्य च असद्वादपरत्वं स्वभाववादपरत्वं च व्युदस्य गतिसामान्यव्यवस्थापनात्पादसंगतिः । अथवा एतदारभ्य त्रीण्यधिकरणानि पादान्तरसंगतान्यपि अवान्तरसंगतिलोभादिह लिखितानि । 'प्रकृतिश्च' इत्यस्य तु अध्यायावसाने लेखने निमित्तं वक्ष्यते । 'एतेन' इत्यस्यापि सर्वन्यायातिदेशत्वात् अध्यायावसान एव निवेशः । जगत्कारणवादिवाक्यानि ब्रह्मणि प्रमाणं न वा इति विप्रतिपत्तेः संशये, पूर्वत्र अन्नज्योतिषोः विकल्पेनोपास्तौ निवेशादविरोध उक्तः । इह तु सिद्धे कारणे विक-

रूपायोगाद्विरोधे सति अप्रामाण्यम् । तथा हि—

वाक्यानां कारणे कार्ये परस्परविरोधतः ।

समन्वयो जगद्योनौ न सेत्स्यति परात्मनि ॥

‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ ‘तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्’ ‘तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्’ इति कारणविषयाः श्रुतयो जगतः सद्धेतुकत्वं असद्धेतुकत्वं स्वयंकर्तृकत्वं च वदन्त्यः परस्परं विरुध्यन्ते । तथा ‘आत्मन आकाशः संभूतः’ ‘तत्तेजोऽसृजत’ ‘स प्राणमसृजत’ इति च प्राणादीनां प्राथम्यमभिवदन्त्यः तथा क्रमे विवदन्ते । कचित्क्रमात्सृष्टिं शास्ति— ‘आत्मन आकाशः’ इत्यादि । कचिदक्रमान्— ‘स इमाँल्लोकानसृजत’ इति । कचिद्व्युत्क्रमात्— ‘एतस्माज्जायते प्राणः’ इत्यादि । तस्मात्कार्यविषयाणामपि श्रुतीनां परस्परविरोधः । तत्र कार्यविगानात्तल्लक्ष्यकारणे विगानम्— धूमानि-श्रये धूमध्वजानिश्रयवत् । कारणविप्रतिपत्त्या च तल्लक्षित-परमात्मनि विप्रतिपत्तिः । तथा च कारणे तुरीये च परमात्मनि न वेदान्तानां समन्वय इति प्राप्ते, उच्यते—

सर्गक्रमविवादेऽपि न स स्रष्टरि विद्यते ।

यतस्त्वसद्वचो भक्त्या निराकार्यतया क्वचित् ॥

अन्यकर्तृकत्वस्वयंकर्तृकत्वाभ्यां सर्गे क्रमव्युत्क्रमाक्रमैश्च विवादेऽपि स्रष्टरि विवादो न विद्यते ; यतः ‘अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद’ इति प्रकृतं ब्रह्म ‘तदप्येष श्लोको भवति’ इति

तच्छब्देन परामृश्य 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति श्लोकस्य उदाहृतत्वात् असच्छब्दः अनभिव्यक्तिगुणात् सत्यपि प्रयुक्तः । 'असेदेवेदमग्र आसीत्' इति तु निराकार्यत्वेन असद्वाद्ः अनूदितः, 'कथमसतः सज्जायेत' इति च निराकृतः । विमतं सज्जन्यम्, कार्यत्वात् कुम्भवत्—इति मानान्तरबाधितश्च । वक्ष्यमाणोऽपि कार्यश्रुतीनामविरोधः इह संक्षिप्य कथ्यते— तत्र न तावत्स्वयंकर्तृकत्वेन सर्गे विवादः, 'व्याक्रियत' इति कर्मकर्तृलकारस्य सत्येवान्यस्मिन्कर्तरि सौकर्यापेक्षत्वात् । अत एव 'व्याक्रियत' इत्यत्र आक्षिप्तस्य व्याकर्तुः 'स एष इह प्रविष्टः' इत्युपरि परामर्शा दृश्यते । न च क्रमे विगानम् । तथा हि—

अनेकशिल्पकुशलो देवदत्तः प्रथमं चक्रदण्डादि करोति, तदुपकरणश्च कुम्भम्, कुम्भोपकरणश्चाहरत्युदकम्, उदकोपकरणश्च गोधूमकणिकाः संयवनेन पिण्डीकरोति, पिण्डोपकरणश्च पचति घृतपूर्णम् ; तदत्र सर्वत्रैतस्मिन् देवदत्तस्य कर्तृत्वात् शक्यं वक्तुम्— देवदत्ताच्चक्रादि संभूतम्, तस्माच्चक्रादेः कुम्भादीति, देवदत्तस्य सर्वत्र क्रमवत्यपि कार्ये साक्षात्कर्तृत्वात्, चक्रादेश्च कुम्भाद्युत्पत्तौ द्वारत्वात् । तथेहापि यद्यप्याकाशादिक्रमेणैव सृष्टिः, तथापि आकाशानिलानलादौ सर्वत्र परमेश्वरस्य कर्तृत्वात् पूर्वपूर्वावान्तरप्रकृतित्वाच्च उत्तरोत्तरविकारस्य शक्यं वक्तुम्— ईश्वरादाकाशः संभूत इति ईश्वरादनिलोऽनलश्चेति ; शक्यं भाषितुम्— ईश्वरादनिलः समजनि, अनिला-

दनल इति । यदि तु आकाशाद्वायुः वायोस्तेज इत्युक्त्वा, तेजसो वायुर्वायोराकाश इति ब्रूयात्, भवेद्विरोधः; न चैतदस्ति । तस्मान्न व्युत्क्रमाभिधानविरोधः । नाप्यक्रमाभिधानविरोधः, ‘स इमाँल्लोकानसृजत’ इति हि क्रमवतीमपि सृष्टिमक्रमेण वदति यथाक्रमात् ज्ञानानि जातानीति । तदिह श्रुतेरभिधाव्यापार एव अक्रमः । अभिधेयानां तु कार्याणां ज्ञानानामिव क्रमः स्थित एव ॥

श्रुतीनां सृष्टितात्पर्यं स्वीकृत्येदमिहेरितम् ।

ब्रह्मात्मैक्यपरत्वात्तु तासां तन्नैव विद्यते ॥

तेन कार्यविगानात्तद्धारगम्यं कारणत्वं यद्यपि तत्त्वतः प्रमातुमशक्यम्, तस्यापि मायाधीनत्वेन कल्पितत्वात्; तथापि सत्यज्ञानादिलक्षणब्रह्मणि अविगानेन वेदान्ताः समन्वीयन्ते इति सर्वमवदातम् ॥

जगंद्वाचित्वात् ॥ ५ ॥

कौषीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे श्रूयते—‘यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः’ इति । तत्र किं जीवां वेदितव्यत्वेनोपदिश्यते, उत प्राणः, किं वा ब्रह्मेति संशयः—‘ब्रह्म ते ब्रवाणि’ इत्युपक्रमात् ब्रह्म भाति, उपरि च ‘यस्य वैतत्कर्म’ इति श्रूयते; तत्र कर्मशब्दश्चेच्चलनवचनः तर्हि प्राणः प्रतीयते; अदृष्टवचनत्वे च जीव इति त्रेधा संशयः । काचित्कहैरण्यगर्भमत-

द्योतककर्मशब्दस्य ब्रह्मानुगुण्यवर्णनात्पादसंगतिः । एक-  
वाक्ये सच्छब्दादसच्छब्दो नीयताम् ; वाक्यभेदे तु न ब्रह्म-  
शब्दात्कर्मशब्दो नेयः । यदा तु अत्राप्येकवाक्यत्वम्, तदा  
यथा उत्तरसच्छब्दात्प्राचीनासच्छब्दो नीतः एवमुत्तरस्मा-  
त्कर्मशब्दात् प्राचीनब्रह्मशब्दो नेतव्य इति संगतिः । तत्र—

विरुद्धा गार्ग्यगी राज्ञा जीवप्राणोपवर्णनात् ।

वाक्यैक्येऽप्यविरुद्धार्थाद्विरुद्धार्था नियम्यते ॥

यद्यपि ‘ब्रह्म ते ब्रवाणि’ इति प्रतिजज्ञे वालाकिः, तथापि  
प्रतिज्ञां न निर्वहति ; अपि तु, य आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि  
पुरुष एतमहं ब्रह्मोपासे इत्यब्रह्माभिदधातीति भ्रान्तोऽसौ ;  
तस्मान् नैव तद्वाक्याद्ब्रह्मप्रामितिः । राजा च ‘यस्य वैतत्कर्म’  
इति वदन् कर्मशब्दस्य चलने रूढत्वेन प्राणं कर्मसंबन्धिनमाह ;  
अदृष्टलक्षणया वा अदृष्टकर्तारं जीवम् ; न तु क्रियत इति  
व्युत्पत्त्या कार्यमात्रस्य कर्तृ ब्रह्म कथयति । रूढौ स-  
त्यां व्युत्पत्तेरयोगान् । रूढ्यपरित्यागप्रवृत्तलक्षणामुपेक्ष्य  
तत्परित्यागप्रवृत्तयोगायोगाच्च । एवं वाक्यभेदे सति  
नेह ब्रह्माधिगतिः । यदि तु वालाकिमब्रह्मणि ब्रह्मा-  
भिधायिनमपोद्य तदुक्ताद्विशेषं विवक्षोरजातशत्रोरब्रह्माभि-  
धानमसंबद्धमिति मतम्, तर्हि तेन ब्रह्मेव वर्णनीयम् ; न तु  
वर्णयति ; यतः पुरुषाणां कर्तुर्वेदनायोपेताय वालाक्ये यष्टि-  
घातोत्थापितं जीवमात्मत्वेन बोधयति । सति चैवं ब्रह्माभे-

दात् ब्रह्मोक्तम् । ये च प्रश्नप्रतिवचने 'कैषोऽशयिष्ठ कुत एतदागात्' इति 'प्राण एवैकधा भवति' 'आत्मनः सर्वे प्राणादयो विप्रतिष्ठन्ते' इति च, ते च व्यष्ट्युपाधिकरणे समष्टिहिरण्यगर्भे प्राणात्मनि जीवे घटेते । तस्माज्जीवविशेषः प्राणात्मको हिरण्यगर्भः प्रतिपाद्यः । बालाकिस्तु व्यष्टिदेवतावादित्वादपोदितः । जीवमात्रं वा 'आकाशे शेते' इति प्रतिवचनान् निरूपितम्, न तु ब्रह्म; प्रागुक्तरीत्या जीवस्येह प्रतिपाद्यत्वनिर्णयादिति ; प्राणशब्दश्च सुषुप्तेः प्राणप्राधान्याभिप्राय इति प्राप्ते, अभिधीयते—

मृषावादिनमापोद्य बालाकिं ब्रह्मवादिनम् ।

राजा कथमसंबद्धं मिथ्या वा वक्तुमर्हति ॥

यद्यपि गार्ग्यो भ्रान्तः, तथापि न भ्रान्तो ब्रह्मोपक्रमः । 'सहस्रमेतस्यां वाचि दद्महे' इति ब्रह्मप्रस्तावस्य प्रशंसितत्वेन ब्रह्मणि वाक्यस्य तात्पर्यावगमात् । तत्र—यथा केनचित् मणिलक्षणज्ञमानिना काचो मणिरेष वेदितव्य इत्युक्ते, तमन्यः काचोऽयं न मणिः तल्लक्षणरहितत्वादित्यभिधाय, कस्तर्हि मणिरिति जिज्ञासवे पूर्वस्मै यद्यतत्त्वं वर्णयेत्, असंबद्धमुक्तं भवेत्; अश्मा वा मणिरिति वदता न पूर्ववादिनः आत्मनो विशेष आपादितो भवति, स्वस्यापि मृषावादित्वात्; तस्मादनेन मणितत्त्वमेव वक्तव्यम्— एवमजातशत्रुणा बालाकिरात्मनो विशेषं दर्शयता जीवप्राणाभिधानमसंबद्धं स्यात् ;

अब्रह्मणोर्वा तयोर्ब्रह्मत्वाभिधानं मिथ्याभिधानं भवेत् इति ब्रह्मैवानेन वक्तव्यम् । तस्मात् 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति ब्रह्मोपक्रमात्, 'सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां स्वाराज्यं पर्येति य एवं वेद' इत्युपसंहारात्, 'कैष एतद्बालाके' इत्यादिप्रश्नोत्तरस्य जीवाधारावधिभूतब्रह्मविषयत्वात्, हिरण्यगर्भस्य च सुषुप्तिस्थानस्य अप्रसिद्धेः, 'आकाशे शेते' इत्यत्रापि आकाशशब्दस्य 'आकाशस्तल्लिंगात्' इति न्यायेन जीवसुषुप्त्याधारत्वल्लिंगात् ब्रह्मविषयत्वात्, प्राणानामामन्त्रणेन प्राणस्याबोधं दर्शयित्वा यष्टिघातोत्थापनेन प्राणव्यतिरिक्तात्मप्रतिपादनाच्च वाक्यस्य जीवप्राणपरत्वाभावे निश्चिते, योगेनापि कर्मशब्दस्य क्रियमाणजगद्वाचित्वाद्विश्वकर्तृब्रह्मपरं वाक्यमिति सिद्धम् ॥

वाक्यान्वयात् ॥ ६ ॥

बृहदारण्यके मैत्रेयीयाज्ञवल्क्यसंवादे अधीयते—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' 'आत्मनो दर्शनेनेदं सर्वं विदितम्' इत्यादि । तत्किं जीवपरम्, ब्रह्मपरं वेति संशयः, प्रियसंसूचितभोक्तृोपक्रमादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशाच्च । पूर्वत्र ब्रह्मोपक्रमात् तत्परत्ववन् इह जीवोपक्रमात्तत्परत्वमिति अवान्तरसंगतिः । कचित्समन्वयस्य जीवमात्रपर्यवसाननिषेधेन ब्रह्मपरत्वसाधनात् पादसंगतिः । तत्र प्रियसंसूचितभोक्तृोपक्रमात्, मध्ये च 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय



तान्येवानुविनश्यति ' इति ब्रह्मणो विज्ञानात्मभावेन समुत्थानश्रुतेः, अन्ते च ' विज्ञातारं केन विजानीयात् ' इति विज्ञानतृशब्देन जीवाभिधानाज्जीवपरत्वम् । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानाभिधानं तु भोक्तृत्वात् भोग्यजातस्य गौणम् इति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु प्रियोपक्रमात्प्रागेव ' येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन वित्तेन कुर्यां यदेव भगवानमृतत्वसाधनमात्मज्ञानं वेद तदेव मे ब्रूहि ' इत्यमृतत्वोपक्रमात् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानाभिधानस्य च ' इदं सर्वं यदयमात्मा ' इत्यादिभिरुपपाद्यमानस्य गौणत्वायोगात् ब्रह्मपरत्वमस्य संदर्भस्येति । ननु प्रातर्दनवाक्य इव जीवब्रह्मलिङ्गसंदोहे सर्वात्मब्रह्मण्यन्तर्भवन्तो जीवधर्मा ब्रह्मपरतया योज्यन्ताम् ; यद्वा सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणोदाहृतज्योतिर्ब्राह्मण इव प्रसिद्धजीवानुवादेन अप्रसिद्धब्रह्मात्मत्वबोधनपरत्वमवधार्यताम् ; तत्र कुतो जीवमात्रपरत्वशङ्का ? सत्यम् , तथापि—

भोक्तृताज्ञातृताजीवरूपोत्थानसमाधये ।

मैत्रेयीब्राह्मणे पूर्वपक्षेणोपक्रमः कृतः ॥

इह तावत् जीवमनूय ब्रह्मात्मता बोध्यते । तत्र जीवलिङ्गैः— अनुवाद्यविधेययोर्भेदाभेदौ इत्याश्मरभ्यादिमतं निराकृत्य काशकृत्स्नीयमतेन अध्यस्तभेदेनानुवाद्यत्वं जीवस्य, वस्तुत एकान्तिकमेकत्वमिति समाधये— जीवपरत्वपूर्वपक्षेणो-

पक्रममात्रं कृतम्, जीवब्रह्मभेदस्य सत्यत्वे ज्ञानात्तन्निवृत्त्य-  
योगात्; ज्ञानान्मोक्षं वदन्ती श्रुतिः आश्मरध्यादेर्न संगच्छते  
इति ॥

### प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥

जन्मादिसूत्रे ब्रह्मणः कारणत्वमात्रमुक्तम्, तद्विशेष इह चि-  
न्त्यते । यद्यपि तदनन्तरमिदमधिकरणमारब्धुं युक्तम्, त-  
थापि निर्णीततात्पर्यैर्वेदान्तैर्निमित्तत्वमात्रसाधकानुमानस्य  
कालातीतत्वं वक्तुं शक्यमिति समन्वयाध्यायावसाने लिखि-  
तम् । अप्रदर्शिते विषये समन्वयो दुष्प्रतिपाद इति कारण-  
त्वमात्रं तत्रोक्तम् । ब्रह्मकारणत्वमभ्युपेत्य विशेषविप्रतिपत्तिनि-  
राससाम्यात् पादसंगतिः । ब्रह्म जगतोऽधिष्ठातृकारणमेव  
उत उपादानमपीति संशयः; 'स ईक्षांचक्रे' 'स प्राणमसृ-  
जत' इति ईक्षणपूर्वककर्तृत्वश्रुतेः, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानो-  
पदेशाच्च । पूर्वत्र प्रतिज्ञां मुख्यामाश्रित्य जीवपरत्वं वाक्यस्य  
निरस्तम् । इह तु निमित्तोपादानभेदादौणी सेति प्राप्नोति ।  
तथा हि—

ईक्षापूर्वककर्तृत्वं प्रभुत्वमसरूपता ।

निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित् ॥

ब्रह्म न द्रव्यप्रकृतिः, ईक्षितृत्वात्कर्तृत्वात्; स्वतन्त्रत्वादि-  
ति यावत्; प्रभुत्वात् 'एष सर्वेश्वरः' इत्यादिश्रुतिप्रमाणेन  
ईश्वरत्वात्—राजवत् । सुखाद्युपादाने राजनि साध्यवैकल्यवा-

रणार्थं प्रतिज्ञायां द्रव्यग्रहणम् । ब्रह्म न पृथिवीप्रकृतिः,  
निर्गन्धत्वात्— अभाववत् इत्यादयश्च प्रयोगाः असरूपता—  
इत्यनेन सूचिताः । कारणत्वमात्रपरागमापेक्षितविशेषसम-  
र्पणात् नानुमानादागमबाध इति प्राप्ते, प्रतिविदध्महे—

प्रकृतिश्च ब्रह्म न निमित्तमात्रम् ; प्रतिज्ञाया मृदादिदृष्टा-  
न्तानां च अनुपरोधात् । ननु प्रतिज्ञा ब्रह्मप्राधान्यपरा गौ-  
णी— यथा सोमशर्माणि विदिते सर्वे कठा विदिता इति ;  
न, यतः—

न मुख्ये संभवत्यर्थे जघन्या वृत्तिरिष्यते ।

न चानुमानिकं युक्तमागमेनापबाधितम् ॥

सर्वे हि तावद्वेदान्ताः पौर्वापर्येण वीक्षिताः ।

ऐकान्तिकाद्वैतपरा द्वैतमात्रनिषेधतः ॥

ईक्षितृत्वादिहेतवो हि आश्रयासिद्धाः ; पक्षश्च अप्रसिद्ध-  
विशेष्यः, ईश्वरासिद्धेः ; न हि सोऽनुमेय इति वक्ष्यते । आग-  
मात्तत्सिद्धिरिति चेत्, तर्हि स उभयकारणमीश्वरं गमयतीति,  
पक्षे विशेष्यभूतस्य हेतुं प्रत्याश्रयभूतस्य च ईश्वरस्य ग्राह-  
केणागमेन विरोधादनुमानानुदयः । न च मुख्यसंभवे प्रति-  
ज्ञा औपचारिकी । अपि च अद्वैतमेव उपक्रमोपसंहाराद्यैक-  
रूप्येण वेदान्ताः अवगमयन्ति ; तदेव च इयं प्रतिज्ञा प्र-  
कृतिविकाराभेदेन समर्थयतीति तात्पर्यवत्त्वन् न गौणी । न  
च अन्या प्रकृतिः अन्यश्च विकारः इति द्वैतमाशङ्कनीयम्

यतो विकारत्वेन विवर्तत्वमुक्त्वा द्वैतमात्रं निषिध्यते । तस्मात्प्रतिज्ञा मुख्या । ‘यतः’ इति पञ्चम्यपि जनिकर्तुः प्रकृतावपादाने विहिता । न चैषा हेतौ, हेतौ ‘गुणवचनान्’ इत्यधिकारेण जाड्याद्वद्ध इत्यादिगुणवचनेषु विहितत्वान् । तस्मात्प्रकृतिश्च ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

**एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥**

प्रधानस्य अशब्दत्वं शब्दविरुद्धत्वं चोक्तम् । तत् अणुस्वभावशून्यवादेष्वतिदिश्यते । ‘अण्व्य इवेमा धाना भगवः’ इत्यादिवाक्यम् अण्वादिकारणत्वपरम्, न वेति संशयः ; जगत्कारणदृष्टान्तप्रदर्शकेऽस्मिन्वाक्ये अण्वादिशब्दप्रयोगात्, मृदादिदृष्टान्तैः सर्वकार्याभिन्नाद्वैतसत्यत्वावगमाच्च । तत्र—

जगतः प्रकृतिर्ब्रह्म यदि स्यान्मृन्निदर्शनात् ।

अण्वादयोऽपि किं न स्युर्वटधानानिदर्शनात् ॥

श्वेतकेतूद्दालकसंवादे हि श्रूयते—‘न्यग्रोधफलमाहरेति इदं भगव इति भिन्द्वीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीति अण्व्य इवेमा धाना भगव इति आसामङ्गैकां भिन्द्वीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति तत् होवाच यं वै सोम्येदमणिमानं न निभालयसे एतस्य वै सोम्यैपोऽणिम एव महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धस्त्व सोम्य’ इति । जगतः प्रागवस्थाया अयं दृष्टान्तः । पूर्वत्र च मृत्तिकादृष्टान्तात् प्रकृतिर्ब्रह्मेत्युक्तम् । तथात्र ‘न किंचन’ इति

वचनाद्दार्ष्टान्तिके स्वभावशून्यवादौ प्रतिभातः अदृश्यमाना-  
णुनिर्देशात् अणुवादश्च । अत एवावान्तरसंगत्यधिकशङ्के ।  
सिद्धान्तस्तु—

मृदादयो हि दृष्टान्ताः प्रतिज्ञामनुरुन्धते ।

धानास्तामुपरुन्धाना भक्तिमार्गं प्रपेदिरे ॥

इह खल्वेकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा प्रधानम् असदादि-  
वादपक्षेषु न कल्पते । अतो ‘न किञ्चन’ इत्यनभिव्यक्तिः  
‘अणिम्रः’ इति सूक्ष्मता च उक्तेति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥



## द्वितीयोऽध्यायः ॥

—\*—

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्य-

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

चेतनब्रह्मजगदुपादानवादिसमन्वयस्य सांख्यस्मृत्या अस्ति संकोचः, न वा इति संशयः; श्रुतिस्मृत्योः सर्वज्ञभाषितत्व-सामान्यात् बलाबलानवधारणात् । अत्र,

सर्वज्ञभाषितत्वेन श्रुतेः स्मृत्याविशेषतः ।

सावकाशश्रुतेः स्मृत्या संकोचोऽनवकाशया ॥

यथा कपिलबुद्धिपूर्वकं तन्त्रमिदम्, एवं ब्रह्मबुद्धिपूर्वको वेदः । ततश्च स्मृतेः न दौर्बल्यम् । वेदस्तु अनुष्ठेयापदेशे साव-काशः, स्मृतिः प्रधानादन्यत्र अनवकाशा इति चेतनस्य जग-दुपादानत्वं जगदुपादानप्रधानस्वामित्वात् उपचर्यते इति प्राप्ते, अभिधीयते—

पूर्वक्रमानुरोधेन ब्रह्मणो वेदनिःसृतिः ।

स्मृतिः कपिलतो जाता तदैवोत्प्रेक्षितक्रमात् ॥

यथा नृत्यं कुर्वन्त्यपि नर्तकी नर्तकदर्शितक्रमेणैव नृत्यति न स्वतन्त्रा, एवं ईश्वरः प्राचीनस्वकृतक्रममनुरुध्य वेदं वि-

रचयति इति न स्वतन्त्रः । क्रमोपगृहीतवर्णात्मा च वेदः  
 अर्थप्रत्ययकरः । तेन संस्कारारूढनियतक्रमो वेदः तदर्थश्च  
 युगपदीश्वरज्ञाने परिस्फुरति । एवं च न वेदकरणे वेदार्थज्ञानं  
 हेतुः ; क्रमवत्संस्कारारूढवेदं स्मृत्वा तादृशवेदरचनसंभवान् ।  
 एतच्च वेदस्य कर्तृस्मरणमन्तरेण तदर्थानुष्ठानदर्शनात् निःश्र-  
 सितश्रुतेश्च अवगम्यते । ततश्च स्वतः प्रमाणं वेदः । कपिलः  
 स्मृत्यर्थं ज्ञात्वा अभिनवक्रमस्मृतिं निरमिमीत इति, स्मृति-  
 प्रामाण्याय यावन्मूलभूतं प्रमाणं परीक्ष्यते, तावत् स्वतः-  
 प्रमाणभूतया श्रुत्या स्वार्थो विनिश्चीयते इति, तद्विरुद्धा स्मृतिः  
 प्रबलप्रमाणबाधितविषयत्वात् भ्रान्त्यादिमूलत्वेन सावकाशा  
 इति ॥

स्मृतिविप्रतिपत्तौ च कल्प्यमूला हि कापिली ।

प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिः स्मृतिभिर्वाधमर्हति ॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ २ ॥

चेतनजगदुपादानत्ववादिवेदान्तानां प्रधानं वास्तवम् ईश्व-  
 राधिष्ठितं जगदुपादानम् इति वदन्त्या योगस्मृत्या संकोचसं-  
 देहे, पूर्वपक्षसिद्धान्तौ अतिदेशत्वात् पूर्ववत् । अभ्यधिका-  
 शङ्का तु,

श्रुतिसंवादतः सम्यग्ज्ञाने योगोपयोगतः ।

मानं योगे स्मृतिर्या सा प्रधाने कथमप्रमा ॥

‘तां योगमिति मन्यन्ते’ इति श्रुतेः योगशास्त्रविहितं ब-  
हिरङ्गं यमादिकम् अन्तरङ्गं च धारणादिकं ब्रह्मज्ञानमपेक्षते  
इति प्रमाणं योगस्मृतिः । न च सा तत्र प्रमाणम्, अप्रमाणं  
च प्रधाने इति युक्तम्; एकत्र प्रसरन्त्याः अप्रमाणतापि-  
शाच्याः सर्वत्र प्रसरात् । ‘प्रसरं न लभन्ते हि यावत्कचन  
मर्कटाः । नाभिद्रवन्ति ते तावत्पिशाचा वा स्वगोचरे’ इति  
न्यायात्— इति प्राप्ते, अभिधीयते—

प्रधानादावतात्पर्यादप्रमाणमपि स्मृतिः ।

तात्पर्यविषये योगे प्रमा विध्यर्थवादवत् ॥

सूक्ष्मे आत्मनि चित्तनिवेशाय प्रधानाद्यनादि पूर्वपक्षा-  
भासोत्प्रेक्षितं चित्तनिवेशभूमित्वेन अनूद्यते योगशास्त्रे । अत  
एव योगशास्त्रकृतो वदन्ति— ‘गुणानां हि परं तत्त्वं न  
दृष्टिपथमृच्छति । यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्’  
इति । अतः प्रधानादौ न योगशास्त्रस्य तात्पर्यम्; किं तु  
योगे । न च अतात्पर्यविषयाप्रामाण्यं तात्पर्यगम्यार्थेऽपि  
अप्रामाण्यमावहति; मा हि भूवन्नर्थवादाः स्वाभिधेयेषु प्रजा-  
पतिवपोत्खननादिषु अप्रमाणमिति तूपरपश्चादिस्तुतावपि अ-  
प्रमाणम् । अत एव न स्मृत्येकदेशस्य प्रधानादावप्रामाण्ये  
योगेऽपि एकदेशान्तराप्रामाण्यशङ्का; अर्थवादानां स्वाभि-  
धेयेष्वप्रामाण्येऽपि विधीनां प्रामाण्योपलम्भात् । अवान्तर-  
वाक्यानामिव स्वार्थबोधेऽनपेक्षत्वात् वाक्यान्तराप्रामाण्ये-



ऽपि न वाक्यान्तरस्य प्रामाण्यमुपहन्यते । न च देवविग्रहादिवत् अतत्परस्मृत्यापि प्रधानादि प्रमेयम्; ब्रह्मोपादान-त्वश्रुतिविरोधात्, अविरोधाच्च विग्रहादौ । तस्मात् योग-स्मृतिः अमानं प्रधानादौ, मानं च योगे इति ॥

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च

शब्दात् ॥ ३ ॥

चेतनोपादानजगद्वादिसमन्वयस्य, गगनादि न चेतनप्र-कृतिकम्, द्रव्यत्वात्, घटवत्— इत्यनुमानेन संकोचसंदेहे, वेदविरुद्धस्मृतेः मूलाभावादमानत्वमुक्तम्; अनुमानमूलं तु व्याप्तिपक्षधर्मते लोकसिद्धे; अतः अनुमानैः समन्वयः सं-कोचनीयः इत्युत्तराधिकरणसंदोहस्य स्मृत्यधिकरणेन संग-तिः । वेदविरुद्धार्थस्मृतेः वेदवैलक्षण्यात् अतन्मूलत्ववत् ब्रह्मवैलक्षण्यात् जगदपि अतन्मूलमिति निरन्तरसंगतिः ।  
तथा हि—

प्रकृत्या सह सारूप्यं विकाराणामवस्थितम् ।

जगद्ब्रह्मसरूपं च नेति नो तस्य विक्रिया ॥

विशुद्धं चेतनं ब्रह्म जगज्जडमशुद्धिभाक् ।

तेन प्रधानसारूप्यात्प्रधानस्यैव विक्रिया ॥

सुखदुःखमोहात्मकतया जगदशुद्धमचेतनं च । ब्रह्म तु तद्विपरीतमिति सरूपप्रधानप्रकृतिकं जगत् । प्रयोगश्च—

ब्रह्म न आकाशोपादानम्, चेतनत्वात्— जीववत् । औपाधिकजीवस्य आकाशोपादानत्वस्य सिद्धान्तेऽप्यनिष्टत्वात् ससाध्यः सपक्षः । आकाशो वा न चेतनप्रकृतिकः, द्रव्यत्वात्— घटवत् । सुखदुःखमोहा वा जगदुपादानवर्तिनः, सकलजगदनुगतत्वात्— सत्तावत् । घटत्वादौ व्यभिचारवारणाय सकलग्रहणम् ॥

सिद्धान्तस्तु—

सर्वात्मना हि सारूप्ये प्रकृतीतरताहतिः ।

ब्रह्मसत्ता जगत्त्यस्ति किञ्चित्सारूप्य आश्रिते ॥

चेतनताया विरहाद्ब्रह्मोपादानतानिषेधे च ।

जगतोऽसाधारणता हेतोर्दृष्टान्तवैकल्यात् ॥

जगत् न ब्रह्मप्रकृतिकम्, अचेतनत्वात् इत्युक्ते कार्यस्य सर्वस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वस्वीकारात् तन्मध्ये नास्ति दृष्टान्तः । ब्रह्मणश्च ब्रह्माप्रकृतिकत्वेन सपक्षत्वात् तत्र च हेतोरप्रवेशात् असाधारणता । प्रथमानुमाने च चेतनस्य सतः आकाशानुपादानतायां संसारित्वमुपाधिः । द्वितीये च सपक्षः साध्यविकलः ; पटस्यापि तन्त्वापन्नब्रह्मप्रकृतिकत्वस्य अस्माकमिष्टत्वात् । तृतीये च कार्यत्वादिभिरनेकान्तः, तेषां सकलजगद्वर्तित्वात् प्रकृताववृत्तेश्च ॥

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि

व्याख्याताः ॥ ४ ॥

अनवच्छिन्नब्रह्मणोऽवच्छिन्नकार्यं प्रत्युपादानत्वश्रुतेः, उपादानात् कार्यं महत्परिमाणम् इत्यनुमानेन संकोचसंदेहे, अतिदेशत्वादुपदेशवत् संगतिः । यथा हि वेदविपरीतत्वात् सांख्यादिस्मृतिरतन्मूला, एवं ब्रह्मोपादानवैपरीत्यात् जगदपि अतन्मूलम्, तन्मूलत्वे हि ततो महत्स्यात् नाल्पम् इत्येषैव च अधिकाशङ्का । तथा हि—

उपादानस्य तन्त्वादेः पटादेर्न्यूनता यतः ।

जगन्मूलं ततो न्यूनपरिमाणं प्रतीयते ॥

पटमारभ्य यावन्नसरेणु महान्तो अवयविनः ततस्ततो न्यूनपरिमाणैरुपादानैः आरभ्यन्ते । त्रसरेणुश्च सावयवः, चाक्षुषद्रव्यत्वात्, घटवत् । यश्च त्रसरेणववयवः, तद्व्यणुकम् । तथा त्रसरेणववयवाः सावयवाः, महान्तं प्रत्यवयवत्वात्, तन्तुवत् इति द्व्यणुकावयवपरमाणुसिद्धिः । न च तस्यापि मूर्तत्वादिना सावयवत्वमनुमेयम्; तथा सति तदवयवानामपि सावयवत्वापत्तौ सुमेरुराजसर्षपयोः अनन्तावयवारब्धत्वात् समपरिमाणत्वप्रसङ्गात् । तस्मात् न ब्रह्मोपादानं जगत् इति । तत्राभिदध्महे—

शिष्टेष्टापि स्मृतिर्बाध्या यदा वेदविरोधतः ।

का कथा तत्परित्यक्ते मते वेदापवाधिते ॥

आरम्भेऽल्पान्महज्जन्म विवर्ते नियमो न हि ।

भूस्थस्य गिरिवृक्षेषु दूर्वात्वारोपदर्शनात् ॥

यत्तु त्रसरेण्वयवसावयवत्वानुमानम्, तत्र महत्त्वमुपाधिः । अस्तु वा अनेन परमाणोर्निरवयवत्वम्, तथापि न नित्यत्वम्; त्रसरेणुः कार्यावयवावयवः, महत्कार्यत्वात् पटवत्—इति परमाणोः कार्यत्वानुमानात् । स्यादेतत्; कार्यद्रव्यं चेत्परमाणुः, तर्हि सावयवः स्यात् घटवत्; तथा च अवयवानवस्थायां सुमेरुसर्षपपरिमाणसाम्यापातः इति; तन्न, अयं घटः एतदन्यसावयवत्वरहितकार्यद्रव्यान्यः, प्रमेयत्वात् घटवत्—इति सिद्धे निरवयवकार्यद्रव्ये, अस्य तर्कस्य मूलशैथिल्यात् । तथा च निरवयवोऽपि परमाणुः श्रुत्यवगतनित्यत्वात् मूलकारणात् ब्रह्मणः उत्पद्येत इति ॥

### भोक्त्रापत्तरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥

अद्वयब्रह्मणो जगत्सर्गवादिसमन्वयस्य भेदग्राहिमानविरोधसंदेहं, निरन्तरपूर्वाधिकरणस्य अतिदेशत्वेन उपदेशसापेक्षत्वात् न तेनास्य संगतिरिति उपदेशभूतेन ‘न विलक्षणत्वात्’ इत्यनेन संगतिः उच्यते— तत्र हि जगत्कारणे तर्कोऽप्रतिष्ठित इत्युक्तम्; तर्हि जगद्वेदे स प्रतिष्ठित इति तेन श्रुतेर्मुखनिरोधात् अद्वैतविरोधः । तथा हि—

भिन्नाभ्यां भोक्तृभोग्याभ्यामभेदे ब्रह्मभिन्नता ।

तस्मात्तयोरभेदे च स्यादभेदः परस्परम् ॥

तत्र भेदग्राहिप्रत्यक्षस्य निरवकाशत्वात् अद्वैतश्रुतिः स-

त्ताजात्यैक्यात् उपचारेण जगदद्वैतबोधिका । शब्दस्य ह्युप-  
चारः संभवति, न प्रत्यक्षस्य— इति प्राप्ते, अभिधीयते—

अवध्यभिन्नतरङ्गादेरितरेतरभेदवत् ।

ब्रह्माभेदेऽपि भेदः स्यादन्योन्यं भोक्तृभोग्ययोः ॥

ये हि केनचिद्रूपेणाभिन्नाः ते परस्परमपि अभिन्ना इति न  
व्याप्तिः, समुद्रतरङ्गादौ व्यभिचारादिति ॥

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ ६ ॥

अङ्गीकृत्य भेदग्राहिप्रत्यक्षादेः प्रामाण्यं भेदाभेदयोः कार्य-  
करणात्मरूपभेदेन विरोधो वेदान्तानां परिहृतः । इदानीं  
तु स्वीकृतं तत्प्रामाण्यं तत्त्वावेदकत्वपर्यन्तम् उत्सृष्टम्; अतः  
तदपवादेन व्यावहारिकत्वे व्यवस्थाप्यते । तत्त्वावेदकत्वे च  
प्रत्यक्षादेः, तद्रम्यप्रपञ्चस्य सत्यत्वात् ब्रह्माद्वैतविरोधः, व्या-  
वहारिकत्वे तु नेति । तत्र प्रत्यक्षादि तत्त्वावेदकं न वा इति  
प्रत्यक्षादिप्रामाण्यात् वेदान्तप्रामाण्याच्च संशयः । तत्र पूर्वा-  
धिकरणे भेदाभेदसमाश्रयणेन यद्विरोधसमाधानं कृतम् एक-  
देशिना, तदेव पूर्वपक्षीकृत्य इह निरस्यते । तथा हि—

वेदान्तैर्मानतायां समतुलिततया कर्मकाण्डाक्षजादेः

सत्याच्छ्रुत्याद्युपायादवितथपरमब्रह्मधीसंभवाच्च ।

सत्यत्वादीशतायाः श्रुतिषु परिणतोदाहृतेर्वेदगीते-

रद्वैतस्याप्यभिन्नं भवति च परमं ब्रह्म भिन्नं प्रमाणात् ॥

यदि हि एकमेव वस्तु, ततो नानात्वाभावात् वैदिकः कर्मकाण्डविषयो विधेयनिषेध्यादिभेदो वाध्येत; लौकिकश्च भेदः प्रत्यक्षादिप्राप्त उच्छिद्येत । न च तद्युक्तम्, अबाधितानधिगतासंदिग्धविज्ञानसाधनत्वस्य प्रमाणसामान्यलक्षणस्य प्रत्यक्षादीनां कर्मकाण्डस्य च वेदान्तैरविशेषात् । इतरथा वेदैकदेशकर्मकाण्डवत् वेदान्तानामपि अप्रामाण्यप्रसङ्गात् । ऐकान्तिकाद्वैते च वर्णपदवाक्यप्रकरणादीनाम् अलीकत्वात् तत्प्रभवमद्वैतज्ञानम् असमीचीनं भवेत्— धूमाभासजन्यबहिर्बुद्धिवत् । जन्मादिसूत्रोक्तेश्चरत्वस्य सत्यत्वात् सत्यमीशितव्यमन्तरेण तदनुपपत्तेः । ब्रह्मकारणत्वे च ‘यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्’ इत्यादिना परिणामिनां मृदादीनां दृष्टान्तत्वेनाभिधानात् दार्ष्टान्तिकमपि ब्रह्मपरिणामीति गम्यते । एतैर्हेतुभिः भेदः सत्यः । ‘एकमेवाद्वितीयम्’ इत्यादिवाक्यैः अद्वैतमपि अवगतम् । अतः भिन्नाभिन्नं ब्रह्म प्रमाणसिद्धमिति न विरोध इति प्राप्ते, अभिधीयते—

तत्त्वे श्रुत्युपपत्तिभिर्व्यपगते द्वैतस्य तद्ग्राहिणः

प्रामाण्यं व्यवहारकारिविषयं मिथ्यापि सद्बोधकम् ।

मायायन्तुरपीश्वरस्य मुखतः कूटस्थतान्नानतो

दृष्टान्तैः परिणामधीर्भ्रम इति ब्रह्मैकमेकान्ततः ॥

‘येनाश्रुतं श्रुतम्’ इत्यादिना एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं

प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये श्रुत्या दृष्टान्त उच्यते— ‘यथा सो-  
म्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो  
नामधेयम्’ वाचा आरभ्यते परं वक्तुं विकारः, न तु  
तत्त्वतोऽस्ति ; यतः नामधेयमात्रमेतत्— यथा राहोः शिर  
इति ; यथाहुः— ‘शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः’  
इति ; ‘मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इति— एवं मिथ्याभूतस्य कार्य-  
स्य कारणमेव तत्त्वम् ; तत्त्वज्ञानं च ज्ञानम् ; अतोऽन्यन्मि-  
थ्याज्ञानमिति कारणज्ञानात् कार्यतत्त्वज्ञानसिद्धिरिति । परि-  
णामाभिप्रायत्वे तु श्रुतेः, कार्यस्यापि सत्यत्वात् ‘मृत्तिकेत्येव  
सत्यम्’ इति कारणस्यैव सत्यत्वावधारणमयुक्तं स्यात् । ततश्च  
परिणामदृष्टान्तश्रुत्यर्थापत्त्या परिणामकल्पना निरस्ता ; तस्याः  
‘मृत्तिकेत्येव’ इत्येवकारश्रुतिविरुद्धाया अनुदयात् । परि-  
णामस्वीकृतौ च भेदः सत्य इति तस्य न अभेदस्तत्त्वम् ।  
ततश्च अभेदज्ञानेऽपि भेदो न ज्ञातः स्यात् । तथा च प्रधा-  
नस्य प्रतिज्ञाया अनुरोधेन गुणभूतदृष्टान्तो वक्ष्यमाणयुक्तीर-  
पेक्ष्य विवर्तपरतया नेतव्यः । ‘निष्कलं निष्क्रियं शान्तं नि-  
रवद्यं निरञ्जनम्’ इति परिणामस्यापि क्रियायाः साक्षात्प्र-  
तिषेधात् अर्थापत्त्यनुदयः । ‘नेह नानास्ति किञ्चन’ इति  
कारणे ब्रह्मणि प्राप्तस्य कार्यस्य तत्रैव प्रतिषेधात्— शुक्तौ  
निषिद्धरजतस्येव मिथ्यात्वमवगम्यते । युक्त्यापि कार्यस्य  
कारणव्यतिरेकेण अभावोऽवगन्तव्यः— कार्यस्य सत्त्वं  
स्वरूपम् धर्मः, तत्त्वान्तरं वा । नाद्यः, सत्स्वभावस्य असत्त्व-

विरोधात् । न हि जातु घटः पटो भवति । न द्वितीयः, यथा सत्त्वं धर्मः तथा असत्त्वमपि कार्यस्य धर्म इति सत्त्वा-सत्त्वयोः कार्यं दण्डायेत । तथा च नित्यस्य कार्यत्वं न भवेत् । न तृतीयः, तत्त्वान्तररूपासत्त्वे जातेऽपि कार्यस्याक्षतेः । कार्यविरोधि तदिति चेत्, विरोधिना तेन कार्यस्य किं क्रियते? असत्त्वमिति चेत्, तर्हि तदप्य-सत्त्वं त्वेधा विकल्प्य दूष्यम् । अथ कार्यस्यासत्त्वं न भवति, किं तु कार्यमेवासद्भवतीति— तत्र वक्तव्यम्— किं भावात्मकस्य अभावमात्रत्वम्, उत अभावस्य भावमा-त्रता? पूर्वत्र कार्यव्यवहारः प्रलीयेत; उत्तरत्र अभाववार्ता उच्छिद्येत इति भावाद्वैतापात इति । प्रयोगश्च— पटत्वं तन्तुनिष्ठम्, पटगतत्वात् सत्तावदिति । ततश्च पटस्य तन्तु-व्यतिरेकेण अभावः । एवं सर्वत्र । तदेवं कार्यस्य कारण-व्यतिरेकेण तत्त्वतो असत्त्वं युक्तिसिद्धं श्रुत्या दृष्टान्तितम् ‘मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इति । तच्च दार्ष्टान्तिकेऽपि जगति अनुसंधेयम् । तथा जीवानामपि ब्रह्माव्यतिरेकः । ते तु स्वरूपेण सत्याः— घटाद्याकाशानामिव महाकाशाद्भेदमा-त्रमारोपितम्; ‘तत्त्वमसि’ इति श्रुतेः । जीवत्वं ब्रह्म-निष्ठम्, जीवनिष्ठत्वात् सत्त्ववत्— इत्यनुमानाच्च । एवं श्रुति-युक्त्यवगते कार्यस्यातात्त्विकत्वे, तद्भेदग्राहिप्रत्यक्षादेः अर्थ-क्रियासमर्थवस्तुविषयत्वे बाधाभावात् तादृशवस्तुपरिच्छेद-कत्वमेव प्रामाण्यम् । न हि कुम्भादेरुदकाहरणादिहेतुत्वं



प्रत्यक्षादिसिद्धं बाध्यते । कर्मकाण्डस्यापि तादृशमेव प्रामा-  
 ण्यम् । न हि तदवगतस्वर्गसाधनभावं यागमनुतिष्ठतो न  
 स्वर्गो भवति । तथा मिथ्यापि वर्णदैर्घ्यम् अगमनमागमनम्  
 इत्यादिप्रयोगभेदेषु सत्यबोधकं दृष्टम् । ईश्वरत्वमपि अनिर्वा-  
 च्यमायातत्कार्यनियन्तृत्वादुपपन्नं न प्रपञ्चसत्यतां कल्प-  
 यति ॥

**इतरव्यपदेशाद्विताकरणादिदोष-**

**प्रसक्तिः ॥ ७ ॥**

जीवाभिन्नं ब्रह्म जगदुपादानमिति वदन् समन्वयः, यदि  
 तादृशं ब्रह्म जगज्जनयेत् तर्हि स्वानिष्टं न सृजेत्—इति न्यायेन  
 विरुध्यते न वा इति संशयः । पूर्वत्र कार्यकारणानन्यत्ववत्  
 घटाकाशकल्पजीवानां महाकाशोपमब्रह्मैक्यमुक्तम् ; तत् हि-  
 ताकरणाद्यनुपपत्तिभिः आक्षिप्यते । तथा हि—

सर्वज्ञब्रह्मणो जीवैरभेदं स्वस्य पश्यतः ।

जीवाहितक्रिया स्वार्था स्यादेषा हि न युज्यते ॥

यद्यपि जीवा अविद्यावत्त्वात् परमात्मभावमात्मनो ना-  
 नुभवन्ति, अहितमपि हि भ्रमेण कुर्वन्ति, तथापि तान् पर-  
 मात्मा स्वस्मादभिन्नान् अनुभवति ; इतरथा सर्वज्ञत्वव्याघा-  
 तात् । तथा चायं जीवान् बध्नन् आत्मानमेव बध्नीयात् ।  
 तस्मात् दुःखबहुलं जगत् न चेतनकारणकम् इति प्राप्ते,  
 अभिधीयते—

अवस्तु जीवसंसारस्तेन नास्ति मम क्षतिः ।

इति पश्यत ईशस्य न हिताहितभागिता ॥

परमात्मनो दर्शनक्रियाश्रयत्वाभावेऽपि स्वरूपप्रकाश एव तत्तद्विषयोपरक्तः तं तं यथास्थितमवभासयति ; अतः पश्यतः इति निर्देशः ॥

**उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्वि ॥ ८ ॥**

ब्रह्म नोपादानम्, असहायत्वात् संमतवत् इति न्यायेन समन्वयस्य विरोधसंदेहे, पूर्वत्र औपाधिकजीवब्रह्मभेदात् हिताकरणादिदोषः परिहृतः ; इह तु उपाधितोऽपि विभक्तमधिष्ठात्रादि नास्ति, ईश्वरनानात्वाभावात् ; ततश्च विचित्रकार्यानुपपत्तिः । तथा हि—

नानाजातीयकार्याणां क्रमाज्जन्म न संभवि ।

एकस्माद्वितीयाच्च ब्रह्मणस्तव संमतात् ॥

कारणवैजात्यं हि कार्यवैजात्ये हेतुः, क्षीरबीजादिकारणभेदात् दध्यङ्कुरादिकार्यवैजात्यदर्शनात् । तव तु एकस्माद्ब्रह्मण एकजातीयमेव कार्यं जायेत । तच्च एकजातीयं सर्वं युगपदुत्पद्येत, अक्रमात्कारणात् कार्यक्रमायोगात् ; समर्थस्य विलम्बानुपपत्तेः । न च सहकारिसंनिधानक्रमात् कार्यक्रमः, अद्वितीयत्वात् ब्रह्मणः सहकारिसमवधानासंभवात् । तस्मात् एकमद्वितीयं ब्रह्म न जगदुपादानम्, व्याघातादिति

प्राप्ते, उच्यते—

अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तत्स्वाविद्यासहायवत् ।

नानाकार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः ॥

किं तत्त्वतोऽनुपादानत्वम् आपाद्यम्, उत अतत्त्वतः ।  
आद्ये इष्टप्रसङ्गः । द्वितीये तु कल्पे यदि कुलालवत् स्वध-  
र्मत्वेनानन्तर्भूतात्यन्तव्यतिरिक्तसहकार्यभावादनुपादानत्वम्,  
ततः क्षीरादिभिर्यभिचारः । तेऽपि हि बाह्यातश्चनाव्यनपेक्षा  
एव कालपरिपाकवशेन परिणमन्ते । अथ अन्तरङ्गधर्मभूत-  
सहकार्यभावो हेतुः, सोऽसिद्धः, अविद्याविषयीकृतस्य धर्म-  
स्य संभवान् । तद्वशाच्च स्वप्नवत् ब्रह्म नानाजातीयं कार्यं  
जनयिष्यति । अविद्यागतशक्तिवैचित्र्याच्च कार्यक्रमः सं-  
भवी । एकस्मादपि बह्वेः दाहप्रकाशादीनाम्, एकस्माच्च  
कर्मणः संयोगविभागसंस्काराणामुदयाच्च अनेकान्तं कारणै-  
कत्वं कार्याभेदे । यदि चेतनत्वे सति एकं न अनेकहेतुरिति,  
ततो देवादिभिर्यभिचारः; तेषामपि अन्यत्र कल्पसहका-  
रिनिरपेक्षाणां नानाविधप्रासादाद्युत्पत्तौ अधिष्ठातृत्वस्य मन्त्रा-  
र्थवादादिषु दर्शनात् । अत्र च क्षीरदृष्टान्तेन असहायस्यो-  
पादानत्वं दर्शितम् । समर्थितं देवादिदृष्टान्तेन असहायस्य  
अधिष्ठातृत्वमिति ॥

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्द-

कोपो वा ॥ ९ ॥

निरवयवाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं त्रुवतः समन्वयस्य, सावयव-  
स्यैव नानाकार्योपादानत्वम् इति न्यायेन विरोधसंदेहे, पूर्वा-  
धिकरणोक्तक्षीरदृष्टान्तात् परिणामि ब्रह्मेति भ्रमे जाते, स  
निरस्यते ।

कात्स्न्येन कार्यभावाप्तौ ब्रह्मानित्यं प्रसज्यते ।

एकदेशेन तत्प्राप्तौ ब्रह्म सावयवं भवेत् ॥

सिद्धान्तस्तु—

मायाभिर्वहुरूपत्वं न कात्स्न्यान्नापि भागतः ।

इति निर्भागता कार्यभावाद्योरविरुद्धता ॥

**सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ १० ॥**

मायाशक्तिमद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य, न माया  
अशरीरस्य इति न्यायेन विरोधो अस्ति न वेति संदेहे,  
अन्तर्याम्यधिकरणे अविद्योपार्जितत्वसंबन्धे जगद्ब्रह्मणोः सिद्धे,  
शरीररहितस्यापि नियन्तृत्वसंभव उक्तः ; इह तु अशरी-  
रस्य न माया संभवति इत्याक्षिप्यते—

ये हि मायाविनो लोके ते सर्वेऽपि शरीरिणः ।

अशरीरस्य मायित्वं न व्यापकनिवृत्तितः ॥

सिद्धान्तस्तु—

बाह्यहेतुमृते यद्वन्मायया कार्यकारिता ।

ऋतेऽपि देहं मायैवं ब्रह्मण्यस्तु प्रमाणतः ॥

मायाविनो यद्यपि शरीरिणः, तथापि बाह्यसाधनानपेक्षाः कार्याय प्रभवन्ति । कुलालादयस्तु न । यथेदं वैचित्र्यम् एवं शरीरेण विनापि माया ब्रह्मण्यस्तु । यदि पुनरन्यत्र दृष्टं शरीरित्वं मायावित्वेन ब्रह्मणि साध्येत, तर्हि कुलालादिषु दृष्टं बाह्यहेत्वपेक्षित्वं कर्तृत्वेन मायाविष्वप्यापाद्येत । तेषु बाह्यहेतुमन्तरेण मायया कर्तृत्वप्रतीतेः नानुमानमिति चेत्, तर्हि ब्रह्मण्यपि शरीरमन्तरेण मायाशक्तिमत्त्वं प्रमीयते, 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इति समानम् ॥

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ११ ॥

परितृप्ताद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य, ब्रह्म न विना प्रयोजनं सृजति, अभ्रान्तचेतनत्वात् संमतवत् इति न्यायेन विरोधसंदेहे, पूर्वत्र मायया कारणत्वं ब्रह्मण उक्तम्; तदेव प्रयोजनमन्तरेण न संभवति; मायाविनोऽपि कार्य-निर्माणस्य कौतुकप्रदर्शनेन दृष्टलाभादेः प्रयोजनस्य दृष्टत्वात् इत्याक्षिप्यते—

फलोद्देशेन कर्तृत्वे ब्रह्मणोऽकृतकृत्यता ।

अनुद्दिश्य जगत्सर्गं उन्मत्तनरतुल्यता ॥

समाधानं तु—

लीलाश्वासवृथाचेष्टा अनुद्दिश्य फलं यतः ।

अनुन्मत्तैर्विरच्यन्ते तस्मात्सव्यभिचारिता ॥

यद्यपि लीलायामनुनिष्पादि सुखफलमस्ति, तथापि न तदु-  
द्देश्यम्; आप्तकामानां राजादीनां सुखोल्लासादेव क्रीडासु  
प्रवृत्तिदर्शनात् । प्रयोजनप्रार्थनापरिक्लिष्टचित्तानां रतिविर-  
हिणां क्रीडाया अनभिमतत्वात् । श्वासप्रश्वासयोश्च नास्ति  
प्रयोजनाभिसंधानम् । न च अनयोश्चैतन्यमपि अनुपयो-  
गि, सुषुप्तौ चैतन्याभावेऽपि भावात्, तथा च प्रयोजनोद्देशरू-  
पसाध्याभाववत् अभ्रान्तचेतनप्रवृत्तित्वरूपहेतोरपि तत्राभा-  
वात् न व्यभिचार इति वाच्यम्; सुषुप्तावपि चैतन्या-  
प्रच्युतेः, अन्यथा मृतशरीरेऽपि श्वासप्रश्वासप्रसङ्गात् ।  
तथा यादृच्छिकीषु तृणच्छेदादिप्रवृत्तिषु न फलोद्देशः । 'न  
कुर्वीत वृथाचेष्टाम्' इति च धर्मसूत्रकृतां प्रतिषेधः तदभावे  
निर्विषयः स्यात् । न च उन्मत्तान्प्रति एतत्सूत्रमर्थवत्;  
तेषां तदर्थबोधतदनुष्ठानानुपपत्तेः ॥

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि  
दर्शयति ॥ १२ ॥

यो विषमसृष्टिकारी स सावद्यः, ब्रह्म च विषमं सृजति  
इति न्यायेन समन्वयस्य विरोध इति संदेहे, पूर्वत्र लीलया  
स्रष्टृत्वमुक्तम्, इदानीं सैव न सापेक्षस्य संभवति, अनीश्व-  
रत्वप्रसङ्गात्; निरपेक्षत्वे च रागादिमत्त्वम् इत्याक्षिप्यते—

धर्माधर्मौ जनैरीशः कारयित्वा तयोः फले ।

सुखदुःखे सृजनरागद्वेषी संहारतोऽघृणः ॥

कांश्चित्सुखिनः कांश्चिदुःखिनः सृजन्नीश्वरः पक्षपाती स्यात् । कथायां युक्तायुक्तवादिनोः अनुग्रहदण्डविधातृसभापतिवत् धर्माधर्मसापेक्षत्वात् अदोष इति चेत्, न ; जीवानां तत्कर्तृत्वस्यापि ईश्वराधीनत्वात् । तथा च कांश्चित् धर्मान् कारयित्वा सुखिनः सृजति, कांश्चिच्च अधर्मान् कारयित्वा दुःखिनः सृजति इति— तदवस्थः पक्षपातः । प्रलयसमये च स्वसंसृष्टसर्वप्रजासंहारान्निर्घृणत्वम् । तस्मात् अन्याय्या जगत्सृष्टिश्चेतनात्— इति प्राप्ते, अभिधीयते—

विषमं सृजतीश्वरो जगन्न च रागाद्यभिभूत इत्यपि ।

श्रवणादधुना क्रिया नरैः स हि पूर्वक्रियैव कारयेत् ॥

श्रूयते हि ‘एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते’ इति । कारयितृत्वं च पूर्वकर्मापेक्षमिति श्रूयते—‘पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन’ इति । तथा निरवद्यत्वमपि ईश्वरस्य आम्रातम्—‘निरवद्यं निरञ्जनम्’ इति । विषमस्रष्टृत्वं च सृष्टिश्रुतेरवगतम् । अतः उभयोपपत्त्यर्थं पूर्वकृतकर्मापेक्षमेव इदानीं कारयति कर्म इति श्रुत्यैव उक्ता कर्माव्यवस्था अनुमोदनीया । अपि च विषमस्रष्टृत्वेन रागादिमत्त्वं वा अनुमेयम् ; ईश्वरस्य निरवद्यत्वाद्वा विषमस्रष्टृत्वाभावः ; आद्यमनुमानं निरवद्यत्वश्रुत्या अतीतकालम् । द्वितीयं च सृष्टिश्रुत्या । न च प्रलयसमये सर्वसंहा-

रात् निर्घृणत्वम् ; स हि समस्तकर्मणां फलनिरोधावसर  
इति । न च कर्मापेक्षया सृष्टिलयकर्तृत्वे अनीश्वरत्वम् ; न हि  
सेवाद्यपेक्षफलप्रदः प्रभुः अप्रभुर्भवति । तस्माद्विशदमशेषम् ॥

### सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ १३ ॥

निर्गुणस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्ववादिसमन्वयस्य, यन्नि-  
र्गुणं न तदुपादानम्, गन्धवत्— इति न्यायेन विरोधसंदेहे,  
भवतु विषमस्रष्टृत्वं पक्षपातेऽनेकान्तम् ; न त्वनुपादानत्वे अगु-  
णत्वम् ; मृदादेः सगुणस्यैव उपादानत्वोपलम्भात् । अगुणं  
ब्रह्म जगदुपादानं न युज्यते । ब्रह्म नोपादानम्, निर्गुणत्वात्  
गन्धवत्— इति प्राप्ते, अभिधीयते—

भ्रमाधिष्ठानतोऽस्माभिः प्रकृतित्वमुपेयते ।

निर्गुणेऽप्यस्ति जात्यादौ सेति सव्यभिचारिता ॥

न हि मृदादेरपि तत्त्वतः परिणामोऽस्ति ; तत्परिणामस्य  
घटादेः सत्त्वासत्त्वयोः स्वरूपधर्मत्वविकल्पाभ्यां तदनिर्वा-  
च्यत्वस्य आरम्भणाधिकरणे निवेदितत्वात् । तस्मात् घटा-  
दिकल्पनाधिष्ठानत्वमेव मृदादेरप्युपादानत्वम् । तथा च  
जात्यादावपि अनित्यत्वापोहत्वाद्यध्यारोपात् अस्त्यधिष्ठानत्व-  
मिति अनैकान्तिकं निर्गुणत्वमनुपादानत्वे ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥



## द्वितीयः पादः ॥

पूर्वास्मिन्पादे सांख्यादिभिः प्रधानपरत्वेन वेदान्तव्याख्या-  
यामनुग्राहकत्वेन ये न्यायाः विलक्षणत्वादयः उपन्यस्यन्ते, ते  
परिहृताः । इदानीं वेदनैरपेक्ष्येण प्रधानादिसिद्धौ यान्यनुमा-  
नानि अभिधीयन्ते, तान्यस्मिन्पादे निरस्यन्ते ॥

### रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

चेतनप्रकृतिकं जगदिति प्रतिपादयतो वेदस्य सांख्यी-  
यानुमानेन प्रतिरोधसंदेहे, प्राप्तं तावत्—

सुखदुःखविषादैर्हि भावाः प्रत्येकमन्विताः ।

तस्मात्ते तदुपादानाः परिमाणादिभिस्तथा ॥

ये हि भावाः यैरनेकवृत्तिभिः प्रत्येकमन्वीयन्ते, ते तत्प्र-  
कृतिकाः, यथा मृदन्विताः शरावादयः । समन्वीयते चैत्र-  
दाराः पद्मावती तथाविधैः सुखदुःखमोहैः— चैत्रस्य तत्र  
प्रीतेः, सपत्नीनां ततो दुःखोदयात्, मैत्रस्य तामविन्दतो मो-  
हरूपविषादोदयात् । पद्मावत्या च व्याख्यातमशेषं जगत् ।  
रूपादिषु व्यभिचारवारणाय अनेकवृत्तिभिरित्युक्तम् । वृक्षा-  
दिषु व्यासज्य अनुगते वने अनैकान्तिकत्वनिवृत्तये प्रत्येक-

मित्युक्तम् । न हि प्रत्येकं तरुषु वनमिति मतिः । प्रयोगश्च-  
 सुखदुःखमोहाः कार्याणां प्रकृतयः, तेषु प्रत्येकमन्वितत्वे  
 सति अनेकवृत्तित्वात्, मृदादिवत् । सिद्धे च घटादी-  
 नामेवं सुखादिप्रकृतिकत्वे, आकाशादयः सुखादिप्रकृति-  
 काः, कार्यत्वात्, घटवदिति तत्रापि तत्प्रकृतिकत्वमनुमेयम् ।  
 तर्हि सत्त्वादीनां पृथक्पृथक् प्रकृतित्वमिति चेत्, न ;  
 विमतं संसृज्यमानवस्तुप्रकृतिकम्, परिमितत्वात्, मृत्स-  
 लिलादिसंसृष्टवस्तुभिरारब्धमिवाङ्कुरादि । 'शक्तितः प्रवृत्तेः  
 कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य'—इत्येतान्यनुमानानि  
 सत्कार्यविषयाणि । कारणशक्तिः विद्यमानविषया, विषयित्वात्  
 ज्ञानवत्; कारणत्वं विद्यमानप्रतियोगिकम्, सप्रतियोगित्वात्  
 वाच्यत्ववत्; प्रलयकालः कार्यवान्, कालत्वात्, स्थितिकाल-  
 वत्—इत्यनुमानतत्त्वम् । अत्र ब्रूमः—

गुणानां प्रकृतित्वे स्यान्मायया सिद्धसाधनम् ।

चेतनेनानधिष्ठाने तेषां हेतोर्विरुद्धता ॥

किं सत्त्वादीनां कार्यान्वयित्वेन प्रकृतित्वमात्रं साध्यम्,  
 उत चेतनानधिष्ठितप्रकृतित्वम् ? आद्ये, सिद्धसाधनम्, त्रिगु-  
 णाया मायाया ईश्वराधीनाया जगत्प्रकृतिकत्वाभ्युपगमात् ।  
 द्वितीये, समन्वयित्वहेतोर्विरुद्धत्वम् ; घटादिष्वन्वयिनां मृ-  
 दादीनां चेतनाधिष्ठितत्वव्याप्तेः । तथा च विमतं चेतनान-  
 धिष्ठिताचेतनप्रकृतिकं न भवति, कार्यत्वात् कुम्भवदिति

सत्प्रतिपक्षत्वम् । सुखादीनामात्मनिष्ठत्वात् घटाद्यन्वयित्वस्य असिद्धत्वं च । सुखादिनिमित्तत्वमेव च पद्मावत्यादीनाम् न तु तदात्मत्वम्, अनुभवविरोधादिति । परिमितत्वमपि संसृष्टवस्तुप्रकृतिकत्वं न साधयति, देशतः परिमितत्वस्य नभसि अव्याप्तेः । वस्तुतः परिमितत्वस्यात्मन्यनैकान्त्यात् । कालतः परिमितत्वस्य सावयवत्वेन सोपाधिकत्वात् ; नानावस्त्वारब्धस्याङ्कुरादेः सर्वस्य सावयवत्वात् । न च अस्य साधनव्यापकत्वम् ; क्रियादौ तदनुमाने बाधात् । विषयित्वमपि अतीतादिज्ञाने अनेकान्तम् ; अतीतादेरपि वर्तमानत्वे अतीतादिज्ञानस्य निरालम्बनत्वापत्तेः सर्वस्यैव वर्तमानत्वापातात् । सप्रतियोगिकत्वमपि अभावे सव्यभिचारम् ; अभावो हि सप्रतियोगिकः, न च विद्यमानप्रतियोगिकः, व्याघातात् । कालत्वादिहेतुश्च बाधितविषयः, प्रलये कार्याभावस्य धर्मिग्राहकप्रमाणप्रमापितत्वात् । न च अनभिव्यक्तिस्तत्र कार्यस्येति वाच्यम् ; अभिव्यक्तेरपि कार्यवत्सत्त्वे अनभिव्यक्तिव्याघातात् ; असत्त्वे कार्यस्याप्यसत्त्वापत्तिः । अस्माकं तु सत्सदेव । कादाचित्कं तु न सन्नाप्यसत्— इत्यारम्भणाधिकरणे निवेदितम् ॥

**महर्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ २ ॥**

चेतनोपादानं जगदिति वदतः समन्वयस्य, कारणगतो विशेषगुणः कार्ये गुणत्वावान्तरजात्या स्वसमानजातीयं गुणान्तरमारभते इति साधयता वैशेषिकानुमानेन प्रतिरोधसं-

देहे— पूर्वत्र प्रधानगुणानन्वयात् जगत् न तत्प्रकृतिकमित्यु-  
क्तम्; तर्हि ब्रह्मविशेषगुणचैतन्यानन्वयात् तदुपादानकमपि  
जगन्न भवतीति प्राप्नोति । अत एव च अस्य स्वपक्षे न्याय-  
विरोधपरिहारपरस्य विचारस्य स्मृतिपादसंगतस्यापि इह करणं  
वर्णितावान्तरसंगतिलोभाद्युज्यते । तत्र—

ब्रह्म चेज्जगतो योनिस्तद्विशेषगुणान्वितम् ।

जगत्स्यान्न तु तत्तस्मात्तस्य न प्रकृतिर्भवेत् ॥

ब्रह्म न गगनप्रकृतिः, गगनगतविशेषगुणस्य गुणत्वा-  
वान्तरजात्या समानजातीयेन विशेषगुणेन रहितत्वात्; घट-  
वत् । अत्र प्रतिबन्धा उत्तरमुच्यते —

परमाणुगा न परिमण्डलता

द्व्यणुके करोति परिमण्डलताम् ।

द्व्यणुकाणुता च महति त्र्यणुके

जनयेन्न तद्वदणुतामपराम् ॥

एषा वैशेषिकाणां प्रक्रिया— परमाणुभ्यां परिमण्डलाभ्यां  
द्व्यणुकमारभ्यते । तस्याणुत्वं परिमाणम् । द्व्यणुकैर्वहुभिः त्र्यणु-  
कादि महदारभ्यते । न बहुभ्यः परमाणुभ्यो महदारभ्यते, तथा  
सति घटस्यापि बहुभिः परमाणुभिरारब्धत्वप्रसङ्गे कुम्भभङ्ग-  
समनन्तरं कपालशर्करादयो नोपलभ्येरन्, तेषामनारब्ध-  
त्वात्; परमाणूनां च घटावयवानामतीन्द्रियत्वात् । त-  
स्मात् द्व्यणुकादिप्रक्रमेणैव महदारम्भः । न च द्व्यणुकद्वयात्  
द्रव्यस्यारम्भः, वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तदपि हि द्व्यणुकमेव भवेत्;

कारणबहुत्वमहत्वप्रचयविशेषेभ्यो हि महत्त्वस्योत्पत्तिः । न च द्व्यणुकयोर्महत्त्वमस्ति ; नापि बहुत्वम् ; न च प्रचयविशेषः ; द्व्यणुकावयवानामनवयवत्वेन द्व्यणुकयोः प्रशिथिलावयवसंयोगवत्त्वविरहात् । तस्मात् द्व्यणुकद्वयारब्धद्रव्येणापि द्व्यणुकैर्नैव भवितव्यम् । तथा सति भोगातिशयाभावात् अदृष्टनिमित्तत्वाच्च विश्वनिर्माणस्य, अदृष्टस्य च भोगहेतुत्वात् द्व्यणुकारब्धद्रव्यनिमित्तभोगस्य च द्व्यणुकैर्नैव सिद्धेः न द्व्यणुकाभ्यां कार्यमारभ्यते । अतः आरम्भार्थवत्त्वाय बहुभिरेव द्व्यणुकैस्त्र्यणुकादि महदारभ्यते । अस्ति हि द्व्यणुकेषु महत्त्वहेतुः बहुत्वं महत्त्वं च भोगातिशयहेतुः— इति । तत्र यथा परमाणुगतपारिमाण्डिल्यं द्व्यणुके पारिमाण्डिल्यमपरं नारभते, द्व्यणुकगतं वा अणुत्वं महति त्र्यणुके नाणुत्वान्तरमारभते, एवं ब्रह्मचैतन्यमपि जगति चैतन्यं नारभते । ननु विषममिदमुच्यते, चैतन्यं हि विशेषगुणः, तस्य कार्ये विशेषगुणान्तरारम्भकत्वं शङ्कितम्, कारणविशेषगुणस्य च कार्ये सजातीयविशेषगुणान्तरारम्भे न व्यभिचारः, तन्तुपटादिषु सर्वत्र तथैवोपलब्धेः ; पारिमाण्डिल्यादि तु परिमाणं साधारणगुणः ; तस्यानारम्भकत्वेऽपि न दोष इति । उच्यते— यथा साधारणगुणस्तन्त्वादिगतमहत्त्वं पटादौ कारणैकार्थसमवायात् महत्त्वान्तरमारभते— एवं द्व्यणुकगतमणुत्वं द्व्यणुकारब्धद्रव्ये अणुत्वान्तरं किमिति नारभते, कारणैकार्थस-

मवायाविशेषात् । भोगातिशयाभावात् क्वचित् साधारणगुण-  
स्याप्यनारम्भकत्वमिति चेत्, तर्हि इहापि अन्यत्र विशेषगु-  
णानामारम्भकत्वेऽपि, ब्रह्मचेतनाया जगति सर्वत्रारम्भे शे-  
षशेषिभावाभावेन भोगासंभवप्रसङ्गे, स मा भूदित्याकाशादौ  
चैतन्यं नारभ्यते । जीवेषु तु ब्रह्मप्रतिविम्बकल्पेषु ब्रह्मचेत-  
ना अनुवर्तिष्यत इति समानम् । तदुक्तं वार्तिककारैः—‘तमः  
प्रधानं क्षेत्राणां चित्प्रधानं चिदात्मनाम् । परं कारणतामेति  
भावानां ज्ञानकर्मभिः’ इति । यथा च विशेषगुणत्वमपि  
निर्वक्तुं न शक्यते तथोपपादितं वेदान्तकल्पतरौ ॥

**उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ ३ ॥**

व्यापिब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य, परमाण्वारब्धं  
जगदिति साधयता अनुमानेन प्रतिरोधसंदेहे, अस्याधिकर-  
णस्य प्रासङ्गिकेनानन्तराधिकरणेन न संगतिरिति व्यवहिते-  
नोच्यते—प्रधानं चेतनानधिष्ठितत्वान्न कारणं चेत्, तर्ह्यणवः  
सन्तु तदधिष्ठिताः कारणम् । ननु क्षुद्रारभ्यं महदिति निय-  
मभङ्गः ‘एतेन शिष्टापरिग्रहाः’ इत्यधिकरणे कृतः, कथमिह  
परमाणूपादानत्वस्य प्राप्तिः । उच्यते—विवर्तः क्षोदीयानपि  
महत्तः संभवतीति तत्र साधितम् । इह तु लोके विवर्तत्वेना-  
प्रसिद्धमपि महतोऽल्पमुदेतुं शक्तमिति समर्थ्यते । तथा  
च भाष्यम्—‘यदा तु अप्राप्तविशेषं सामान्यात्मकं कारणं  
विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानमारम्भकमभ्युपगम्यते, तदा घृ-

तकाठिन्यविलयनवत् मूर्त्यवस्थाविलयनेनापि विनाश उपपद्यते' इति । तत्र—

अनेकद्रव्यसंयोगाद्द्रव्यमुत्पद्यते यतः ।

एकस्माद्ब्रह्मणो द्रव्यं नात उत्पत्तमर्हति ॥

आद्यं कार्यं संयुक्तानेकद्रव्यारब्धम्, कार्यद्रव्यत्वात्, घटवत् । आद्यं च कार्यद्रव्यं द्व्यणुकमिति तदारम्भकौ परमाणू; तयोरपि कार्यत्वे अवयवानन्त्यात् सुमेरुराजसर्षपयोः समानपरिमाणत्वप्रसङ्गादित्युक्तमेव । ब्रह्म तु एकमिति न द्रव्योपादानमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

द्रवद्रव्यं यथैकस्मात्कनकादुपजायते ।

उत्पद्यते तथैकस्माद्ब्रह्मणः प्रकृतेर्जगत् ॥

तत्रन तावत्कार्यद्रव्यं पटादि कारणात् तन्त्वादेः तत्त्वतोऽतिरिक्तं तत्र समवैति ; किं तु कारणस्यैव तत्त्वान्यत्वाभ्यां दुर्निरूपमदस्थामात्रम्— इत्यारम्भणाधिकरणे उपपादितम् । एवं व्यवस्थापिते, यथा सुवर्णद्रव्यं काठिन्यावस्थामपहाय द्रवावस्थामपद्यते, न च तत्रावयवविभागः सन्नपि द्रवत्वे कारणम्, परमाणूनां भवन्मते तदभावेन द्रवत्वानुदयप्रसङ्गात्— एवं कन्के काठिन्योत्पत्तावपि नावयवसंयोगापेक्षा ; परमाणुकाठिन्योत्पत्तौ तदभावात् । न च परमाणुद्रवत्वोत्पत्तिमन्तरेण कार्यद्रवत्वोदयः ; रूपादेरपि तथोदयप्रसङ्गात् । यथा च कार्य-

द्रवत्वात् परमाणौ द्रवत्वकल्पना, एवं कार्यकाठिन्यात् परमाणौ काठिन्यमपि कल्प्यम् । तस्माद्यथैकं कनकम् अवयवसंयोगमनपेक्ष्य कठिनं भवति, तदेवाग्निसंयोगात् अवयवविभागमनपेक्ष्य द्रवावस्थया परिणमते— तथा मृदाद्यनुगतद्रव्याणि घटाद्यवस्थां भजमानान्युपादानानि, तदात्मकत्वानुभवात् । कार्याणां तादात्म्यस्य च प्रकृतिविकृतित्वप्रयोजकत्वात् । जनकत्वमात्रेण कपालादेः प्रकृतित्वे, कुलालादेरपि तत्प्रसङ्गात् । समवायस्य दूष्यत्वेन प्रकृतिविकृतित्वाप्रयोजकत्वात् । तथा च कारणं सकलकार्यानुवृत्तत्वान्महत् । कार्यं च व्यावृत्तत्वादल्पम् । एवं ब्रह्माप्यवयवसंयोगरहितं महदपि गगनाद्यल्पावस्थामापद्यते । अवयवविभागरहितमपि तामवस्थां संहृत्य सुवर्णद्रववत् सूक्ष्मरूपेण प्रलयेऽवतिष्ठते । तदेवं कार्यद्रवत्वहेतोः सुवर्णद्रवे अनैकान्तिकत्वमुक्तम् । अपि च अणुषु न सर्गात्प्राक् कर्मनिमित्तप्रयत्नाभिघाताद्यस्ति । अदृष्टं त्वन्यदाप्यस्तीति न नियामकम् । तस्मान्न परमाणूनां कारणत्वम् । नापि कार्यस्य परमाणौ समवायः, समवायस्य सम्वायिष्वसमवाये तन्नियामकत्वायोगात्, समवाये चानवस्थानात् । समवायः समवेतः, संबन्धत्वात्, संयोगवदिति समवायमिच्छतो अनिष्टापत्तेश्च । न च गुणत्वमुपाधिः, घटादौ साध्याव्याप्तेः । तस्मात्कार्यमप्यनुपपन्नम् । अङ्गीकृत्य च परमाणुं तस्याकारणत्वमवोचाम । स एव नास्ति । यतो मूठकारणं चेत् स्पर्शवत्, तर्ह्यनित्यं स्यात् घटवत् ; नित्यं च ।



तस्मान्मूलकारणं न स्पर्शवत्, नित्यत्वात्, आत्मवत् इति ।  
अतो मूलकारणस्य न परमाणुत्वम् । परमाणूनां सर्वेषां परैः  
स्पर्शवत्त्वाङ्गीकारादिति ॥

**समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ ४ ॥**

नित्यचैतन्याद्रहणो जगदुदयवादिसमन्वयस्य, क्षणिका  
अचेतना भावाश्चेतनानपेक्षा जगज्जनयन्तीति साधयता सौ-  
गतानुमानेन बाधसंदेहे, पूर्वत्रार्धवैनाशिकवैशेषिकमते निरस्ते,  
सर्ववैनाशिकमतं बुद्धिस्थं निरस्यते । तत्र—

प्राप्ते हेतौ फलोत्पत्तेर्हेतुवृन्दानपेक्षणात् ।

स्वसंतानान्तरं हेतुः क्षणिकः स्वफलं सृजेत् ॥

चेतनापेक्षां कार्योत्पत्तिं वदन् प्रष्टव्यः—कस्य चैतन्यम्—किं  
बीजादीनाम्, तदतिरिक्तस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा? न तावद्बी-  
जादीनाम् एकैकत्वेन मिलित्वा वा अङ्कुरादि जनयताम् अस्ति  
चैतन्यम् । यदा हि बीजादङ्कुरः अङ्कुरात्पत्रं पत्रात्काण्डं  
काण्डान्नालादीनि फलपर्यन्तानि जायन्ते, तत्र बीजादिषु सत्सु  
अङ्कुरादीनि जायन्ते नासत्स्वित्येतावत्; न हि बीजादीनां व-  
यमङ्कुरादीनि जनयाम इति ज्ञानमस्ति; नाप्यङ्कुरादीनामस्ति  
ज्ञानम्—वयं बीजादिभ्यो जातानीति । किं तु प्रतीत्यप्राप्यबी-  
जादिकमङ्कुरादीनि जायन्ते । न च अपरश्चेतनः इह अङ्कुर-  
नालादीनि जनयन् दृश्यते । सोऽयं प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूप-

निबन्धः, एकैकस्य हेतोः कार्येण जनकत्वसंबन्ध इत्यर्थः । अथ प्रतीत्यसमुत्पादस्य प्रत्ययोपनिबन्धः अभिधीयते—इतरेतरं प्रत्ययन्ते मिलन्ति कार्यं जनयितुम्—इति मिलिता हेतवः प्रत्ययाः, तेषां कार्यजनकत्वं प्रत्ययोपनिबन्धः । यदा हि पृथिव्युदकादिभिर्मिलितात् गिरिदरीवर्तिनोऽपि बीजात् अङ्कुरो जायते, तदापि न बीजादीनामस्ति चैतन्यम् । नाप्यन्यश्चेतन उपलभ्यते; न च कचिद्दर्शनेन तत्राप्यनुमीयते । यत्राङ्कुरे चेतनः कारणं दृश्यते, तत्राप्यनपेक्षाणामन्यक्षणप्राप्तानां बीजादीनां कारणत्वात् । न च चेतनरहितात् बीजादङ्कुरादर्शनात् तदपेक्षं बीजमिति युक्तम्; तस्याङ्कुरप्राक्कालवर्तिबीजक्षणादन्यत्वात्, क्षणिकत्वात्सर्वभावानाम् । तथा च विमतं क्षणिकम्, अर्थक्रियाकारित्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्—यथा खपुष्पमिति । तस्माद्यत्र चेतनस्य कारणत्वं दृष्टम्, तत्र कारणसमुदाये चेतनस्याप्रयोजकत्वात्; यत्र चेतनो न दृश्यते, तत्राचेतनैरेव बीजादिभिर्मिलितैः कार्यारम्भसंभवात् । तद्वत् खरस्नेहोष्णत्वप्रेरणरूपगुणस्वभावैः परमाणुभिर्बाह्यस्य पृथिव्यादिसंघातस्य, पञ्चस्कन्धैश्चाध्यात्मिकस्य पञ्चस्कन्धरूपसमुदायस्यारम्भः । एते च पञ्चस्कन्धाः—रूप्यन्ते निरूप्यन्ते इति वा, रूप्यन्ते एभिरिति वा सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः । यद्यपि रूप्यमाणाः पृथिव्यादयो बाह्याः, तथापि कार्याकारेण संहतत्वाकारेणासंहतानामिन्द्रियसंबन्धाद्वा भवन्त्या-

ध्यात्मिकाः । अहमिति वा इदमिति वा यत् ज्ञानं निर्विकल्पकं जायते स विज्ञानस्कन्धः । वेदनास्कन्धः सुखदुःखे । सविकल्पकं ज्ञानं संज्ञास्कन्धः । रागादिधर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः । एवं प्राप्ते, अभिदध्महे—

अन्यक्षणवदन्येषां स्वकार्येष्वनपेक्षतः ।

कुसूल एव शालिभ्यः शालिनामुदयो भवेत् ॥

यदि अन्यक्षणप्राप्ता बीजादयोऽनपेक्षाः कार्यजनने, तर्ह्युपान्त्यादयोऽपि बीजक्षणाः उत्तरोत्तरबीजक्षणजनने अनपेक्षाः स्युः । तथा सति येन कुसूलस्थबीजक्षणेन स्वकार्यक्षणपरम्परया सकणिशशाल्यङ्कुरजननसमर्थो बीजक्षणो जनयितव्यः, सोऽनपेक्ष एव स्वानन्तरवर्तिबीजक्षणजनने ; एवं सर्व एव तदनन्तरवर्तिनो बीजक्षणाः अनपेक्षा इति कुसूले निहितबीज एव स्यात् कृती कृषीवलः । कृतमस्य दुःखबहुलेन कृषिकर्मणा । न चैवमस्ति । तस्मात् क्षणिकपक्षेऽपि परस्परसापेक्षाः सलिलबीजादयः कारणमिति वक्तव्यम् । सति चैवम्, कारणानां संमेलनं कार्यप्रयोजनाद्यभिज्ञचेतनपुरःसरत्वेन कृष्यादौ दृष्टमिति गिरिदरीवत्यङ्कुरजन्मनि सोऽनुमीयते । तस्मादङ्कुरादेः पत्रकाण्डाद्युत्पत्तावपि चेतनपूर्वकत्वमनुमेयम् । न च भवताम् अस्ति अणूनां स्कन्धानां च संहन्ता । एकैकहेतूनां कार्यव्यतिरेकं दृष्टवतः समुदितानां च कार्यजनकत्वमु-

पलब्धवतस्तज्जातीयकारणमेलनसंभवात् । भवदभिमतालय-  
विज्ञानस्य चेतनस्य क्षणिकत्वेन अन्वयव्यतिरेककालाव-  
स्थानासंभवात् । यत्तु सत्त्वात् भावानां क्षणिकत्वमिति,  
किमिदं सत्त्वम्? स्वरूपसत्त्वमिति चेत्, न, सत्त्वभावस्य  
काण्यसत्त्वासंभवस्य आरम्भणाधिकरणे उक्तत्वेन हेतोर्वि-  
रुद्धत्वात् । अथार्थक्रियाकारित्वम्; तन्न, क्षणिकस्य अन्वय-  
व्यतिरेकक्षणद्वयानवस्थायिनः कारणत्वग्रहासंभवात्, सा-  
मान्यस्य च अन्वयव्यतिरेकवत्त्वेऽपि तस्याकारणत्वात्, का-  
रणत्वे च अस्मन्मतापातात् । तस्मादस्मिन्पक्षेऽपि सत्त्वहेतो-  
र्विरुद्धत्वमिति । स्थायित्वे तु प्रयुज्यते— विमतः कालः  
इदानींतनात्मवान्, कालत्वात्— इदानींतनकालवत् । तथा च  
विमतं न क्षणिकम्, भावत्वात्— आत्मवत्, इति । प्रत्यभिज्ञा-  
यापि भावानां स्थायित्वसिद्धिः । न च सा सादृश्यनि-  
वन्धना; पूर्वापरक्षणद्वयदर्शिन एकस्याभावे सादृश्यग्रहणा-  
नुपपत्तेः, अगृहीतस्य च प्रत्यभिज्ञाभ्रमोपाधित्वेनोपन्यसितुम्  
अशक्यत्वादिति ॥

**नाभावं उपलब्धेः ॥ ५ ॥**

रूपादिरहितब्रह्मजगदुपादानत्ववादिसमन्वयस्य, विज्ञानं  
नीलाद्याकारमिति साधयतानुमानेन विरोधसंदेहे, पूर्वोक्तस-  
मुदायानुपपत्त्यादिदूषणान्युपजीव्य बाह्यार्थापलापेन प्रत्यवस्थी-  
यते । तथा हि—

स्वप्नधीसाम्यतो बुद्धेर्बुद्धयर्थस्य सहेक्षणात् ।

तद्भेदो नानिरूप्यत्वाज्ज्ञानाकारोऽर्थ इष्यताम् ॥

विमता धीः न ज्ञानव्यतिरिक्तालम्बना, धीत्वात्— स्वप्नधी-  
वत् । विपक्षे च ज्ञानाभावेऽप्यर्थभानप्रसङ्गः । न हि भिन्न-  
योरश्वमहिषयोः अस्ति सहोपलम्भनियमः । अपि च न ज्ञानं  
चक्षुर्वदर्थज्ञापकम् ; तथा सति जनितज्ञानस्यापि ज्ञापकत्वेना-  
नवस्थापातात् । तस्मात् ज्ञानमेवार्थप्रकाशः । ज्ञानं च ज्ञेयाना-  
कारम्, न ज्ञेयं व्यवस्थापयितुमलम् । नीलज्ञानेनापि पीतप्र-  
तिभासप्रसङ्गात् । एकश्चायमाकारोऽनुभूयते । स चेत् ज्ञा-  
नस्य, नार्थसद्भावे प्रमाणमस्ति । किं च बाह्योऽर्थः परमाणवो  
वा तत्समूहो वा । नाद्यः, परमाणूनां स्थूलनीलाकारप्रत्ययानाल-  
म्बनत्वात् । निरन्तरोत्पन्ननीलपरमाणवः स्थूलादिबुद्ध्यालम्ब-  
नमिति चेत्, न, निरन्तर्यासिद्धेः । गन्धरसादिपरमाणूनामपि  
नीलपरमाणूनां मध्ये संभवेन अव्यवधानाभावात् । नापि  
द्वितीयः, समूहस्य समूहिपरमाणुभिरभेदे प्रथमपक्षोक्तदोषात् ;  
भेदे च तादात्म्यायोगात् । समवायस्य च दूषितत्वात् । त-  
स्मादेभिस्तर्कैः अनुगृहीतात् प्रागुक्तानुमानात् ज्ञानाकारोऽर्थः ।  
न च सिद्धसाधनम् ; न हि वेदान्तिनश्चैतन्यस्य अर्थाकारतां  
मन्यन्ते इति । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

बाधेन सोपाधिकतानुमान

उपायभावेन सहोपलम्भः ।

सारूप्यतो बुद्धितदर्थभेदः

स्थूलार्थभङ्गो भवतोऽपि तुल्यः ॥

यदुक्तं जाग्रद्धीः न ज्ञानत्वरहितालम्बना, धीत्वात्— स्वप्र-  
धीवदिति, तत्र बाध्यत्वमुपाधिः, अर्थक्रियाकारित्वं हि सत्त्वं  
त्वन्मते । तच्च जाग्रद्धीगम्यस्य अबाधितमस्ति, न स्वप्रधी-  
गम्यस्य, तस्यार्थक्रियायां विसंवादात् । तथा च न सा-  
धनव्यापकं बाध्यत्वम् । अपि च जाग्रद्धियोऽपि बाधे बाधि-  
तार्थया तया स्वप्रधियो बाधानुपपत्तेस्तन्निरालम्बनत्वासिद्धौ  
दृष्टान्तस्य साध्यविकलता स्यात् । प्रमाणाजन्यत्वेन च सो-  
पाधिकता । न हि स्वप्रधियो जाग्रद्धिय इव इन्द्रियलिङ्गादी-  
नि प्रमाणानि जनकानि सन्ति । दोषजन्यत्वेन च सोपाधि-  
कत्वम् । अस्ति हि निद्रादोषो मनसि स्वप्रधीहेतौ । बाधित-  
विषयत्वं च अनुमानस्य । प्रत्यक्षादिभिरर्थक्रियासमर्थस्य  
जाग्रद्वस्तुनः परिच्छेदात् । यच्च सहोपलम्भनियमात् ज्ञानार्थ-  
योरभेद इति, तत्र अर्थव्यवहारस्य उपलम्भोपायत्वनिमित्तः  
सहोपलम्भनियमः न ज्ञानज्ञेयाभेदकृतः । यथा हि नियमेन  
जनैः प्रभोपरक्तमेव रूपवद्वस्तु साक्षात्क्रियते । न च तावता  
प्रभात्मकं वस्तु । किं तु उपायः प्रभा तत्साक्षात्कारे, तद्वत् ।  
यच्च ज्ञानस्य अर्थव्यवस्थायै विषयसारूप्यमास्थितम्, न तेन  
विषयो अपहोतुं शक्यः; असत्यर्थे विषयसारूप्यस्य व्यवस्था-  
याश्चानुपपत्तेः । योऽपि स्थूलपदार्थस्य परमाणुत्वं तत्समूहत्वं  
वेति विकल्प्य भङ्गः कृतः, स स्थूलार्थस्य ज्ञानाकारत्वेऽप्य-

विशिष्टः । तथा हि— अर्थस्य ज्ञानाकारत्वं वदता अर्थो वक्तव्यः, तदभावे कस्य ज्ञानाकारत्वं वर्ण्येत? तत्र तावत् स्थूल-नीलाकारप्रत्ययस्य न परमाणव आकारः, तेषां तत्राप्रतिभासात् । तस्मात् परमाणुव्यतिरिक्तस्तत्समूहस्तदारब्धो वा कश्चित्स्थूलार्थस्त्वयापि स्वीकर्तव्यः । स तु मम मायामयः । तव तु मायाविनः स्थायिनो निर्मातुरभावात् अनुपपन्नः । न च वासनाप्रापितोऽयमर्थः ; वासनाया अर्थोपलब्धिपूर्वकत्वात्, अर्थोपलब्धेश्च अर्थमन्तरेण असंभवात्, अन्ततोऽर्थस्येष्टव्यत्वात् । न च तव वासनाश्रयः ; क्षणिकस्यालयविज्ञानस्य ज्ञानजन्मनि तद्वासनोत्पत्तौ च अस्थायिनः तदाश्रयत्वायोगात् । तस्मान्न ज्ञानाकारोऽर्थः ; किं तु बाह्यः । स च अर्थक्रियाकारित्वसत्त्वोपेतोऽपि अद्वैतश्रुतिवशात् ब्रह्मणि कल्पितः न परमार्थसन्निति सिद्धान्तस्य, सुगतमताद्भेद इति ॥

॥ वर्णकान्तरम् ॥

प्रणम्य शंकरं तत्त्वबोधाभीशुसुधाकरम् ।

मोहध्वान्तहरं वक्ष्ये सूत्रेष्वपरवर्णकम् ॥

सद्रूपाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य सर्वमसदिति साधयता अनुमानेन विरोधसंदेहे, समुदायानुपपत्त्याद्युपजीव्यासत्त्वसाधनात् पूर्ववत्संगतिः । तत्र प्राप्तं तावत्—

न सन्नासन्न सदसन्न चानुभयरूपकम् ।

विमतं तर्कपीड्यत्वान्मरीचिषु यथोदकम् ॥

तथा हि— न तावज्ज्ञानाकारत्वमर्थस्य, तन्निरासात् । न च तद्बाह्योऽर्थः, तस्य परमाणुतत्समूहत्वविकल्पासहत्वस्योक्तत्वात् । तथा च न ज्ञानमपि, निर्विषयज्ञानायोगात् । नापि साक्षी, तस्मिन्प्रमाणाभावात् । मेयत्वे तस्यापि बाह्यमेयवत् सत्त्वायोगात् । एवं च विश्वं न सत्; नाप्यसत्, अपरोक्षत्वात्; न सदसत्, सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र विरोधात् । नाप्यनुभयम्, एकनिषेधस्येतरविधाननान्तरीयकत्वात् । तस्मान्निस्तत्त्वतैव तत्त्वं वस्तूनामिति प्राप्ते, अभिधीयते—

बाधितोऽपीह वो मानैर्व्यावहारिकमानता ।

मानानां तार्त्त्विकं किञ्चिद्वस्त्वनाश्रित्य दुर्भणा ॥

प्रमाणैर्हि यथाभूतस्योपलब्धेर्न तस्याभावः । इदमुक्तं 'नाभाव उपलब्धेः' इति । अथ विचारेण प्रागुक्तेन प्रमाणानां तार्त्त्विकं प्रामाण्यं व्युदस्यते; न सांव्यवहारिकम्; तथा च भिन्नविषयत्वादविरोध इति, तन्न; तथा सति हि समस्तप्रमाणगम्यार्थविपरीतं परमार्थवस्तु गोचरयता बाधकप्रमाणेन इतरप्रमाणप्रमेयेषु तत्त्वमपहृत्य सांव्यवहारिकत्वं व्यवस्थापनीयम् । तच्च परमार्थं वस्तु नास्ति । तस्य प्रमाणतोऽनुपलब्धेः । उपलब्धौ वा शून्यवादहानात् । तदि-



दमुक्तम्— 'नाभाव उपलब्धेः' इति । अथ विचारासहत्वेन निस्तत्त्वतैव वस्तूनां तत्त्वं व्यवस्थापयत् बाधकं प्रत्यक्षादेः सांव्यवहारिकत्वं व्यवस्थापयतीति ; केयं निस्तत्त्वता ? तत्त्वरूपाभावश्चेत्, सापि विचारासहैव ; असतो विचारासहत्वस्य त्वयैवोक्तेः । नाप्यन्या, तस्या अभवात् । अन्यस्याः भावत्वात्, भावस्यापि तव विचारासहत्वात् । एवं निस्तत्त्वताया विचारासहत्वे तत्त्वरूपतैव सर्वस्येति । तस्मात् सद्ब्रह्म तत्त्वं व्यवस्थाप्य बाधकं प्रत्यक्षादेः सांव्यवहारिकत्वं व्यवस्थापयतीति युक्तम् । वैधर्म्यसूत्रं तु पूर्ववदेव मरीच्युदकदृष्टान्ते बाध्यत्वोपाधिपरत्वेन योज्यम् । 'क्षणिकत्वाच्च' इति सूत्रे अभ्युपगमादिति शेषः । अतश्च क्षणिकत्वस्याभ्युपगमात् सर्वशून्यत्वस्याभ्युपगमाच्च व्याहतवादी सुगत इत्यर्थः ॥

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ६ ॥

एकरूपब्रह्मसमन्वयस्य अनेकान्तं सर्वम्—इत्यार्हतोक्तानुमानेन विरोधसंदेहे, मुक्तकच्छेषु निरस्तेषु, विवसनानां बुद्धिस्थत्वात्संगतिः । अथवा समयमात्रसिद्धपञ्चस्कन्धादिपदार्थाश्रितन्यायाभासे निरस्ते, पञ्चास्तिकायादिसामयिकपदार्थाश्रितन्यायाभाससंदृब्धं मतं भवति बुद्धिस्थमिति संगतिः । उपलब्धेरर्थसत्त्ववत् तदनेकान्तोऽप्युपलब्धेरेवास्तीति संगतयः । तत्र—

विमतं वस्त्वनेकान्तं वस्तुत्वाच्चित्ररूपवत् ।

एकान्तसत्त्वेऽसत्त्वे च न प्रवृत्तिर्न चेतरा ॥

यदि वस्त्वस्येव एकान्ततः, तर्हि तत्सर्वत्र सर्वदा सर्वथास्येवेति तल्लिप्सुर्न प्रवर्तेत; सिद्धत्वात् । नापि किञ्चिज्जिहासुर्निवर्तेत; हेयाभावात् । अथैकान्ततो नास्येव, तथापि न प्रवृत्तिः; प्राप्याभावात् । नापि निवर्तेत; निवर्त्यस्य नित्यनिवृत्तत्वात् । अनेकान्ते तु कस्यचित्क्वचित्क्दाचित्कथंचित् सत्त्वात् हानोपादाने अवकल्पेते । येषामनेकान्तत्वम्, ते चैते पदार्थाः— जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाः । तत्र जीवाजीवौ संक्षेपतः पदार्थौ । तत्र जीवास्तिकायः बद्धो मुक्तः साधनैर्नित्यसिद्धश्चेति— त्रिविधः । अथ अजीवो विस्तीर्यते । पुद्गलास्तिकायः षोढा— पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि स्थावरं जङ्गमं च । धर्माधर्मास्तिकायौ प्रसिद्धौ । आकाशास्तिकायो द्वेधा— लोकाकाशः अलोकाकाशश्च । लोकान्तर्वर्ती लोकाकाशः, इतरो वहिष्ठः । स च मोक्षस्थानम् । एते पञ्चास्तिकायाः । अस्तीति कायन्ते कथ्यन्ते; न तु नियतं सत्त्वम्; अनेकान्तादिति । एवं जीवाजीवौ विस्तृतौ । आस्रावयति पुरुषं विषयेष्विति इन्द्रियप्रवृत्तिरास्रवः । स च बन्धहेतुः । कर्माण्यास्रव इत्यपरे; तानि हि कर्तारम् आस्रवन्ति अनुगच्छन्तीति । संवृणोति इन्द्रियप्रवृत्तिमिति शमदमादिरूपप्रवृत्तिः संवरः । निःशेषं पुण्यापुण्यं सु-

खट्वुःखभोगेन जरयतीति तप्तशिलारोहणादिप्रवृत्तिः निर्जरः ।  
 एते प्रवृत्ती मोक्षसाधनम् । बन्धोऽष्टविधं कर्म । तत्र  
 घातिकर्माणि चत्वारि । सम्यग्ज्ञानं न मोक्षहेतुः, ज्ञानाद्व-  
 स्तुसिद्धौ शुक्तिरजतादिज्ञानेभ्योऽपि रजतादिवस्तुसिद्धिप्रस-  
 ज्जादिति पर्यनुयोगो ज्ञानावरणीयं कर्म । आर्हतदर्शनाभ्या-  
 सान्न मोक्ष इति ज्ञानं दर्शनावरणीयं कर्म । बहुषु विप्रतिषिद्धेषु  
 वादिभिरुपदर्शितेषु मोक्षमार्गेषु विशेषानवधारणं मोहनीयम् ।  
 मोक्षमार्गे प्रवृत्तानां तद्विघ्नकरमैश्वर्यादि आन्तरायिकं कर्म,  
 एतानि श्रेयोहन्तृत्वाद्धातीनि । अथ अघातिकर्माणि चत्वारि  
 निगद्यन्ते— वेदनीयम्, नामिकम्, गोत्रिकम्, आयुष्क-  
 मिति । शुक्लशोणितस्य मिलित्वा घनीभूतस्य देहाकारपरिणाम-  
 हेतुः कर्म वेदनीयम्; तद्धि ज्ञानहेतुशरीरारम्भकत्वाद्वेदनीयम्,  
 ततोऽपि पूर्वं शुक्लशोणितकललबुद्बुदादिपरिणामारम्भकं ना-  
 मिकं कर्म । शुक्लशोणितस्य कललबुद्बुदाद्यवस्थानुगुणा शक्तिः  
 गोत्रिकम् । शुक्लशोणितनिमित्तमात्रं स्वरूपेणायुष्कमिति ।  
 एतानि सम्यग्दर्शनाविघातकत्वादघातीनि । एतत्कर्माष्टकं पुरुषं  
 बध्नातीति बन्धः । क्षीणक्लेशस्य जीवस्य अलोकाकाशावस्थानं  
 सततोर्ध्वगमनं वा मोक्षः । एषु पदार्थेषु सप्तानां निय-  
 मानां ये भङ्गास्तेषां समूहः सप्तभङ्गी । तद्रूपो न्यायो  
 योज्यते— स्यादित्ययं निपातोऽनेकान्तत्वद्योतकः । तेन स्या-  
 दस्ति- कथंचिदस्ति, एवं सर्वत्र । स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च  
 नास्ति च, इत्येतदपि स्यात्कथंचिदित्यर्थः । तर्ह्यनिर्वचनीयता

तार्त्त्विकी, नेत्याह— स्यादवक्तव्य इति । अवक्तव्योऽनिर्वचनीयः पदार्थ इत्येतदपि कथंचित् । यस्त्वसद्वादी सत्त्वमनिर्वाच्यमिति वक्ति, तदप्यनियतमित्याह— स्यादस्त्यवक्तव्यमिति । असत्त्वानिर्वाच्यत्वं सद्वाद्युक्तमप्यनेकान्तमित्याह— स्यान्नास्त्यवक्तव्यमिति । यच्च एकान्तसद्वादिभिः एकान्तासद्वादिभिश्च सदसत्त्वसमुच्चयस्यानिर्वचनीयत्वमुच्यते, तदप्यनेकान्तमित्याह— स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्चेति । अस्ति च नास्ति चेत्येष पक्षोऽनिर्वाच्य इति यदुच्यते तदपि स्यादनियतमित्यर्थः ॥

तिष्ठन्नदन्नघ्नतनुर्यतस्ततो

जल्पन्ननेकान्तमसंगतं बहु ।

नूनं पिशाचोऽयममुष्य शान्तये

मिताक्षरो मन्त्रवरः प्रयुज्यते ॥

यत्सत्यं तत्सदेवास्ति न कथंचिन्मृषा भवेत् ।

वस्त्वनेकान्ततावादस्तस्माद्वयाघातदण्डितः ॥

यदस्ति वस्तु, तत्सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वात्मनास्त्येव निर्वचनीयेन रूपेण—यथा प्रत्यगात्मा । यत्तु कचित्कथंचित्कदाचित्केनचिदात्मनास्तीत्युच्यते— यथा प्रपञ्चः, तद्व्यवहारतः ; न तु परमार्थतः । सत्त्वासत्त्वयोर्वस्तुधर्मत्वे असत्त्वदशायामपि सत्त्वानुवृत्त्यापातात् । वस्तुस्वरूपत्वे च सर्वदा सत्त्वप्रसङ्गेन भग्नेनापि घटेन मधुधारणप्रसङ्गादि-

त्यादेरारम्भणाधिकरणे दर्शितत्वात् । व्यावहारिकप्रपञ्चविषये च प्रवृत्तिनिवृत्ती संभवतः । न च व्यवहारविषयत्वमात्रेण सत्यत्वम्, देहात्मत्वादेरपि सत्यत्वप्रसङ्गात् । सर्वस्यानेकान्तत्वे तु वस्तुनिर्णयस्याप्यनेकान्तत्वेन स्वपक्षासिद्धेश्च । तस्मादनेकान्तवस्त्वसंभवान्न ब्रह्माद्वैतविरोधः । नापि जीवस्य देहपरिमाणत्वादपरिमितब्रह्मात्मत्वासंभवः । मध्यमपरिमाणत्वे सावयवत्वेनानित्यत्वप्रसङ्गे सति तदसिद्धेः । अपि च मोक्षावस्थागतजीवपरिमाणस्य त्वया नित्यत्वमभ्युपगम्यते, तच्च तर्ह्येव नित्यं स्यात् यदि प्राग्नादिकाल आसीत् । इतरथा प्रागभाववत्त्वापत्तौ नित्यत्वासिद्धेः । न चैकस्मिन्द्रव्ये युगपदनेकपरिमाणम्, विरोधात् । तथा च एकरूपपरिमाणस्य न हि हस्तिपुत्तिकादिशरीरपरिमाणता इति ॥

### प्रत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ७ ॥

अद्वितीयब्रह्मसमन्वयस्य जगदुपादानाधिष्ठातृभेदविषयानुमानविरोधसंदेहे, सत्त्वासत्त्वयोरेकत्रासंभववदधिष्ठातृत्वोपादानत्वयोरप्येकत्रासंभव इति प्राप्नोति । ‘प्रकृतिश्च’ इत्यत्र श्रुत्या उभयकारणत्वमुक्तम्, इह त्वनपेक्षयैव श्रुतिम्, अनुमानदूषणार्थमुपक्रमः । तत्र—

न द्रव्यं प्रत्युपादानमीश्वरश्चेतनत्वतः ।

कुलालवन्नियन्तुर्हि नियम्यत्वं विरुध्यते ॥

कुलालस्य सुखदुःखाद्युपादानत्वात्साध्यवैकल्यवारणाय द्रव्यग्रहणम् । मृदादीनि ह्युपादानानि नियम्यानि कुलालादिभिः । ईश्वरस्य तु जगन्निमित्तोपादानत्वे एकस्यैवाधिष्ठातृत्वमधिष्ठेयत्वं चेति व्याघातो विपक्षे बाधकः । उपादानं तु जगतः परमाणवः प्रधानं वेति प्राप्ते, अभिधीयते—

अधिगम्य श्रुतेरीशमनुपादानता यदि ।

अनुमीयेत बाधः स्यादाश्रयासिद्धिरन्यथा ॥

न तावदप्रमितेश्वरेऽनुपादानत्वं साध्यम्, आश्रयासिद्धेः । प्रमितिरपि तस्य वेदात्, पौरुषेयागमात्, अनुमानाद्वा? नाद्यः; ‘प्रकृतिश्च’ इत्यत्र वेदस्योभयकारणत्वपरत्वस्योक्तत्वात् । अत एव बाधितविषयत्वम् । न द्वितीयः ; ईश्वरप्रामाण्यादागमप्रामाण्यम्, आगमप्रामाण्यादीश्वरप्रामाण्यमिति इतरेतराश्रयत्वापत्तेः । न तृतीयः; आद्यं कार्यं सकर्तृकम्, कार्यत्वात्, घटवत्— इत्यस्य जीवादृष्टजत्वेन सिद्धसाधनत्वात् । अव्यवहितप्राक्कालवर्तिप्रयत्नजन्यत्वसाधने आद्यकार्याव्यवहितप्रयत्नजन्यत्वस्य कुम्भेऽसंभवेन साध्यवैकल्यात्, कुम्भाव्यवहितप्रयत्नजन्यत्वस्य आद्यकार्ये बाधात् । यत्किंचिदव्यवहितप्रयत्नजन्यत्वस्य च अदृष्टाव्यवहितप्रयत्नजन्यत्वेन सिद्धसाधनात् । अदृष्टं कस्यचित्प्रत्यक्षम्, मेयत्वात्—घटवत्— इति केवलान्वयिन्यपि योगिभिरर्थान्तरत्वात् । कार्यं सर्वविकर्तृकम्, कार्यत्वादिति केवलव्यतिरोक्तिन्यपि सैवार्थान्तरता ।

महाविद्याश्चैतद्विषया वेदान्तकल्पतरौ निर्भर्त्सिताः । न च प्रकृतित्वाधिष्ठातृत्वयोरेकत्र विरोधः; अधिष्ठात्रन्तरानपेक्ष-स्योपादानशक्तिमत्त्वस्यैवोभयकारणत्वशब्देन विवक्षितत्वात् । भाष्यटीकयोस्तु कुलालादिदृष्टान्तेन जगत्कर्तुरीश्वरस्यानुमाने तद्वद्वागादिमत्त्वापत्तेर्वाद्यभिमतधर्मविशेषविरुद्धो हेतुरित्युक्तम् ॥

उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ८ ॥

जीवाभिन्नब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य जीवोत्पत्तिप्रतिपादकपाञ्चरात्रस्मृतिविरोधसंदेहे, अधिष्ठातैवेश्वर इति मते निरस्ते, प्रकृतिरपि स इति मतस्य वेदसंमतत्वाज्जीवोत्पत्तावपि प्रमाणत्वम्— एवंभूतावान्तरसंगतिलोभेन स्मृतिपादसंगतमप्यधिकरणमिह लिखितम् । तत्र—

ईशोक्तं न पुराणेषु व्यामोहार्थमितीरितम् ।

पञ्चरात्रमतो जीवो विकार इति मीयते ॥

पञ्चरात्रकर्तुर्वासुदेवस्य वेदादेव सर्वज्ञत्वावगमात् कपिलपतञ्जल्यादीनां च जीवत्वात्, पञ्चरात्रस्य च पुराणेषु बुद्धादिदर्शनवत् व्यामोहार्थमीश्वरप्रणीतत्वाश्रवणात् ब्रह्मनिमित्तत्वप्रकृतित्वसंप्रतिपत्तेश्च जीवोत्पत्तावप्यद्वैताव्याघातात्तत्सिद्धजीवोत्पत्तिरवाध्या । अत एवागतार्थता च । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

बुद्धिपूर्वकृतिस्तन्नं ब्रह्मनिःश्वसितं श्रुतिः ।

तेन जीवजनिस्तत्र सिद्धा गौणी नियम्यते ॥

यावद्धयेकदेशे वेदाविरोधादीश्वरबुद्धेर्वेदमूलत्वं वेदाद्वा सर्वविषयत्वं प्रतीयते, तावदेव स्वतःप्रमाणवेदाज्जीवानुत्पत्ति-  
प्रमितौ तादृशबुद्धिपूर्वकेश्वरवचनान्न जीवोत्पत्तिरवगन्तुं श-  
क्यते । अतः प्रमाणापहतविषये गौणं तद्वचनम् ; न तु भ्रान्तं  
पूर्वोक्तयुक्तिभिरिति । यद्यपि जीवोत्पत्तेर्ब्रह्माद्वैताविरोधित्वं  
तथापि मोक्षविरोधित्वमस्त्येव । विकारस्य प्रकृतिलये स्वरू-  
पनाशान्मोक्षफलभाक्त्वायोगादिति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥





## तृतीयः पादः ॥

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

पूर्वं प्रमाणान्तरविरोधः समन्वयस्य निरस्तः, संप्रति श्रुतीनामेव परस्परविरोधो निराक्रियते । तत्रापि विय-  
त्पादे भूतभोक्तृविषयाणां वाक्यानां विरोधः परिह्रियते ।  
प्राणपादे तु भौतिकभोगोपकरणप्राणादिविषयवाक्यानाम् ।  
छान्दोग्ये ‘तत्तेजोऽसृजत’ इति तेजःसर्गः प्रथमं श्रू-  
यते, तैत्तिरीयके तु ‘आत्मन आकाशः संभूतः’ इत्याका-  
शसृष्टिः प्रथममाप्रायते, इमे श्रुती प्रमाणमप्रमाणं वेति  
संशयः, विरोधसंभवासंभवाभ्याम् ; एतत्संशयबीजं सर्वत्र  
द्रष्टव्यम् । तत्र—

द्वयोः प्रथमजत्वं न गगनस्योपसंहृतौ ।

न तेजः प्रथमं स्याच्च स्रष्टुः सृज्यद्वयान्वयः ॥

न तावत्क्रमोत्पत्तौ तेजः प्रथमम् आकाशश्च प्रथमं सृष्ट  
इत्युपपद्यते । युगपत्तयोः सृष्टौ च ‘वायोरग्निः’ इति तेज-  
सृतीयत्वविरोधः । अथ छान्दोग्ये तेजःसर्गात्प्राग्वियदु-  
त्पत्तिरूपसंह्रियेत, ततस्तेजःप्राथम्यभङ्गः । तद्ब्रह्म तेजो-  
ऽसृजत तदाकाशमसृजत— इति सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्ट-

व्यद्वयसंबन्धात्पदावृत्त्या वाक्यभेदश्च । तस्माद्विरोधादप्रामाण्यम् ।

अत्रैकदेश्याह—

तेज एव प्रथमं सृष्टम् आकाशस्तु न जायते, अस्पर्श-द्रव्यवात्—आत्मवत् । ‘वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्’ इत्यादिश्रुतेश्च । तदुत्पत्तिश्रुतिस्तु गौणी, कूपाकाशजन्मवत् । तस्माच्छ्रुत्योर्न प्रतिषेध इति । एवमाध्यायपरिसमाप्तेः प्रथमं श्रुतिविरोधः, तत एकदेशिनः समाधानम्, ततः सिद्धान्त इति द्रष्टव्यम् ॥

अत्रोच्यते—

प्राथम्यस्याश्रुतेस्तेजस्याकाशोत्पत्तिरादृता ।

वाक्यद्वयेन स्रष्टुः स्यात्स्रष्टव्यद्वयसंगतिः ॥

न तावत्तेजः प्रथममसृजतेति श्रूयते । नापि प्रथमस्थाने श्रवणात्प्रथमं सर्गः कल्पनीयः । ‘वायोरग्निः’ इति श्रुत्या तृतीयत्वावगमात् । स्थानस्य च श्रुतेर्दुर्बलत्वात् । अत एव च प्रथमस्थाने तेजःसर्गश्रवणादाकाशानुत्पत्तिरपि न कल्प्या । ‘आकाशः संभूतः’ इति श्रुतिविरोधादेव । अस्तु वा तेजः—प्राथम्यश्रुतिः, तथापि क्रमवत्याः आकाशोत्पत्तेर्बाधाद्वरं तेजः—प्राथम्यस्य क्रमस्य धर्मस्यैव भङ्गः । न चास्ति प्राथम्यश्रुतिः । तस्मात्तेजोजन्ममात्रपरा छान्दोग्यश्रुतिः आकाशोत्पत्तावविरुद्धैवेति आकाशोत्पत्तिश्छान्दोग्ये उपसंहर्तव्या । न च सकृच्छ्रु-

तस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसंबन्धानुपपत्तिः । आकाशोपसंहारे वाक्यद्वयकल्पनात् वाक्यद्वयेन संबन्धद्वयबोधने विरोधाभावात् । एवं श्रुत्योरविरोधः ॥

यत्तु एकदेशिनोक्तम् आकाशोत्पत्तिर्गौणी— इति । तदयुक्तम् । मुख्यसंभवे गौणायोगात् । आकाशामृतत्वश्रुतेः प्रतिज्ञाश्रुत्या आपेक्षिकामृतत्वपरत्वात् । अत्र ह्येकविज्ञानहेतुकसर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया मृदादिदृष्टान्तैः प्रकृतिविकारानन्यत्वेनोपपाद्यमानतया गौणत्वेन व्याख्यातुमशक्यत्वात् ब्रह्माव्यतिरेकः समस्तस्य जगतोऽवगम्यते । ‘एकमेवाद्वितीयम्’ इति च साध्यासैः शब्दैरेषा प्रतिज्ञा समर्थ्यते । तत्राकाशोऽपि ब्रह्मविकारतया तदव्यतिरिक्तः स्यात् । तस्मान्न श्रुत्या आकाशनित्यत्वसिद्धिः । नाप्यनुमानात्, अस्पर्शद्रव्यत्वस्याभूतत्वेन सोपाधिकत्वात् । आकाशं च जन्मवत्, भूतत्वात्, पृथिवीवदिति सत्प्रतिपक्षितत्वाच्च । परमाणवश्च पक्षतुल्याः । विभक्तत्वात् इति सूत्रोक्तहेतुना पराधीनसत्ताकत्वमात्रं साध्यम्, न कार्यत्वम् । अविद्यायां प्रागभावादौ च व्यभिचारात् । विभक्तत्वं च धर्मिसमानसत्ताकविभागवत्त्वं हेतुः । अतश्च नात्मनि अपराधीनसत्ताके व्यभिचारः । आत्मनि विभागस्य कल्पितत्वेनाकल्पितात्मसमानसत्ताकत्वाभावात् । पराधीनसत्ताकत्वेनाकाशस्य कल्पितत्वे सूत्रसिद्धे, विकार-

त्वं भूतत्वेन सिद्धमनुसर्तव्यम् । न च सूत्रवैयर्थ्यम्,  
विभक्तमात्रं मिथ्येति साधनेनाद्वैतपारमार्थिकत्वस्य प्रस-  
ङ्गेन प्रतिपादनलाभात् ॥

**एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ २ ॥**

अभ्यासाद्वायुनित्यत्वाद्विज्ञानन्त्यार्थमीरणात् ।

वायूत्पत्तेर्विरोधेन श्रुतीनामप्रमाणता ॥

‘सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः’ इति वायुनित्यत्वं श्रूयते ।  
‘आकाशाद्वायुः’ इति उत्पत्तिः । एते श्रुती किमप्रमाणं  
प्रमाणं वेति विरोधासंभवसंभवाभ्यां संशयः । पूर्वत्र  
‘एकमेवाद्वितीयम्’ इति साभ्यासैः शब्दैरद्वैतप्रतिपाद-  
नात् एकविज्ञानहेतुकसर्वविज्ञानप्रतिज्ञा न गौणीत्युक्तम् ।  
तद्वत् ‘वायुश्चान्तरीक्षं चैतदमृतम्’ इति, ‘सैषानस्तमिता  
देवता यद्वायुः’ इति च वायुनित्यत्वस्याभ्यासान्न गौण-  
त्वम् । छान्दोग्ये वायुजन्माश्रवणाच्च । तैत्तिरीयके ‘सत्यं  
ज्ञानमनन्तम्—’ इति ब्रह्मानन्त्यं प्रतिज्ञाय तत्सिद्धवर्थम्  
‘आकाशाद्वायुः’ इति वायुजन्माभिधानाद्वायुजन्मापि न गौ-  
णम् । अतश्च विरोधादुभयविधश्रुतयो न प्रमाणमिति पूर्वः  
पक्षः । अत एवातिदेशस्याभ्यधिका शङ्का, वायुनित्यत्वाभ्या-  
सादिति । तथा साभ्यासवायुजन्माश्रवणाद्वायुजन्म गौणम् ।  
अतः श्रुत्योरविप्रतिषेध इत्येकदेशिमतम् ॥

अत्रोच्यते—

प्रतिज्ञायाः प्रधानत्वाद्वाय्वाद्युक्तेस्तदर्थतः ।

अद्वैतश्रुतिबाहुल्याज्जनौ वायोर्न गौणता ॥

बृहदारण्यके हि तृतीयेऽध्याये ‘अनेन ह्यात्मनैतत्सर्वं वेद’ इत्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम् । प्रतिज्ञा च प्रधानम् । ‘वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्’ इति वाक्यं चतुर्थाध्यायगमात्मकार्यवाय्वादिप्रदर्शनेन तदुपपादकम्, तार्तीयात्मैवोपासीतेति सूत्रव्याख्यानार्थत्वाच्चतुर्थस्य । तथा च ‘नेति नेति इति वाय्वादिकं जगदुपरिष्ठान्निषेत्स्याति । अतः प्रधानवाक्यानुसारेणावान्तरवाक्यगतममृतत्वादि आपेक्षिकम् । विशेषतश्च ‘सैषानस्तमिता देवता’ इत्येतत् उपास्यवायुदेवतास्तुत्यर्थम् । ‘एकमेवाद्वितीयम्’ ‘नेह नानास्ति किञ्चन’ इत्येवमादीनामद्वैतप्रतिपादकश्रुतीनां बहुलत्वादवान्तरवाक्यैरपि बहुभिर्वाय्वमृतत्वानस्तमितत्वश्रुती नेतव्ये ॥

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ३ ॥

‘यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति’ इत्यात्मनः सकाशादात्मान्तरोत्पत्तिः श्रूयते, तथा ‘यः कालकालो गुणी सर्वविद्यः, स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः’ इत्यात्मनोऽकारणकत्वादनुत्पत्तिराम्नायते । अनयोः श्रुत्यो-

विरोधादप्रामाण्यमाशङ्क्यते । ननु 'नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इत्यत्र अग्निविस्फुलिङ्गश्रुतिबलेन पूर्वः पक्षः । सत्यम्, तत्र हि ब्रह्मनित्यत्वमभ्युपेत्यैव जीवस्य तस्मादुत्पत्तिरेतच्छ्रुतिबलेन शङ्किष्यते । अत्र तु यथाग्नेरग्निरेव विस्फुलिङ्ग उत्पद्यते, एवं ब्रह्मान्तराद्ब्रह्मेति शङ्क्यते । तत्र विरोधादप्रामाण्ये प्राप्ते,

एकदेश्याह—

बहुश्रुतिविरोधान्न वाय्वाकाशाविनाशिता ।  
मुख्यैवमात्मनित्यत्वं श्रुतिमानान्तरक्षतेः ॥

यथा हि 'वायुश्चान्तरिक्षं चामृतम्' 'सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः' इति च श्रुतिद्वयं बहुतराद्वैतश्रुतिविरोधादापेक्षिकम्, एवम् 'न चास्य कश्चिज्जनिता' इति श्रुतिः अग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तश्रुत्या, आत्मा कार्यम्, कारणत्वादाकाशवदित्यनुमानेन च, आपेक्षिकविषयेति प्राप्ते, अभिधीयते—

सतो जन्म न सद्रूपादभेदादसतोऽपि न ।  
विरोधान्नाप्यनिर्वाच्यात्तस्यैव सत उद्भवात् ॥

न तावत्सन्मात्राद्ब्रह्मण उत्पत्तिः, तस्यैव ब्रह्मत्वेन स्वत एव स्वोत्पत्तिविरोधात् । नाप्यसत उत्पत्तिः । कार्यं कतिपयकालातिक्रमे विनश्यति, तस्य सत्त्वं न स्वभावः । सत्स्वभावस्यासत्त्वासंभवात् । नापि धर्मः । असत्त्वधर्मदशाया-

मपि कार्यानुवृत्तिप्रमङ्गादित्यनिर्वाच्यम् । तस्योत्पत्तिर्नाम स-  
मारोपः । न च समारोपोऽसदधिष्ठानो दृष्टः । सत एव शुक्ति-  
कादेरनिर्वाच्यरजताद्युत्पत्तिदर्शनात् । अत एवानिर्वाच्यात्का-  
र्यात् ब्रह्मणः उत्पत्तिरयुक्ता । एवं च अनुपपन्नार्था अग्निवि-  
स्फुलिङ्गदृष्टान्तश्रुतिरौपाधिकोत्पत्तिपरा । यत्तु कारणत्वानुमानं  
तत् उक्तप्रतिकूलतर्कपराहतम् ॥

### तेजोऽनस्तथाह्याह ॥ ४ ॥

‘तत्तेजोऽसृजत’ इति तेजसो ब्रह्मोपादानत्वं श्रुतम्,  
तैत्तिरीयके ‘वायोरग्निः’ इति वायूपादानत्वम् ; अतो वि-  
रोधः । अध्यस्तस्य अधिष्ठानत्वासंभवान्न ब्रह्मणः कुतश्चित्संभव  
इत्युक्तम् । तर्हि वायोरप्यध्यस्तत्वात्ततो न तेजोजन्म, किंतु  
ब्रह्मण एवेति प्रत्यवस्थीयते ॥

तत्रैकदेश्याह—

बहुश्रुतिविरोधान्नः क्रमार्था पञ्चमीश्रुतिः ।

साक्षाद्ब्रह्मोद्भवे लभ्ये व्यवधानं न गृह्यते ॥

ब्रह्मयोन्मेव तेजः, ‘इदं सर्वमसृजत’ ‘तत्तेजोऽसृजत’  
‘सर्वं तज्जलान्—’ इति बह्वयः श्रतयः साक्षाद्ब्रह्मजं तेज  
आहुः । तदनुरोधेन च ‘वायोरग्निः’ इति दिग्योगलक्षणा  
पञ्चमी वायोरनन्तरमग्निरिति क्रमार्था । यद्यप्यपादानकारकप-  
ञ्चमी अनन्तरमित्युपपदाध्याहारनिरपेक्षत्वाद्विग्योगपञ्चम्या

वलीयसी, तथापि बहुश्रुतीरनुगृहीतुम् एकाकिनी कारकवि-  
भक्तिरुपेक्षणीया । अपि च वायूपादानत्वे तेजसो ब्रह्मज-  
त्वश्रुतयो वायुद्वारा ब्रह्मजत्वपराः कल्पनीयाः । न चा-  
व्यवधानलाभे व्यवधानं युक्तम् । एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्र-  
तिज्ञा चैवमाञ्जसी । तस्माच्छ्रुत्योरेवमविरोध इति प्राप्ते,  
अभिधीयते—

वायुब्रह्माविभागेन ब्रह्मजत्वाविरोधतः ।

अपादानार्थपञ्चम्या वायुप्रकृतिकोऽनलः ॥

वलीयसी कारकविभक्तिरसति बाधके न त्यागमर्हति ।  
न च वायुजत्वे तेजसो ब्रह्मजत्वं विरुध्यते, वायोः  
सत्यप्यनिर्वाच्ये भेदे तत्त्वतो ब्रह्माभेदात्तमेवादाय वायु-  
जस्यापि तेजसो बह्वीभिः श्रुतिभिर्ब्रह्मजत्वाभिधानात्; ता  
हि साक्षाद्ब्रह्मजत्वं वदन्त्यो वायोरात्मभूताद्ब्रह्मण उत्पत्तौ  
ब्रह्ममात्रादुत्पत्तौ च, तेजसो न विरुध्यन्ते । वायोरात्मभूतं  
च ब्रह्म सत्यमित्यधिष्ठानत्वोपपत्तिः । अतः कांस्यभोजिन्या-  
येन कारकविभक्त्यनुग्रहाय वायुजत्वमिष्यते । अत एवाव्य-  
वधानमपि स्वीकृतम् । प्रतिज्ञापि सद्रंश्यत्वात्तेजसो न वि-  
रुध्यते ॥

आपः ॥ ५ ॥

अतिदेशोऽयम्, 'अतः तथाह्याह' इति सूत्रावयवानुषङ्गे-  
ण तन्न्यायातिदेशद्योतनात् । अतश्च आपः किं सतो जाय-



न्ते, किं वा तेजस इति संशयादि पूर्ववत् । तथाहि—  
 ‘एतस्माज्जायते प्राणः’ इत्युपक्रम्य ‘खं वायुर्ज्योतिरापः’  
 इति श्रुत्या ब्रह्मजत्वमपां प्रतीतम्; ‘अग्नेरापः’ इति कारक-  
 पञ्चमीश्रुत्या च तेजोयोनित्वम्; ततः श्रुत्योर्विरोधः । ‘इदं  
 सर्वमसृजत’ इत्यादिवहुश्रुत्यनुसारेण पञ्चमी क्रमार्था इति  
 श्रुत्योरविरोधः— इति एकदेशिमतम् । सिद्धान्तस्तु— बह्वयः  
 श्रुतयः ब्रह्मजत्वमाहुः; ताः ब्रह्मतेजसोर्वास्तवाभेदात् तेजोयो-  
 नित्वेऽप्यपामविरुद्धाः । अतः कारकपञ्चम्या तेजोयोनय आप  
 इति । अधिकाशङ्का तु अपामग्निदाह्यत्वादग्नेरुत्पत्त्ययोगात्  
 ‘अग्नेरापः’ ‘तदपोऽसृजत’ इति श्रुती गौण्याविति । परि-  
 हारस्तु— अत्रिवृत्कृताग्नेजसोरविरोध इति । भास्करस्तु ‘आप  
 एवेदमग्र आसुः’ इति श्रुत्या अपां प्रलयस्थत्वान्नित्यत्वमाशङ्क्य  
 तस्याः श्रुतेरवान्तरप्रलयं विषयं प्रदर्श्य अनेन सूत्रेण निरस्यत  
 इत्याह । तत्पौनरुक्त्यान् युज्यते । ‘तथा प्राणाः’ इत्यत्र हि  
 ‘ऋषयो वाव त अग्र आसन् प्राणा वाव ऋषयः’ इति श्रुत्या  
 प्राणानां प्रलये सत्त्वान्नित्यत्वमाशङ्क्यायमेव परिहारो व-  
 क्ष्यत इति ॥

**पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ ६ ॥**

सृष्टावपां पृथिव्याश्च तेजसोऽद्भ्यश्चानन्तर्यादधिकरणद्व-  
 यस्य बुद्धिसंनिधानात्संगतिः; ‘ता आपोऽन्नमसृजन्त’ इति,  
 ‘अद्भ्यः पृथिवी’ इति च श्रुती विरुद्धार्थे; तत्राविरोधे

वर्णनीये किं पृथिवीशब्दः पृथिवीकार्यब्रीह्यादि तत्कार्यम् ओ-  
दनादि वा अन्नशब्दानुसारेण लक्ष्यतु, अन्नशब्दो वा अन्न-  
कारणे पृथिव्यां लक्षणया वर्ततामित्युभयत्र लक्षणासा-  
म्याद्विशये,

एकदेश्याह—

श्रुती समे काष्ण्यमपीह पृथ्व्यां

ब्रीहौ च तुल्यं बलवत्तु लिङ्गम् ।

भूताधिकारादिति भूविकार-

ब्रीह्यादि लक्ष्यं पृथिवीपदेन ॥

अन्नपृथिवीश्रुती तावदुभयत्र समाने; यत्तु च्छान्दोग्ये  
'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति कृष्णरूपत्वमुक्तम्, तत्पृथिव्यां ब्रीहौ  
च तुल्यम्; कचिद्धि पृथिवी कृष्णा शालिमाषादिकमपि किञ्चि-  
दन्नं कृष्णम् । यत्तु 'तत्तेजोऽसृजत' इति महाभूतप्रकर-  
णम्, तत् 'यत्र कचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति' इति  
वर्षनिमित्तबहुभावापत्तिलिङ्गाद्वाक्यशेषगताहुर्बलम् । ब्रीह्या-  
द्येव हि वर्षाद्बहु भवति; न पृथिवी । तस्मात् 'अद्भ्यः पृथि-  
वी' इति श्रुत्यन्तरगतपृथिवीशब्दोऽन्नलक्षणार्थेति प्राप्ते, अभि-  
धीयते—

साभ्यासपृथिवीश्रुत्या लिङ्गात्प्रकरणादपि ।

अन्नशब्दो महीलिङ्गमन्यथाप्युपपद्यते ॥

'अद्भ्यः पृथिवी' इति, 'तद्यदपां शर आसीत्सा पृथि-

व्यभवत्' इति च पृथिवीश्रुतिरभ्यस्यते; महाभूतप्रकरणं चास्ति; रूपमपि बाहुल्येन काष्ण्यं पृथिव्याम्; नान्यस्य । तत्र अभ्यासलिङ्गप्रकरणानुगृहीतपृथिवीश्रुत्या केवलान्नश्रुति-  
लक्षणीकी । यत्तु तस्याप्यनुग्राहकं लिङ्गं वर्षणाद्भूयिष्ठत्वम्,  
तद्दीह्यादिरूपपरिणतपृथिव्या उपपन्नं लिङ्गप्रकरणबलादेव ॥

**तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ ७ ॥**

सृष्टिक्रमे भूतानामविरोध उक्तः; इदानीं तेषां कार्योत्पा-  
दकत्वमविरोधेन निरूप्यते; तत्र न तावदेषां ब्रह्माधिष्ठिता-  
नामेव कारणत्वं नान्यथेति चिन्त्यते; ईक्षत्याद्यधिकरणैर्ग-  
तार्थत्वात् । नापि ब्रह्मण एव तत्तद्भूतात्मनावस्थितस्योत्तरोत्तर-  
कार्योपादानत्वम्; 'तेजोऽतः' इत्यत्र तन्निर्णयात् । तस्मादि-  
हाकाशादिभूताधिष्ठात्र्यो देवताः किं स्वतन्त्रा एव उत्तरसर्गे  
प्रवर्तन्ते, उत परमेश्वरपरतन्त्रा इति विचार्यते । अत्र च  
पूर्वपक्षे आकाशादिशब्दास्तदभिमानिदेवतापराः; 'आकाशा-  
त्' इत्यादिशब्दात् स्वातन्त्र्येण कारणत्वनिर्देशात्; अचेतना-  
नां तदनुपपत्तेः । दृष्टं च 'यमाकाशो न वेद' इत्यादावाका-  
शादिशब्दानां देवतापरत्वम् । यद्यपि 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इत्यत्र  
जीवकर्तृत्वमीश्वराधीनमिति वक्ष्यते, तथापि इह देवताना-  
मैश्वर्ययोगात्स्वातन्त्र्यमाशङ्क्यते । न च देवतानामपि अत्र  
ईश्वराधीनत्वे सिद्धे, कैमुतिकन्यायेन जीवमात्रेष्वपि तत्सिद्धे-  
स्तदधिकरणानारम्भः शङ्कनीयः; सत्यपि देवतानां महाभूत-

सृष्टावीश्वरपारतन्त्र्ये विहितक्रियाकर्तृत्वादौ क्षुद्रे जीवमा-  
त्रस्यापि स्वातन्त्र्यशङ्कोदयसंभवात् । तत्र 'आकाशाद्वायुः'  
इत्यादि श्रूयते 'य आकाशे तिष्ठन्नाकाशमन्तरो यमयति' इत्ये-  
वमादि च ; अनयोः श्रुत्योराकाशादिस्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यवि-  
षयतया विरोधे सति,

एकदेशी वक्ति—

चेतनस्यानपेक्षत्वात्स्वातन्त्र्यश्रवणादपि ।

देवताभावमापन्नं ब्रह्म भूतनियामकम् ॥

अचेतनं हि प्रवृत्तावसमर्थं चेतनमपेक्षते ; देवानां तु चेत-  
नत्वान्नेश्वरापेक्षा कारणत्वे । 'आकाशाद्वायुः' इत्यादिस्वा-  
तन्त्र्यं च श्रुतम् ; अतः 'य आकाशमन्तरो यमयति' इत्येव-  
मादिवाक्यमाकाशाधिष्ठातृदेवतात्मभावेन व्यवस्थितस्य ब्रह्मण  
आकाशादिनियन्तृत्वपरम् । तस्माद्यथा आकाशाद्यात्मना  
ईश्वरो वाय्वाद्युपादानम्, एवं तदभिमानिदेवतात्मना तदधि-  
ष्ठातेति न पृथगन्तर्यामिता ब्रह्मण इति प्राप्ते, अभिधीयते—

उपादानत्वमात्रार्थाः पञ्चम्योऽतो न लक्षणा ।

भृत्यवत्परतन्त्राः स्युर्लक्षिता अपि देवताः ॥

'आकाशात्' इत्यादौ हि आकाशादिशब्दा भूतवाचकाः ;  
न देवतालक्षकाः । न च पञ्चम्यः स्वातन्त्र्यमाहुः ; अपि तु  
प्रकृतित्वम् । यद्यपि अत्र नियन्ता न निर्दिष्टः, तथापि 'यः

पृथिव्यां तिष्ठन्त्यः पृथिवीमन्तरो यमयति' इति श्रुत्यन्तरा-  
न्नियन्ता अधिगतः ; तथा 'सोऽकामयत' इत्युपक्रम्य 'सच्च  
लञ्चाभवत्' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति सर्वात्मक ईश्वरः  
कर्ता श्रूयते ; एते च श्रुती सति संभवे न जीवभावापन्ननि-  
यन्तृपरत्वेन संकोचमर्हतः— इति ब्रह्म भूतनियन्तृ लक्ष्य-  
ताम्, लक्ष्यन्तां वा देवताः ; ता अपीश्वरवशाः, भृत्यादीनां  
राजाधीनत्वदर्शनात् ॥

**विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ ८ ॥**

अद्वैतप्रतिपत्त्यर्थं भूतोत्पत्तिक्रमचिन्तानन्तरं लयक्रमश्चि-  
न्यते । यद्यपि श्रुतिविप्रतिषेधो न परिह्रियते, तथाप्युत्पत्ति-  
क्रमे निरूपिते लयक्रमो बुद्धिस्थो विचार्यत इति प्रासङ्गिक्यौ  
पादावान्तरसंगती । भूतानां किमुत्पत्तिक्रमेणैव लयः, वैपरी-  
त्येन वेति संशयः, उत्पत्तिक्रमस्य श्रौतत्वाद्विपरीतलयक्रमस्य  
लोके घटादौ दृष्टत्वाच्च ॥

तत्र

श्रौतस्य संनिधेर्लोकदृष्टस्य व्यवधानतः ।

लयक्रमो नियम्येत भूतजन्मगतक्रमात् ॥

अत्रोच्यते—

संनिधावप्ययोग्यत्वान्न जन्मक्रमतो लयः ।

अतिसंनिहितो लोकः श्रुतेर्व्युत्पत्त्युपायतः ॥

पदपदार्थसंबन्धग्रहे हि लोकः श्रुत्या प्रथममपेक्षितत्वात् वाक्यादपि संनिहितः, वाक्यप्रवृत्तेर्व्युत्पत्त्युत्तरकालत्वात् ; लोके च उत्पत्तिक्रमविपरीतो लयक्रमः ; सत्यां हि मृदि घटो लीयते ; मृलयानन्तरं घटलये हि मृदभावेऽपि घटस्तिष्ठेत् । तस्मादयोग्यत्वान्नोत्पत्तिक्रमाल्लय इति ॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति

चेन्नाविशेषात् ॥ ९ ॥

आत्मनो भूतानां चान्तराले कार्यान्तराम्नानाद्भूतोत्पत्तिक्रम आक्षिप्यते ; 'आत्मन आकाशः' इति श्रूयते, तथा 'यः सर्वज्ञः ..' इति प्रस्तुत्य, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' इति च ; अनयोः श्रुत्योर्विरोधः, एकत्र आकाशादेः आत्मनः सकाशादव्यवधानेनोत्पत्त्यभिधानात्, अन्यत्र च आत्मनः प्रथमं करणोत्पत्तिमभिधाय चरमं भूतोत्पत्त्यभिधानाच्च । तत्रैकदेशी ब्रूते—

प्रथमं करणोत्पत्तेश्चरमं भूतजन्मनः ।

नभःपूर्वकता भूतजन्मनो न विहन्यते ॥

भूतोत्पत्तौ च आकाशप्राथम्यस्य करणानां पूर्वमुत्पत्तावपि न भङ्ग इति श्रुत्योरविरोध इति प्राप्ते, अभिधीयते—

अन्नादिमयताम्रानान्मनआदिर्हि भौतिकः ।

भूतापन्नात्मनस्तस्मान्मनआदिसमुद्भवः ॥

अन्नमयश्रुतिविरोधात् 'एतस्माज्जायते' इत्यत्र पाठक्रम-  
भङ्गः ॥

**चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो**

**भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १० ॥**

एवं तावत्तत्पदवाच्यस्य कारणत्वनिर्णयाय भूतोत्पत्तिश्रुति-  
विरोधोऽपास्तः ; इदानीमापादपरिसमाप्तेः त्वंपदार्थशुद्ध्यै जी-  
वोत्पत्तिविषयश्रुतिकलहो वारयिष्यते । अत्र जीवजन्मनिधन-  
निमित्तवैश्वानरीयेष्टिश्राद्धादिविधिशस्त्रस्य, न जीवो जायते  
म्रियते—इत्यादिशास्त्रस्य च विरोधादप्रामाण्येन पूर्वः पक्षः ।  
यदीन्द्रियोत्पत्तिर्न भूतोत्पत्तिक्रममन्यथयति, तर्हि जीवोत्पत्ति-  
स्तमन्यथयेत् इति शङ्कायाम्, सैव नास्ति, कुतः कलहः ? इति  
प्रतिपादनादवान्तरसंगतिः ; नास्त्यत्रैकदेशिमतम्, वैदिकानां  
सर्वेषां मते जीवस्य नित्यत्वात् ; तत्र—

जातश्चैत्र इति ह्युक्त्या देहजन्म न कथ्यते ।

तन्नाम्ने न हि देहाय श्राद्धादिकरणं मतम् ॥

जातश्चैत्रो मृतश्चैत्र इति लोके मुख्य एव जीवो व्यव-  
ह्रियते ; तज्जन्मनिमित्तं च जातकर्मादिकरणम् ; देहमात्राभि-

धाने उदरान्तर्मृतदेहनिर्याणेऽपि वैश्वानरीयेष्ट्यादिकरणप्रस-  
ङ्गात् इति । अत्रोच्यते—

मृतेभ्यः श्राद्धनिर्माणं स्वर्गाद्यर्था यजिक्रिया ।

देहोद्देशेन नेत्यन्यजीवार्थत्वेन चोच्यते ॥

यद्यपि वैश्वानरीयेष्टिफलं पूतत्वादि पुत्रेणैवेह भोक्तुं श-  
क्यम्, तथापि मृतेन श्राद्धजनिता तृप्तिर्न देहेन विनाशिना  
भोक्तुं शक्या ; नापि यागफलं स्वर्गादि ; अतो देहनाशेऽपि  
अविनाशिनात्मना भवितव्यम् । तस्माज्जातश्चैत्र इत्यत्र  
जीवसंयुक्तदेहजन्म लक्ष्यते ; तन्निमित्तमेव जातकर्मादि  
गर्भबीजगतदोषनिवृत्त्यर्थं विधीयते ; न जीवजन्मनिमित्त-  
मिति ॥

**नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ ११ ॥**

जीवानां महासर्गमहाप्रलययोः ब्रह्मण उत्पत्तिप्रलयौ विद्येते  
न वेति श्रुतिविप्रतिपत्तेः संशयः ; श्रूयते हि ‘न जीवो  
म्रियते’ इति, ‘यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा एवमस्मादात्मनः सर्व-  
एवात्मानो व्युच्चरन्ति’ इति च ; अतः श्रुत्योर्विप्रतिषेधः ।  
तत्रैकदेश्याह— पूर्वत्र स्वर्गादिभोगाय देहनाशेऽप्यात्मा न  
नश्यतीत्युक्तम्, तर्हि कल्पमात्रावस्थानेऽपि स्वर्गादिभोगसं-  
भवात् जीवाः कल्पाद्यन्तयोरुत्पत्तिविनाशवन्तः ; जीवामरण-  
श्रुतिश्च देहध्वंसे जीवाध्वंसपरा । तथाहि—



विस्फुलिङ्गवदुत्पत्तेरक्षरेऽप्ययकीर्तनात् ।

प्रतिज्ञानुपरोधाच्च जायते जीव ईश्वरात् ॥

‘यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति’ इति श्रूयते; अत्र परमात्मना सरूपा भावा जीवाः, चेतनत्वात्; संसारी च जीवः असंसारिण ईश्वराद्भिन्नः, स चेन्न तद्विकारः, तद्विज्ञानान्न ज्ञायेत । तस्माद्ब्रह्मविकारो जीव इति प्राप्ते, अभिधीयते—

जीवस्योपाधितो जन्म भेदश्च परमेश्वरात् ।

विकारस्य प्रलीनस्य न मोक्षफलभागिता ॥

अनाद्यविद्योपाधिकस्य जीवस्य अवान्तरोपाधिभूतलिङ्गशरीरस्य महासर्गादावुत्पत्तिप्रलयौ विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन श्रुतावुपचर्येते । औपाधिकत्वाच्च परजीवविभागस्य स्वत ऐक्ये ब्रह्मज्ञानेन जीवज्ञानोपपत्तिः; स्वाभाविकविकारत्वे तु जीवस्य ब्रह्मप्रकृतौ लीनस्य न मोक्षः फलं स्यात्; तस्मात्प्रतिविम्बवद्विभागमात्रमारोपितम् । स्वरूपतस्तु जीवो ब्रह्मैव ॥

ज्ञोऽत एव ॥ १२ ॥

‘असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति’ ‘अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति’ इत्यादिजीवस्वप्रकाशत्ववादिनीनाम्, ‘पश्यंश्चक्षुः

शृण्वन्श्रोत्रम्' इत्याद्यागन्तुकजीवचैतन्यवादिनीनां च श्रुतीनां विरोधः । पूर्वत्र जीवस्य ब्रह्मैक्यात् न जीवो जायत इत्युक्तम्, तत्रैक्यमेवासिद्धम्, आगन्तुकज्ञानस्य जीवस्य नित्यज्ञानेन ईश्वरेणैक्यायोगादित्याक्षेपिकी संगतिः । तत्रैकदेशी श्रुतीनामविरोधमाह—

ज्ञप्तेः सकर्मकत्वेन नयनाद्यर्थवत्तया ।

अनित्यो जीवबोधस्तच्छक्तिं नित्यां श्रुतिर्वदेत् ॥

कर्मणा हि जानात्यर्थो व्याप्तः, अतस्तदभावे सुषुप्त्यादौ न भवेत्, भवति च आत्मा; तथा च न ज्ञानमात्मस्वरूपम्; तदनुवृत्तौ व्यावृत्तत्वात्, दुःखवत् । इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाच्च तज्जन्यं ज्ञानं न जीवस्वभावः; इतरथा इन्द्रियादिवैयर्थ्यापातात् । जीवचैतन्यस्य नित्यत्ववादिन्यः श्रुतयः तच्छक्तिनित्यत्वपराः । अस्ति हि ज्ञानोत्पादनशक्तिर्नित्या जीवानाम्, अन्यथा इन्द्रियादिसंनिकर्षेऽपि व्योम्नीव तेषु ज्ञानं न स्यात्; तस्माज्जडा जीवा इति प्राप्ते, अभिधीयते—

आत्मा स्वयंप्रभः शश्वत्संदेहरहितत्वतः ।

सकर्मिकास्तु जन्येरन्बुद्धिवृत्तय इन्द्रियैः ॥

आत्मा स्वयंप्रकाशः, शश्वत्संदेहरहितत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं घट इव; न च असिद्धो हेतुः; न हि कश्चिदात्मनि संदिग्धे खामहम्, न वा— इति । न चैतत् परप्रकाशत्वे घटते; घटा-

दिष्वदर्शनात् । न चात्राप्रसिद्धविशेषणत्वम्; अयं घटः एत-  
दन्यज्ञेयत्वानधिकरणभासमानान्यः, प्रमेयत्वात्, पटवदिति  
किञ्चिन्निष्ठे स्वप्रकाशत्वे सिद्धे, तस्यात्मन्यनुमानेन साधयितुं  
शक्यत्वात्; सकर्मकत्वम् इन्द्रियजन्यत्वं च बुद्धिवृत्तीनां ज्ञा-  
नानां भवति नात्मचैतन्यस्येति ॥

### उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १३ ॥

‘एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः’ ‘स यदास्माच्छरीरा-  
दुत्क्रामति सहैव चैतैः सर्वैरुत्क्रामति’ ‘ये के चास्माल्लोका-  
त्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति तस्माल्लोकात्पुनरेति  
अस्मै लोकाय कर्मणे’ इत्याद्यणुत्वश्रुतीनाम्, ‘स वा एष  
महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः’ इत्यादिमहत्त्वश्रुतीनां च  
विरोधः । पूर्वत्र स्वप्रकाशो जीव इत्युक्तम्; तदयुक्तम्; अणो-  
र्जीवस्य मनोवत् स्वप्रकाशत्वायोगात् इत्येकदेशी प्रत्यवति-  
ष्ठते । तथाहि—

उत्क्रान्त्यादेः परिच्छिन्नधर्मत्वादणुशब्दतः ।

अणुर्जीवो महत्तास्य प्रकृत्यैक्यविवक्षया ॥

विभागसंयोगोत्पादौ हि उत्क्रान्त्यादीनां फलम् । न च  
सर्वगतस्य तौ स्तः । सर्वगतत्वं हि सर्वत्र नित्यव्याप्तत्वम्,  
सर्वात्मत्वं वा; उभयथापि न तत्त्वतः संयोगाद्युपपत्तिः । यत्तु  
जीवस्य महत्वान्नानम्, तत् प्रकृतिगतं विकारे जीवे उप-

चरितम् । विकाराणामुपादानाद्वस्तुतोऽनन्यत्वादिति प्राप्ते,  
अभिधीयते—

महावाक्यादनन्तत्वमणुता गुणवाक्यतः ।

जीवस्याधिगता बुद्ध्युपाधिका सात इष्यते ॥

**कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ १४ ॥**

‘असङ्गो ह्ययं पुरुषः’ इत्यादिश्रुतीनां विधिनिषेधादिश्रु-  
तीनां च आत्मकर्तृत्वाकर्तृत्ववादिनीनां विरोधः ; यद्यपि जी-  
वपरिमाणवत्तत्कर्तृत्वमपि बुद्ध्युपाधिकमिति वक्तुं शक्यम्,  
तथापि विधिश्रुतिप्रतिपादितत्वात् तन्मिथ्यात्वमयुक्तम् ; सत्यं  
च कर्तृत्वं नात्मनः संभवति ; अतो बुद्धेरेव कर्तृत्वमिति सां-  
ख्यैकदेशी प्रत्यवतिष्ठते । तथाहि—

कर्तृत्वे सक्रियत्वेन जीवानित्यत्वसक्तितः ।

धीः कर्तात्मा तु भोक्तैव भोगश्चिदवसानता ॥

न च भोक्तृत्वं सक्रियत्वम् ; तस्य साक्षित्वमात्रस्वरूप-  
त्वात् इति प्राप्ते, अभिधीयते—

कर्तुः फलेन संबन्धो भोक्तुरेव हि कर्तृता ।

एषा चारोपिता शास्त्रैर्विध्यादिभिरनूयते ॥

कर्त्रपेक्षितोपायता को हि विधिः । भोक्तुश्चापेक्षितं फलं प्र-  
त्युपायो विधातव्यः ; तस्माद्बुद्धेः कर्तृत्वमात्मनस्तु भोक्तृत्व-

मित्यसंगतम् । आरोपितेन कर्तृत्वेन आत्मनः सक्रियत्वम् । विधिश्च लोकसिद्धं तदनुवदतीति न विरुध्यते । भोक्तृत्वमप्यात्मनोऽध्यस्तमेव । तस्य चिन्मात्ररूपत्वे मुक्तावपि प्रसङ्गात् ; तद्वत्कर्तृत्वमपि किं न स्यादिति ॥

यथा च तक्षोभयथा ॥ १५ ॥

कर्तृत्वाकर्तृत्वयोर्विरोधे, पूर्वं मिथ्या कर्तृत्वं पारमार्थिकमकर्तृत्वमिति विरोधः परिहृतः ; इदानीं पारमार्थिकेऽपि कर्तृत्वे विरोधः परिहर्तुं शक्यते इत्येकदेशी प्रत्यवतिष्ठते—

उत्सर्गस्यानपोद्यत्वात्कर्तृत्वं वास्तवं श्रुतम् ।

अक्रियस्यापि कर्तृत्वान्मुक्त्यभावोऽपि नापतेत् ॥

विधिशास्त्रार्थवत्त्वादयो हि हेतवः कर्तृत्वमात्मन आपादयन्ति ; न च स्वाभाविकत्वे संभवति असत्यपवादे तदौपाधिकं युक्तम् ; अतिप्रसङ्गात् । न च मुक्त्यभावप्रसङ्गोऽस्यापवादकः ; क्रियाया अभावेन मुक्त्युपपत्तेः । न च क्रियारहितस्य कर्तृत्वानुपपत्तिः, ज्ञेयरहितस्यात्मनो ज्ञानरूपत्ववत् क्रियारहितस्यापि कर्तृत्वसंभवादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

स्वभावो ज्ञानमात्रातमात्मनो न तु कर्तृता ।

क्रियाविष्टत्वरूपा सा क्रियाभावे न युज्यते ॥

‘सत्यं ज्ञानमनन्तम्’ इत्यादौ ज्ञानस्वरूपत्वमात्मनस्तात्प-

येणाम्नातम्; तदसत्यपि विज्ञेये युज्यते । कर्तृत्वं तु नात्मनः स्वभावत्वेन आम्नातम्; ततस्तत्क्रियावेशात्मकम्; यदि तत्सिद्धयर्थं क्रियापि मुक्ताविष्यते, ततः दुःखापत्तेरमुक्तिः स्यात्; न च कर्तृत्वशक्तिस्तस्यात्रास्थेया; सर्वतः उदासीनस्यात्मनः क्रियानुपपत्तौ, निर्विषयायास्तस्या अप्ययोगादिति ॥

### परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ १६ ॥

‘एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते’ इत्यादिश्रुतीनाम् ‘यजेत’ इत्यादिश्रुतीनां च विरोधसंदेहे, औपाधिक एव कर्तृत्वे प्रवर्तकविचारणात्संगतिः । एकदेश्याह—

रागात्प्रवृत्तेः पापानामीशानुज्ञाविरोधतः ।

विधिश्रुत्यर्थवत्त्वाच्च न जीवं प्रेरयेत्परः ॥

स्वत एव रागद्वेषाभ्यां प्रवर्तमानस्य जीवस्य नेश्वरापेक्षा । सुखदुःखवैषम्यं च सृजत ईश्वरस्य पक्षपातापातः । न च कर्मापेक्षत्वाददोषः, कर्मणामपि तत्कारितत्वात् । पापकर्मणि कारुणिकस्य स्वतन्त्रस्य प्रेरकत्वायोगात्; ईश्वराधीनप्रवृत्तौ च जीवे विधिप्रतिषेधवैयर्थ्यम् । न हि बलवदनिलनुद्यमाने नरे विध्याद्यर्थवत्ता । तस्मात् ‘एष ह्येव’ इत्यादिश्रुतयः समस्तविधिनिषेधश्रुतिविरोधाल्लोकविरोधाच्च ऐश्वर्यप्रशंसापरा नेया इति प्राप्ते, अभिधीयते—

श्रौतस्याकल्पनात्पूर्वक्रियातः प्रेरणादिह ।

विहितेऽर्थे नियोक्तृत्वादीश्वराज्जीवकर्तृता ॥

‘एष हि’ इत्यादिश्रुतयस्तावन् जीवकर्तृत्वमीश्वराधीन-  
माहुः; तदसति बाधके न प्रशंसामात्रं युक्तम् । न च रागा-  
दिभ्यः प्रवृत्तिमिद्धा ईश्वरकल्पनानुपपत्तिर्वाधिका, ईश्वर-  
प्रवर्तकत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वेनाकल्प्यत्वात् । दृष्टकारणकल्पौ हि  
केवलव्यतिरेकापेक्षा । अन्यथा विषयेन्द्रियसंप्रयोगात्सुखाद्यु-  
त्पत्तौ धर्मादिवैयर्थ्यापातात् । न च ईश्वरप्रेर्यत्वं जन्तूनामशु-  
भकर्मानुपपत्तिर्वाधिका, पूर्वपूर्वकृताशुभवशादिदानीमशुभ-  
कर्मणि प्रेरकत्वापपत्तेः ईश्वरस्य माध्यस्थ्यव्याघातात् । न  
च ईश्वरतन्त्रस्य जीवस्य विधिनिषेधवैयर्थ्यापत्तिर्वाधिका;  
विधिनिषेधप्रमितयोरिष्टानिष्टसाधनयोः रागद्वेषोपसंहारमु-  
खेन ईश्वरस्य प्रेरकत्वात् ॥

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाश-

कितवादित्वमधीयन् एके ॥ १७ ॥

‘सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः’ ‘य आत्मनि तिष्ठ-  
न्नात्मानमन्तरो यमयति’ इत्यादिज्ञातृज्ञेयत्वनियन्तृनियम्य-  
त्वादिश्रुतिभिः जीवेश्वरयोः भेदः प्रतीयते; ‘ब्रह्मदाशा ब्रह्म-  
दासाः’ इत्यादिश्रुतेरभेदः; तथा—‘पादोऽस्य सर्वा भूतानि’  
इति श्रुतम्; ‘ममैवांशो जीवः’ इति च स्मर्यते; तत्र

जीवब्रह्मभेदाभेदश्रुतीनां विरोधः । पूर्वत्र जीवनियन्ता ईश्वर इत्युक्तम्, इदानीमीश्वरमाक्षिपन्नेकदेशी श्रुतीनामविरोधं च वदन्प्रत्यवतिष्ठते—

अभेदे भेदगीर्वाधाद्भेदेऽभेदश्रुतेर्हतेः ।

भेदाभेदविरोधाच्च नेश्वरोऽस्तीति मन्महे ॥

जीवब्रह्माभेदे ईशित्रीशितव्यादिश्रुतिविरोधः; भेदे च 'ब्रह्मदाशाः' इत्याद्यभेदश्रुतिविरोधः । न च भेदाभेदश्रुतिवशात् अंशत्वश्रुतिस्मृतिभ्यां च जीवो ब्रह्मांश इति युक्तम्; अंशित्वे ब्रह्मणः कार्यत्वापातात् । अंशभूतजीवदुःखानां च अंशब्रह्मण्यापत्तेः—देवदत्त इव पादादिदुःखानाम् । भेदाभेदयोश्चैकत्र विरोधात् । न चैवं ब्रह्मैव सत्, असन्तस्तु जीवा इति युक्तम्; तथा सति मुक्तसंसारिविभागस्य अनुज्ञापरिहारविभागानां च विलोपप्रसङ्गात् । तस्माज्जीवा एव सन्तः, न ब्रह्म; एकत्वश्रुतयस्तु जातिदेशकालप्रयुक्ताभेदोपचारात् इति प्राप्ते, अभिधीयते—

अप्राप्तेः प्रक्रमादेश्च वेदान्तैर्ब्रह्म मीयते ।

तस्यैव प्रतिबिम्बत्वाज्जीवानां स्याद्व्यवस्थितिः ॥

प्रमाणान्तरागम्यत्वाद्ब्रह्मणः, तस्मिन्नेव वेदान्तानां प्रक्रममध्योपसंहारप्रसङ्गात् लोकप्राप्तजीवानुवादेन तस्य ब्रह्मैक्यं ते प्रतिपादयन्ति । जीवानां च ब्रह्मप्रतिबिम्बत्वात्सुखदुःखव-



न्धमोक्षादिव्यवस्था उपपद्यन्ते ; प्रतिबिम्बाशुद्धावपि बिम्ब-  
शुद्धिवत् जीवानां संसारित्वेऽपि ब्रह्म न संसारि इष्यते ॥

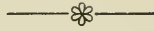
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥



## चतुर्थः पादः ॥



तथा प्राणाः ॥ १ ॥

अत्र तथाशब्दाद्वियदादिवदुत्पत्तिमात्रमतिदिश्यते, न तु तन्न्यायः; भेदात् । तत्र हि-द्वयोः प्रथमजत्वेन पूर्वपक्षः, अत्र तु प्राणानामुत्पत्तेः प्राक् जगदुत्पत्तेः सद्भावप्रयुक्तानुत्पत्तितश्च पूर्वपक्षः; अत एव भाष्यकारीयमिह वियदधिकरणन्यायानुस्मरणम् अभ्युच्चयार्थमिति वाचस्पतिः प्रतिपादयांवभूव । ‘असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहुः किं तदसदासीदिति ऋषयो वाव ते अग्रेऽसदासीत् । तदाहुः के त ऋषय इति प्राणा वाव ऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसार्पत् तस्मादृषयः’ इति प्राग्जगदुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणादनुत्पत्तिराम्नायते, अन्यत्र तु प्राणानामुत्पत्तिः पठ्यते- ‘यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा व्युच्चरन्ति’ इति; ततश्च विरोधप्राप्तौ, एकदेश्याह—

सद्भावावगतेः सर्गात्प्राक्काले प्रश्नपूर्वकम् ।

नित्याः प्राणास्तथा सर्वकार्यात्प्राक्सत्त्वसंश्रवात् ॥

‘किं तदसदासीत्’ इति प्रश्नपूर्वकं प्राणानां सत्त्वमजातव-

दुच्यमानं विवक्षितम् ; 'पुरास्मात्सर्वस्मात्' इति च सर्वकार्ये-  
भ्यः प्राक्सत्त्वमुच्यमानं न अवान्तरसृष्टिपरमिति इन्द्रियाणि  
न जायन्ते, तज्जन्मश्रुतिस्तु गौणीति प्राप्ते, अभिधीयते—

अग्निसाधनसृष्टयर्थमग्निरूपप्रजापतेः ।

प्राणानां सत्त्वमत्रोक्तं त्रैलोक्योत्पत्तिः पुरा ॥

इह प्रकरणे अग्निसाधनशर्करादेः स्तुत्यर्थम् 'स शर्कराम-  
सृजत' इत्यादिना सृष्टिरुच्यते ; तत्र चित्यात्मकत्वेन उपाख्य-  
हिरण्यगर्भस्य कारणत्वसिद्धयर्थं तत्प्राणानामवान्तरप्रलये स-  
द्भाव उक्तः । सर्वशब्दोऽपि अग्निसाधनमात्रपरः, प्रश्नोऽपि  
तत्कारणमात्रविषय इत्यविरोधः ॥

सप्त गनेर्विशेषितत्वाच्च ॥ २ ॥

कचित् 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' इति चक्षुर्घ्राण-  
रसनवाक्छ्रोत्रमनस्त्वचः प्राणाः श्रूयन्ते ; कचित्तु त एव ह-  
स्ताधिका ग्रहत्वाख्यबन्धकत्वेन युक्ता अष्टावाग्रायन्ते 'अष्टौ  
ग्रहाः'— इति ; कचिन्नव, 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः द्वौ पा-  
यूपस्थाववाञ्चौ'— इति ; कचिद्दश, 'नव वै पुरुषे प्राणा  
नाभिर्दशमी'— इति ; कचिदेकादश— दशमे पुरुषे प्राणाः  
बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि दश, आप्रोत्यधिष्ठानेनेत्यात्मा मन एकादशः'  
— इति ; कचिद्द्वादश, 'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्'  
इत्यत्र, तद्यथा— 'त्वङ्नासिकारसनचक्षुःश्रोत्रमनोहृदयहस्त-

पादोपस्थपायुवाक्'— इति ; क्वचित् एत एव प्राणा अहंकाराधिकास्त्रयोदश । एवं विप्रतिपन्नाः प्राणेयत्तां प्रति श्रुतयः ।

उत्पत्तिरविगानेन येषां प्रागुपपादिता ।

प्राणानामविरोधेन संख्यैषामिह वर्ण्यते ॥

इति संगतिः । तत्र श्रुतीनामितरेतरविरोधादप्रामाण्ये प्राप्ते, एकदेश्याह—

सप्तानां शीर्षण्यानां प्राणत्वेन विशेषणात् ।

अप्राणा इतरे सप्त संख्याबोधेऽनुवादता ॥

‘सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः’ इत्यत्र ये सप्त शीर्षण्याः, ते प्राणा इति विधीयते; अतश्च अर्थात् हस्तादीनामप्राणत्वं गम्यते । यदि तु ये शीर्षण्याः प्राणाः ते सप्तेति विधीयेत, ततोऽनुवादत्वम्; शीर्षण्यप्राणानां सप्तत्वस्य मानान्तरसिद्धत्वात् । अपि च नानासंख्यानामवच्छेदकत्वानुपपत्तौ एका कल्प्या; तत्र प्राथम्याल्लाघवाच्च सप्तत्वमेव कल्प्यम् । अष्टत्वाद्यभिधानं तु वृत्तिभेदविषयमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

श्रुतीनां कलहे कार्यात्प्राणैकादशताश्रिता ।

अष्टत्वाद्यवयुत्योक्तिराधिक्यं वृत्तिभेदतः ॥

इह रूपादिसाक्षात्कारकार्यपञ्चकवशात् बुद्धीन्द्रियपञ्चकम्; वदनादिकार्यपञ्चकवशाच्च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि; मनश्चैकम्, तद्धि मननान्मनः, निश्चयाद्बुद्धिः, अभिमानादहंकार इति गी-

यते, वृत्तिमात्रभेदेऽपि धर्मिणो व्यतिरेकानवगमात् । इतरत्र तु अन्धवधिरादिषु व्यतिरेकावगमात् । तथा च एकादशत्वश्रुति-  
राज्जसी ; अष्टत्वादिश्रुतिः निर्देशलाघवार्थम् एकादशत्वानुवा-  
दः इतरोपलक्षणार्थः ; द्वादशत्वादिश्रुतिर्वृत्तिभेदविषया उपास-  
नार्था । न चैवमनुमानादर्थनिर्णय इति श्रुतेः परतः प्रामा-  
ण्यम् ; आपाततः श्रुतितात्पर्यानवबोधेन विरोधस्फूर्तौ विषय-  
भेदेन व्यवस्थितश्रुतितात्पर्यस्यानुमानादवगमात् । यत्तु शीर्ष-  
ण्यप्राणाद्यनुवादेन सप्तत्वविधौ अनुवादकत्वमिति, तदिष्ट-  
मेव ; ‘सप्तभिर्धूपयति सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः शिर एत-  
द्यज्ञस्य यदुखा शीर्षन्नेव यज्ञस्य प्राणान्दधाति’ इत्युखाधूपन-  
स्तुतिपरत्वात् ; सप्तभिः ‘वसवस्त्वा धूपयन्तु’ इत्यादिमन्त्रै-  
रित्यर्थः । अतः प्राणान्तरव्यावृत्तिपरत्वयोजना न युक्तेति ॥

### अपरवर्णकम् ॥

‘स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्तते अथारूपज्ञो  
भवति एकीभवति न पश्यति न जिघ्रति न रसयति न वद-  
ति न शृणोति न मनुते न स्पृशति एकीभवति न विजानाती-  
त्याहुः’ इति ; अत्रैकमेवान्तःकरणं संशयनिश्चयवृत्तिभेदान्मन  
इति विज्ञानमिति चोक्तम् । एवमेतान्सप्त प्राणान्प्रक्रम्य ‘तमु-  
त्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनू-  
त्क्रामन्ति’ इति वाजसनेयिनः समामनन्ति । त एवान्यत्राधी-  
यते— प्राणो वै घ्राणेन्द्रियमित्यर्थः ; ग्रहः सोपानेन गन्धे-

नातिग्रहेण गृहीतः, जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्रहेण गृहीतः, चक्षुरूपेण, श्रोत्रं शब्देन, मनः कामेन, हस्तौ कर्मणा, वाङ्-  
नाम्ना, त्वक्स्पर्शेन— इति । तथान्यत्र— दशमे पुरुषे प्राणाः  
आत्मा मन इत्यर्थः । एकादशः । ते यदास्माच्छरीरादुत्क्रामन्ति  
—इति । अत्र संशयः—किं सप्तानामिन्द्रियाणामुत्क्रान्तिः,  
उतैकादशानामिति ; सप्त प्राणान्प्रक्रम्य ‘सर्वे प्राणा उत्क्राम-  
न्ति’ इति वचनात्, एकादशानामुत्क्रान्त्यभिधानाच्च । पूर्व-  
वर्णकवत्संगतिः । तत्र—

प्राथम्याल्लाघवात्कार्यदर्शनस्याविरोधतः ।

सप्तानामेव निर्याणमाधिक्यं वृत्तिभेदतः ॥

एकादशसंख्यातः पूर्वं सप्तसंख्या प्रतीयते, लघ्वी च ; अल्प-  
संख्यात्वात् । न चैकादशकार्यदर्शनविरोधः ; इह देहे एकाद-  
शप्राणाभ्युपगमात् । उत्क्रान्तिमात्रं हि सप्तानाम् । इतरे तु  
सह देहेन नश्यन्ति, देहान्तरारम्भे चारण्यते । यत्तु अधिक-  
प्राणोत्क्रान्तिवचनम् ‘दशमे’ इत्यादि, तल्लाघवानुग्रहीतात्  
‘एकीभवन्ति’ इत्यादिवचनात् वृत्तिभेदविषयम् । ‘सर्वे प्रा-  
णाः’ इति सर्वशब्दोऽपि प्रकृतसप्तप्राणेषु संकोच्यत इति  
प्राप्ते, अभिधीयते—

ग्रहत्वं बन्धकत्वेन बन्ध आमुक्तितस्ततः ।

अष्टानां ग्रहताम्रानादधिकोत्क्रान्तिरिष्यते ॥

एवं सत्येकादशोत्क्रान्तिश्रुतिः सर्वश्रुतिश्च न संकोच्येत ।

देहान्तरारम्भे च नाभिनवप्राणारम्भकल्पनेति । प्रयोजनं तु उत्क्रामतामेव प्राणानां सर्वदेहानुयायित्वात् यासां हैरण्य-गर्भाद्युपास्तीनां वागाद्यग्न्यादिभावरूपाधिदैविकशरीरादिप्रा-प्तिः फलम्, तासु सप्तानामेवोपास्तिः पूर्वपक्षे । सिद्धान्ते त्वेकादशानामिति ॥

### अणवश्च ॥ ३ ॥

‘अणुश्च’ इत्यत्र श्रुतिवशेन मुख्यप्राणस्यासर्वगतत्वं वक्ष्य-ति । तदिन्द्रियाणामपि तुल्यन्यायमिति वक्ष्यते । अत्र सांख्य-मतमाहंकारिकत्वकृतव्यापित्वमिन्द्रियाणां निरस्यते । अत एव भाष्यनिबन्धनकाराभ्यां पूर्वपक्षे न काचन श्रुतिरुदाहृता; श्रुतिविरोधनिरासपरेऽपि पादे वादिविप्रतिपत्तिनिरासप्रसङ्गा-त्संगतिः; प्राणसंख्यायां निरूपितायां तत्परिमाणस्यापि वा-दिसंमतस्य बुद्धिस्थत्वात् । पूर्वत्रैकादशप्राणानाम् उत्क्रान्तिरु-क्ता, सा न युक्ता; एषां व्यापित्वात् । तथा हि—

व्याप्यहंकारकार्यत्वात्प्राणानां व्यापिता मता ।

वृत्तिसंकोचतस्तेषां गत्यादिः श्रुतिपूच्यते ॥

सिद्धान्तस्तु—

व्यापित्वे कारणानां स्याद्विप्रकृष्टार्थदर्शनम् ।

देहे तद्वृत्तिसंकोचे वृत्तिष्विन्द्रियता भवेत् ॥

### श्रेष्ठश्च ॥ ४ ॥

‘तथा प्राणाः’ इत्यत्रोक्तन्याय इह मुख्यप्राणेऽतिदिश्यते । उत्तराधिकरणे इन्द्रियव्यापारात्प्राणस्य भेदो वक्ष्यते । स प्राणोत्पत्तिनिरूपणानन्तरं संगच्छत इति द्वे एते अधिकरणे नैरन्तर्येण करणीये । यदि त्विन्द्रियोत्पत्तिचिन्तानन्तरमेव प्राणोत्पत्तिमतिदिश्य प्राणस्येन्द्रियव्यापाराद्भेदो निरूप्येत, तर्हिन्द्रियेषु स्वरूपसंख्याभ्यामनिर्णीतेषु तद्व्यापारात्प्राणस्य भेदो न शक्यो निरूपयितुम् । तस्माद्भगवतः सूत्रकारस्य इन्द्रियोत्पत्तिचिन्तानन्तरमिन्द्रियाणि निरूप्य प्राणस्य च जन्ममतिदिश्य तस्येन्द्रियव्यापारेभ्योऽन्यत्वनिरूपणं संगच्छते । तत्र ‘नासदासीन्नो सदासीत्’ इति ब्रह्मसूक्तोक्तेन ‘मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्भान्यं न परः किंचनास’ इत्यस्यामृचि महाप्रलये ‘आनीदवातम्’ इति प्राणव्यापारः श्रूयते, अवातमिति प्राणव्यतिरिक्तवायुनिषेधः; पूर्वपक्षे मृत्युः पृथिवी, अमृतं स्वर्गः, रात्र्यह्नोः प्रकेतौ चन्द्रादित्यौ, व्यापाराच्च लिङ्गात् व्यापारवतः प्राणस्यास्तित्वमवगम्यते । ‘एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च’ इति मनइन्द्रियातिरिक्तस्य प्राणस्योत्पत्तिश्च श्रूयते । ‘तथा प्राणाः’ इत्यत्र हि प्रागुत्पत्तेः प्राणसद्भावश्रवणमवान्तरप्रलयविषयमित्युक्तम् । इदं तु महाप्रलयविषयमित्यधिकाशङ्का । लिङ्गस्यापि श्रुत्या सह स्पर्धा वक्ष्यमाणविशेष्यानुगुण्याद्भवति । उक्तं हि भट्टाचार्यैः—  
‘अत्यन्तबलिनोऽपीह पौरजानपदा जनाः । दुर्वलैरपि बाध्य-



न्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः' इति । ततश्च श्रुत्योर्विरोधादप्रा-  
माण्ये प्राप्ते, एकदेश्याह—

आरोपादपवादस्य बलित्वात्तद्विरि श्रुतम् ।

प्राणजन्मेति जन्मोक्तिर्गौण्यध्यारोपरूपतः ॥

वेदान्तेषु सृष्ट्यध्यारोपो निषेधार्थः । नासदासीयसूक्तं च  
निषेधार्थत्वात्प्रबलम् । तदाह भगवान्भाष्यकारः— ब्रह्मप्र-  
धाने सूक्त इति । 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिसृष्टिवाक्या-  
न्यध्यारोपार्थानि । ततश्च 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इति गौ-  
णार्थानीति प्राप्ते, उच्यते—

अद्वैतायापवादोऽयमद्वैते न विरुध्यते ।

प्राणजन्मश्रुतिस्त्वङ्गमद्वैते सा न गौण्यतः ॥

सत्यम् अध्यारोपापवादार्थः ; स एवापवादो ब्रह्माद्वैतप्रति-  
पत्त्यर्थः ; ततश्च अपवादार्थेऽपि वाक्ये आनीच्छद्वादो न  
प्राणव्यापारप्रतिपादकः, किंतु सृष्टिकारणम् आनीत् जी-  
वितवत्— इत्येवंपरः । प्राणजन्मश्रुतिस्तु परमशेष्यद्वैतप्रति-  
पत्तेः कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन उपपादकत्वान्मुख्यार्थेति ॥

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ५ ॥

उत्पत्तिचिन्तानन्तरमुत्पत्तिमत्स्वरूपचिन्तनात्संगतिः । 'यः  
प्राणः स वायुः' इति श्रूयते, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वे-  
न्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी'

इति । अत्र च वायुप्राणभेदाभेदश्रुत्योर्विरोधादप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षः ; अत्र वायुरेव प्राण इति नैकदेशिमतम् ; तथा सति वृत्तितद्वद्भेदस्यावश्यवक्तव्यत्वेन सिद्धान्तादविशेषात् । तस्माच्छ्रुत्योर्विरोधादनिश्चायकत्वेन सांख्यमतेन सामान्यकरणवृत्तिः प्राणः ; तथा हि—

चाल्यते मिलितैर्यद्वच्छ्रुतैः संभूय पञ्जरम् ।

मिलितैरिन्द्रियैरेवं प्राणवृत्तिर्विरच्यते ॥

यद्यपि नैकैकेन्द्रियवृत्तिः प्राणः ; एकैकेन्द्रियाभावेऽपि जीवन्दर्शनात् । त्वगिन्द्रियवृत्तित्वे च सामान्यकरणवृत्तित्वव्याघातान् । तथापि मिलितेन्द्रियवृत्तिर्भवति । एकैकशः शुकैरचाल्यस्यापि पञ्जरस्य मिलितैश्चाल्यत्वात् । तत्त्वान्तरप्राणकल्पनायां च गौरवम् ; इन्द्रियेभ्यः प्राणस्य भेदश्रुतिवृत्तितद्वद्भेदविषयेति प्राप्ते, अभिधीयते—

प्रधानक्रियया तुल्या मिलित्वा कुर्वतां क्रियाः ।

भवन्ति नेन्द्रियेष्वेता इति प्राणो न तत्क्रिया ॥

ये हि संभूय क्रियां कुर्वन्ति तेषां प्रधानक्रियासमानावान्तरव्यापारा दृश्यन्ते ; यथा शुकानां पञ्जरचालनानुगुणान्युत्पतनानि । नैवं प्राणनानुगुणावान्तरव्यापारा इन्द्रियाणाम् ; श्रवणादिव्यापाराणां प्राणनाद्विजातीयत्वात् । तस्मान्न प्राणनमिन्द्रियकार्यम् । न च श्रुतेर्गौरवमिति । प्रयोजनं तु पूर्वपक्षे

वायुमात्रादिन्द्रियमात्राच्च त्वंपदार्थस्य विवेकः कार्यः, सिद्धान्ते प्राणादपीति ॥

अणुश्च ॥ ६ ॥

‘अणवश्च’ इत्यत्र सांख्योक्तमाहंकारिकत्वकृतं व्यापित्वमिन्द्रियाणां निरस्तम्; अत्र तु श्रुत्यवगतं मुख्यप्राणस्य व्यापित्वमविरोधेन व्यवस्थाप्यत इति न तुल्यन्यायता । इन्द्रियाणामपि श्रुत्यवगतं व्यापित्वमनेनैव न्यायेन व्यवस्थापितं भवति । अन्ये त्वाहुः—‘अणवश्च’ इत्यस्यातिदेशोऽयम् ‘सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः’ इति व्यापित्वश्रुतेश्च अधिकाशङ्का आधिदैविकविषयत्वेन तन्निरास इति; तन्न, ‘त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः’ इति इन्द्रियाणामपि व्यापित्वश्रवणस्य व्यवस्थायाश्च साम्यात् । अपरे त्वाहुः— तत्र च अत्र च इन्द्रियाणां प्राणस्य च व्यापित्वपरिच्छिन्नत्वश्रुतय उदाहरणम्; तत्रेन्द्रियव्यापित्वश्रुतीनाम् ‘स यो हैताननन्तानुपास्ते’ इत्युपास्तिविषयत्वात् उपास्तेश्चारोपितरूपेणाप्युपपत्तेर्न व्याप्तिसाधकत्वमित्युक्तम् । अत्र तु ‘समोऽनेन सर्वेण’ इत्यादेः प्राणव्यापित्वश्रवणस्याधिदैविकविषयत्वं वर्ण्यत इति । तदपि न । अत्रापि समानत्वात् ‘प्राणः साम’ इति व्युत्पाद्य ‘य एवमेतत्साम वेद’ इत्युपास्तिविधानात् हेतुभेदस्य च अधिकरणाभेदकत्वादिति ॥

इदानीमधिकरणार्थं वर्णयामः— वायोरिन्द्रियव्यापाराच्च

विवेचितस्य मुख्यप्राणस्य परिमाणनिरूपणात्संगतिः । ‘प्राणः सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः’ इति विभुत्वं श्रूयते, एवम् ‘उत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति’ इत्यविभुत्वं च । तत्र विरोधादप्रामाण्ये प्राप्ते, एकदेश्याह—

विभोः परिच्छेद उपाधितो भवे-

द्विभुत्वमल्पस्य न युक्तमित्यतः ।

प्लुष्यादिसाम्योत्क्रमणश्रुती विभोः

प्राणस्य देहोपहितस्य न स्वतः ॥

न खलु घटकरकादेर्विभुत्वं केनापि रूपेणोपपद्यते । विभु-  
नस्तु नभसः कूपाद्यवच्छेदात् कूपादिसाम्यमल्पत्वं च दृष्टम्,  
एवं च प्राणस्यापि शरीराद्यवच्छेदात् प्लुष्यादिसाम्यम् ‘समः  
प्लुषिणा’ इत्यादिवाक्यैरभिधीयते; उपाधिकृतं चाल्पत्वम-  
पेक्ष्य गत्युत्क्रान्तिश्रुती इति प्राप्ते, अभिधीयते—

हिरण्यगर्भप्राणस्य विभुत्वमितरस्य तु ।

परिच्छेदः स्वतो नैषः क्लेशात्कल्प्य उपाधिभिः ॥

व्यवस्थायां हि संभवन्त्यां नोपाधिकल्पितः परिच्छेदो  
युक्तोऽभ्युपगन्तुम् । प्रयोजनं जीवोत्क्रान्त्यादेः प्राणोपाधिकत्व-  
सिद्धिः, व्यापित्वे प्राणस्य जीवाद्विशेषेण उपाधित्वायोगा-  
दिति ॥

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ ७ ॥

निरूपितेन्द्रियाणां या प्रवृत्तिः सा स्वतन्त्रतः ।

देवताधिष्ठितैवेति चिन्तनात्संगतिः स्फुटा ॥

‘चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति’ इति निरपेक्षकारणत्वावगमात्, ‘वाग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च’ ‘अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्’ इति च इन्द्रियाणामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्ववचनाच्च विरोधः ; वाचोऽग्निभास्यत्वादग्निनानुगृहीता स्वविषयं भासयतीत्यर्थः ; तपति, कार्यं कर्तुं प्रवर्तते ; अन्यस्यान्यभावासंभवात् वाक्सादृश्यं तद्भावः ; स च वाक्समानकार्यहेतुत्वमित्यनुग्राहकत्वसिद्धिः ; एवं विरोधे, एकदेश्याह—

नैरपेक्ष्यादधिष्ठानाज्जीवैर्मतिविरोधतः ।

श्रुतेर्गौणत्वतो देवा अधितिष्ठन्ति नेन्द्रियम् ॥

यद्धि यत्कार्यं करोति तत्तत्र निरपेक्षमित्युत्सर्गः ; सापेक्षत्वं तु बलवद्बाधकात् ; न चेन्द्रियैर्देवतापेक्षायामस्ति प्रमाणम् ; अचेतनत्वाद्वास्यादिवच्चेतनाधिष्ठानानुमानं जीवेश्वराभ्यां सिद्धसाधनम् ; न च ‘अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्’ इत्यादिश्रुत्या इन्द्रियाणां देवताधिष्ठितत्वमिति वाच्यम् ; देवतानां जीवस्य चैकमत्यनिमित्ताभावेन कार्यासिद्धिप्रसङ्गात् । अपि च इन्द्रियाधिष्ठातुरेव भोक्तृत्वमिति तद्देवतानामेव स्यात्, न जीवस्य ; तस्मात् ‘अग्निर्वाग्भूत्वा’ इत्यादौ अग्निशब्दो वागादिष्वेव प्रकाशकत्वाद्यपेक्षया गमयितव्य इति प्राप्ते, अभिधीयते—

नियन्तृतोपयोगादिसाक्षात्कारेण सा श्रुता ।

अग्न्यादेरिन्द्रियेष्वैकमत्यं चेश्वरतो भवेत् ॥

स्वरूपोपयोगादिसाक्षात्कारपूर्वकं प्रेरकत्वं हि नियन्तृ-  
त्वम् ; न च जीवस्य इन्द्रियस्वरूपसाक्षात्कार इति न तेन  
सिद्धसाधनम् ; न चेश्वरेण, तस्यागममन्तरेणासिद्धेरुक्तत्वात् ;  
आगमात्तत्सिद्धौ तद्वद्देवतानामधिष्ठातृत्वस्याप्यागमसिद्धत्वा-  
त्तदप्यस्तु । सति चैवं न जीवेन देवतानामिन्द्रियाधिष्ठाने नैक-  
मत्यम् ; तस्येन्द्रियाद्यसाक्षात्कारित्वेनाधिष्ठातृत्वायोगात् ; अ-  
धिष्ठातृत्वेऽपि ईश्वरादैकमत्यसिद्धेः । रथसाध्यजयफलरहित-  
स्यापि सारथेः स्वाम्यर्थं रथाधिष्ठातृत्ववज्जीवभोगार्थमेव देवता-  
नामिन्द्रियाधिष्ठातृत्वमप्युपपद्यते ; तासां तावन्मात्रस्य श्रुतत्वात्  
अस्मदादीन्द्रियाधिष्ठातृत्वेन तासामस्मदादिवत्तत्साध्यभोग-  
भागित्वानुमानम् ‘न ह वै देवान् पापं गच्छति’ इत्यागमवा-  
धितम् ॥

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र

श्रेष्ठात् ॥ ८ ॥

‘हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्  
तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः’ इत्येवमिन्द्रियाणां मुख्य-  
प्राणरूपत्वमाम्नायते, तथा ‘एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वे-  
न्द्रियाणि च’ इति तत्त्वान्तरत्वम् ; अनयोः श्रुत्योर्विरोधाद-  
प्रामाण्यं प्राप्तम् ; तत्र सिद्धेष्विन्द्रियेषु तदधिष्ठातृचिन्ता ।

तान्येव तु मुख्यप्राणवृत्तिव्यतिरेकेण न सन्ति इत्येकदेश्या-  
क्षिपति—

तद्भावानुविधायित्वात्तद्रूपत्वश्रुतेरपि ।

प्राणशब्दस्य चैकार्थ्यादिन्द्रियाण्यसुवृत्तयः ॥

प्राणे सतीन्द्रियाणि सन्ति, नासति; श्रुतिश्च प्राणरूपत्व-  
मेषामाह— ‘हन्तास्य—’ इत्याद्या; प्राणशब्दवाच्यत्वं चा-  
स्मात् ‘तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः’— इति; अत्र वृ-  
त्तिवृत्तिमतोश्चाभेदादैकार्थ्यं शब्दस्य, तत्त्वान्तरत्वे तु अने-  
कार्थत्वम् । प्राणे वा मुख्यस्य प्राणशब्दस्य इन्द्रियेषु लाक्ष-  
णिकत्वं प्रसज्येत । न च ‘एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वे-  
न्द्रियाणि च’ इति भेदव्यपदेशाद्भेदः; मनसोऽप्यनिन्द्रियत्व-  
प्रसङ्गात्; ‘मनःषष्ठानीन्द्रियाणि’ इति स्मृतेः तस्येन्द्रियत्वे  
‘हन्तास्य’ इति श्रुतेः इन्द्रियाणामपि प्राणवृत्तित्वमिति प्राप्ते,  
ब्रूमः—

इन्द्रियशब्दविभागा-

त्प्रकरणभेदाच्च कार्यनानात्वात् ।

प्राणात्तत्त्वान्तरता

न वृत्तिता चक्षुरादीनाम् ॥

तत्त्वान्तराणि प्राणाद्वागादीनि इति सूत्रे प्रतिज्ञाध्याह्वि-  
ते; तत्र हेतुः—तद्व्यपदेशात् तस्य तत्त्वान्तरस्य व्यपदेशात् ।  
तदेवोपपाद्यते— अन्यत्र श्रेष्ठात् इन्द्रियाणि— श्रेष्ठं प्राणं वर्ज-

यित्वा ते एकादश प्राणा इन्द्रियाण्युच्यन्ते श्रुतौ 'एतस्माज्जा-  
यते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति । मनसस्तु सत्यपि  
भेदव्यपदेशे स्मृतेरेवेन्द्रियत्वम् । न चैवमिन्द्रियाणामपि  
'तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः' इति श्रुतिवशात्प्राण-  
वृत्तित्वमिति वाच्यम् ; तस्याः श्रेष्ठप्राणनाम्ना इन्द्रियाणां  
समाख्यानकथनद्वारेण प्राणश्रेष्ठ्यपरत्वात्— श्रेष्ठनाम्ना कुला-  
ख्यानवत् ; 'अयं वै नः श्रेष्ठः' इत्युपक्रमात् । एतेन तद्रूप-  
भवनं व्याख्यातम् ; तद्भावभावित्वं तु तद्रूपत्वत्वेऽनेकान्तम् ;  
देहभावानुविधायिनामपि प्राणसहितेन्द्रियाणां देहवृत्तित्वा-  
भावात् । किं च 'एवं खल्वेता देवताः पाप्मनाविध्यन्'  
इति वागादीनसुरसङ्गविद्वानुपसंहृत्य— अथ हेममासन्यं प्रा-  
णमूचुः वागादयस्त्वं न उद्गाय ज्योतिष्टोमे औद्गात्रं कर्म कुरु  
तेन वयमसुरान्विजेष्यामः— इत्युपक्रम्य— तथेति तेभ्य एष  
प्राण उदगायन्तं पाप्मनाविध्यन्नसुरास्ते च यथाश्मानमृत्वा  
लोष्टो विध्वंसेत एवं हैव विध्वंसमाना विष्वधो विनेशुः—  
इत्यसुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य प्रकरणान्तरकरणेन  
निरूपणं दृश्यते ; तथा कार्यवैलक्षण्यं च श्रूयते—  
'सुषुप्तेषु वागादिषु प्राणाग्नय एवास्मिन्पुरे जाग्रति' इति,  
तथा 'वागुदक्रामदवदन्नास्ते देहः' इत्यादिना वागाद्युत्क्रा-  
न्तावपि शरीरावस्थानमुक्त्वा 'प्राण उदक्रामत् तत्प्राण  
उत्क्रान्तेऽपतत्' इति प्राणोत्क्रान्तौ शरीरपातः श्राव्यते,  
तथा 'वाक्प्राविशदशयदेव शरीरम्' इत्यादिना वागादिप्रवे-



शेऽपि शरीरशयनमुक्त्वा ‘प्राणः प्राविशत्तत्प्राणे प्रपन्न उद-  
तिष्ठत्’ इत्यादिना प्राणप्रवेशे शरीरोत्थानं दर्शयति; तस्मा-  
द्देहधारकत्वं प्राणस्य न वागादीनाम्; इन्द्रियाणां तु बाह्या-  
नामर्थालोचनं कार्यम्, मनसस्तु अर्थमननम्, न चैते प्राणस्य  
संभवतः; एवं वैलक्षण्यप्रमितौ इन्द्रियेषु प्राणशब्दस्य लाक्ष-  
णिकत्वं न दोषः गङ्गादिपदानामिव तीरादिष्विति । प्रयोजनं  
पूर्वपक्षे प्राणमात्रात् त्वंपदार्थस्य विवेकः कार्यः, सिद्धान्ते तु  
इन्द्रियेभ्योऽपीति; एवं यथाभाष्यमेकमधिकरणम् ॥

वाचस्पतिस्तु ‘त इन्द्रियाणि’ इति सूत्रेणैकमधिकरणम्,  
‘भेदश्रुतेः’ इत्यादिसूत्रद्वयेन चापरं चकार; तेन चेन्द्रियाणां  
प्राणवृत्तित्वं निरस्यते; तत्र चेन्द्रियाणि श्रेष्ठादन्यत्र अन्यानि—  
इति त एव सूत्रादनुषङ्गेण प्रतिज्ञा लभ्यते । अथ तु इन्द्रियाणां  
प्राणवृत्तित्वनिषेधपरत्वे, प्राणात्तत्त्वान्तराणीति अध्याहारप्रस-  
ङ्गात् । तद्व्यपदेशादिति हेतुगततच्छब्देनाध्याहृततत्त्वान्तरत्व-  
परामर्शात्, श्रौतपरामर्शालाभाच्च, हेतुपौनरुक्त्यं च; त-  
द्व्यपदेशादिति किम्? प्राणः इन्द्रियाणीत्यपर्यायशब्दव्यपदेशा-  
दित्यर्थः । तर्हीन्द्रियाणां प्राणवृत्तित्वाभावे साध्ये अनेकान्तः,  
मनःकामादिशब्दानां वृत्तिवृत्तिमदभेदाभिधायिनामपि अपर्या-  
यत्वात् । अथ प्रकरणभेदेन कार्यभेदव्यपदेशस्तद्व्यपदेशः, तर्हि  
‘भेदश्रुतेः’ इत्यादिना पुनरुक्तिरिति । तस्मादाद्यं सूत्रं प्रकारा-  
न्तरेण वर्ण्यते—

अनुग्राहकदेवतानिरूपणानन्तरमनुग्राह्यगतविशेषश्चिन्त्यते ।  
 ‘एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च’ इति इन्द्रियेभ्यः  
 पृथक्प्राणनिर्देशलिङ्गानुमितश्रुत्या प्राणस्यानिन्द्रियत्वमवगम्य-  
 ते, ‘इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमि-  
 ति च’ इति पाणिनिस्मृत्यनुमितश्रुत्या इन्द्रियत्वं च; इन्द्रश-  
 ब्दात् षष्ठीसमर्थात् लिङ्गमित्येतस्मिन्नर्थे घच् प्रत्ययो भवति,  
 घस्य आयनादिसूत्रेण इयादेशः, इन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रियम्;  
 एवमिन्द्रेण सृष्टमित्याद्यर्थे प्रत्ययो योज्यः; चकारः ‘चितः’  
 इत्यन्तोदात्तार्थः । एवं श्रुतिविरोधे, एकदेश्याह—

भौतिकत्वे सतीन्द्रस्य लिङ्गत्वादसुरिन्द्रियम् ।

रूपाद्यालोचकत्वस्य दीपादौ व्यभिचारतः ॥

भौतिकत्वे सति देहस्थात्मलिङ्गत्वमिन्द्रियत्वम्; ज्ञानव्या-  
 वृत्त्यर्थं भौतिकग्रहणम्; चेष्टाद्यपीन्द्रियद्वारा लिङ्गं न स्वात-  
 न्त्येण; न च रूपादिसाक्षात्कारकारणत्वमिन्द्रियत्वम्; आलो-  
 कादावतिव्याप्तेः । भेदनिर्देशस्तु मनोवत्प्राधान्याद्रमयितव्य  
 इति प्राप्ते, अभिधीयते—

देहाश्रितस्य रूपादिसाक्षाद्धीकरणस्य च ।

इन्द्रियत्वं मतं रूढिर्योगाच्च बलवत्तरा ॥

ते वागादयः श्रेष्ठादन्यत्वेन्द्रियाणि; कुतः? तेनेन्द्रियशब्देन  
 तेषामेव वृद्धव्यवहारे व्यपदेशात् । इन्द्रलिङ्गता तु स्वरार्थ

व्युत्पादिता— गच्छतीति गौः इतिवत् । इन्द्रियलक्षणं तु देहाश्रितत्वे सति रूपादिसाक्षात्कारकारणत्वम् । इदं च इन्द्रियस्य देहाश्रितत्वं यद्देहप्रदेशे चक्षुर्गोलकाद्यनुग्रहोपघाताभ्यां तदनुग्रहोपघातौ । तथा च नालोकस्येन्द्रियत्वप्रसङ्गः ; अस्तु प्राणस्यानिन्द्रियत्वम् , तस्यैव तु वृत्तयः इन्द्रियाणीत्याशङ्का उत्तराधिकरणे निरस्ता ॥

## संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उप- देशात् ॥ ९ ॥

उत्पद्यमानव्यापार उत्पत्तिः, उत्पादकव्यापार उत्पादना, तत्र जगदुत्पत्तिविषयश्रुतिविरोध इतः प्राक्पादद्वयेन निरस्तः ; इदानीमुत्पादनाविषयश्रुतिविरोधो निरस्यते । तत्रात्रिवृत्कृत-भूतोत्पादनं पारमेश्वरमेवेति श्रुतिष्वविगीतमवगतम् ; भौतिकनिर्माणे तु श्रुतिविप्रतिपत्तिर्दृश्यत इति तन्निरासाय यत्न्यते । ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ इत्युपक्रम्य तेजोऽब्रन्नानां सृष्टिमभिधायाम्नायते— ‘सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि’ इति, ‘तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि’ इति ; अत्र नामरूपनिर्माणस्य जीवकर्तृकत्वं प्रतिभासते ; ‘आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता’ इत्यत्र नामरूपनिर्वहणस्य परमेश्वरकर्तृकत्वमाम्नातम् ; अनयोः श्रुत्योर्विरोधोऽस्ति न वेति सं-

शयः । स च 'जीवेन' इत्यस्य व्याकरणप्रवेशसंबन्धाभ्या-  
म् । अत्रैकदेशिमतोपन्यासेन न प्रयोजनम् ; वाक्यघटनाया-  
मपि विरोधाशान्तेः । तत्र 'जीवेन' इत्यस्य 'व्याकरवाणि'  
इत्यनेनैव संबन्धः । तथा च विरोध इति प्राप्तम् ; तथा हि—

प्रधानेनान्वयाकाङ्क्षावशात्संनिधिवाधनात् ।

जीवेनेत्यस्य साफल्यात्कृत्वाश्रुतेर्जीवकर्तृता ।

यद्यपि 'जीवेन' इत्यस्य 'अनुप्रविश्य' इत्यनेन नैरन्तर्यं सं-  
निधिरस्ति, तथापि आकाङ्क्षया प्रकरणसरूपया वाध्यते ; स्था-  
नस्य प्रकरणादुर्वलत्वात् । तत्र यद्यपि गिरिनदीसमुद्रादिनिर्माणे  
जीवस्य कर्तृत्वं न प्रतीयते, तथापि डित्थडवित्थादिनामकरणे  
रथशकटादिरूपकरणे चास्ति सामर्थ्यम् ; तावता च योग्यता  
अवधारयितुं शक्यते । न हि सर्वत्र कार्ये कर्तृत्वमवगन्तुं  
शक्यम् ; आनन्त्यात् । एवं च प्रधानेन 'व्याकरवाणि' इत्यनेन  
'जीवेन' इत्यस्य गुणभूतस्य संबन्धे संभवति, न गुणभूतेन  
'अनुप्रविश्य' इत्यनेन संबन्धः ; अङ्गानां प्रधानार्थत्वेन प्रधान-  
संबन्धापेक्षितत्वात् । 'व्याकरवाणि' इत्युत्तमपुरुषश्रुतिस्तु पर-  
देवतायाः प्रयोजककर्तृत्वमाह— चारेणानुप्रविश्य परसैन्यं  
संकलयानि इतिवत् । इतरथा 'जीवेन' इत्येतद्वयर्थं स्यात् ।  
न च करणत्वेनार्थवत्त्वम् ; तथा सति प्रधानक्रियोद्देशेन कर्तृ-  
व्यापारविषयत्वस्यावश्यवक्तव्यत्वात् ; इतरथा करणत्वानु-

पपत्तेः । चेतनस्य च प्रधानक्रियोद्देशेन चेतनान्तरप्रयुक्तस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वम्, इतरस्य प्रयोजककर्तृत्वमिति चारद्वारकराजसैन्यसंकलने दृष्टत्वाच्च । किं च, अनुप्रवेशे जीवे कर्तरि निश्चिते, समानकर्तृत्ववाचिकत्वाश्रुतेर्व्याकरणेऽपि जीवः कर्तेति सिध्यति; तस्माज्जीवकर्तृकमेव नामरूपव्याकरणम्, नेश्वरकर्तृकमिति श्रुतिविरोधे प्राप्ते, अभिधीयते—

उत्सर्गस्यापवादेन बाधाद्योग्यत्वहानितः ।

प्रधानेनान्वयासिद्धेर्भोगार्थं जीवकीर्तनात् ॥

जीवब्रह्माविभागेन क्त्वाश्रुतेरुपपत्तितः ।

व्याकर्तोत्तमपुंश्रुत्या सर्वेशो नामरूपयोः ॥

सामान्येनावगतस्य योग्यत्वस्य गिरिनदीसमुद्रादावपवादेन बाधात् न जीवस्य 'व्याकरवाणि' इत्यनेन संबन्धः; किंतु 'अनुप्रविश्य' इत्यनेन संनिहितेन । न च जीवनिर्देशवैयर्थ्यम्; त्रिवृत्करणनामरूपनिर्माणयोः जीवभोगार्थत्वेन तन्निर्देशार्थवत्त्वात् । तस्मादनुप्रवेशमात्रे जीवस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वम्, परदेवतायाश्च प्रयोजककर्तृत्वम्; नामरूपव्याकरणे तु उत्तमपुरुषश्रुतेः स्वतन्त्रकर्तृत्वम्; क्त्वाप्रत्ययस्तु जीवब्रह्मणोः स्वरूपैक्यादुपपादयितव्यः इति ॥

इति मुनिवचनैर्विरोधशान्त्या

परपरिकल्पितमानदूषणैश्च ।

श्रुतिकलहनिरासतश्च वेदैः

परमपदं प्रतिपाद्यमित्यवादि ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

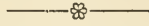
पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥



## तृतीयोऽध्यायः ॥



तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः

प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

अविरोधेन वेदान्तवेद्यं ब्रह्म निरूपितम् ।

तत्प्राप्तिसाधनं ज्ञानं सोपायमिह चिन्त्यते ॥

अविरोधेन अनाकुले वेदान्तार्थे तत्प्राप्तिसाधननिरूपणं युक्तमित्यध्याययोर्हेतुहेतुमद्भावः संबन्धः । तत्र प्रथमे पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य परलोकेहलोकसंचरणं निरूप्यते सम्यग्ज्ञानसाधनवैराग्यार्थम् । जीवः प्राणेन्द्रियसहितः अविद्याकर्मपूर्ववासनासमेतः पूर्वदेहं परित्यज्य देहान्तरं गृह्णातीति श्रुतम्— ‘अथैनमेते प्राणा अभिसमायान्ति’ इत्या-  
रभ्य ‘अन्यं नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते’ इत्यन्तात्संद-  
र्भात्; स किं देहबीजभूतैर्भूतसूक्ष्मैरसंपरिष्वक्तो गच्छति,  
उत संपरिष्वक्त इति चिन्त्यते । अत्र द्वेधा विचारः— इतो  
भूतानि यान्ति न वेति प्रथमः, तैरसंपरिष्वक्तो जीवो ग-  
च्छति, उत संपरिष्वक्त इति द्वितीयः । परिष्वङ्ग एव गमनं  
संभवति, प्राणानां जीवदेहाश्रयणेनैव गतिदर्शनात्, इतरथा

नेति सूक्ष्मभूतात्मकसूक्ष्मदेहसिद्धिरिति चिन्ताप्रयोजनम् । संशयवीजं तु किं पञ्चम्यामाहुतौ आपः भवन्तीति संबन्धः, उत या आपः ताः पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचसो भवन्तीति । यदि प्रथमः, तदा पूर्वपक्षः ; पञ्चम्यामाहुतौ अपां सत्त्ववचनेन व्युल्लोकाग्रावपामभावावगमात् । उत्तरस्मिन्सिद्धान्तः सिध्यति ; पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वविशेषविधिना अन्यत्रापुरुषवचसामपामभ्यनुज्ञानात् । तत्र भूतसूक्ष्माणितो न यान्तीति प्राप्तम् ॥

उत्क्रान्तावश्रुतेः स्वर्गे श्रद्धाया हवनादपि ।

सर्वत्र सुलभत्वाच्च न भूतानामितो गतिः ॥

वृष्ट्याहुतिवर्जं पञ्चम्यामाहुतावेवापो भवन्तीति विशेषणसामर्थ्यादबुपलक्षितभूतानि न यान्ति ; अपि च आगमैकसमधिगम्यं भूतगमनम् ; न च इन्द्रियोपादानवदुत्क्रान्तौ भूतोपादानं श्रुतम् ; अतश्च योग्यप्रमाणाभावात् अभावो भूतगमनस्य ; यदि भूतानीतो गतानि, तर्हि स्वर्गलोके अश्रोष्यन्ते ; न तु श्रूयन्ते । श्रद्धाया एवाहुतेस्तत्र श्रवणात् । न च देहान्तरारम्भान्यथानुपपत्त्या भूतगमनम् ; भूतानां सर्वत्र सुलभत्वेन तद्वैयर्थ्यात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

कर्मयानादपां यानं श्रद्धाशब्दोऽम्बुलक्षकः ।

प्राणानां गमनार्थं च भूतोपादानमर्थवत् ॥

न तावत्पञ्चम्यामाहुतावेव आपो भवन्ति इत्यवधारयितुं



शक्यम्; वृष्ट्याहुतावपां दुर्वारत्वात् । न च सामान्य-  
तो व्यवच्छिद्य पुनः श्रुतादन्यत्र व्यवच्छेदस्य संकोचः ;  
अस्यैव गौरवस्यायुक्तत्वात् । तस्मात् या आपः ताः पञ्च-  
म्यामाहुतौ पुरुषवचस इति विधीयते । कथं पुनः प्राप्ता-  
स्वप्सु पञ्चमाहुतिसंबन्धः पुरुषवचस्त्वं च द्वयं विधातुं  
शक्यम् ; वाक्यभेदप्रसङ्गात् । त्वया वा कथं पञ्चमीमाहुति-  
मनूद्य तस्यामपां सत्त्वं तासां च पुरुषवचस्त्वं च विधातुं  
शक्यम् ; तस्मात् पक्षद्वयेऽपि वाक्यभेदोऽपरिहार्यः अगत्या  
चाश्रयितव्यः । यथाहुः भट्टपादाः— ‘गौणं लाक्षणिकं वापि  
वाक्यभेदेन वा स्वयम् । वेदोऽयमाश्रयत्यर्थं को नु तं प्रतिकूलये-  
त्’ इति । अथवा धूमादिमार्गसिद्धम् इहलोकपरलोकसंचरण-  
मनूद्य पञ्चाग्निकल्पनया उपास्तिमात्मिह विधीयते, अन्यत्स-  
र्वमनूद्यत इति न विरोधः । कुतः पुनरपां प्राप्तिः, यासु पञ्च-  
माहुतिसंबन्धः पुरुषवचस्त्वं च चोद्यते ? उच्यते—‘तं विद्या-  
कर्मणी समन्वारभेते’ इति कर्मणामनुगमनमुक्तम् ; कर्माणि  
चाग्निहोत्रादीनि दध्यादिद्रवद्रव्यसमवायीनि, अतः सन्ति  
आपः आहुत्यपूर्वरूपाः ; अनेन भूतोपादानाश्रवणं निरस्तम् ।  
ताश्च पञ्चीकृतत्वादितरभूतसहिताः । कर्मारब्धे च देहे पञ्च-  
भूतकार्यस्य स्वेदादेर्दर्शनात् कर्मसु पञ्चभूतान्वयसिद्धिः ।  
देहपाञ्चभौतिकत्वे अनुमानम्— देवदत्तशरीरं पृथिवीसम-  
वेतत्वे सति उदकतेजोवाय्वाकाशासमवेतत्वरहितम्, कार्यत्वा-  
त्— हिमकरकवत् । यद्यपि हिमकरकः परेषां पृथिवीतरभू-

तच्चतुष्टयासमवेतः, तथापि न पृथिवीसमवेतः; ततश्च पृथिवी-  
समवेतत्वविशिष्टतदितरभूतचतुष्टयासमवेतत्वं तत्र नास्त्येव;  
विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात् । ततः सपक्षसिद्धिः ।  
देवदत्तशरीरस्य पृथिवीसमवेतत्वे सति तदितरभूतचतुष्टया-  
समवेतत्वरहितत्वं पृथिवीसमवेतत्वाभावाद्वा तदितरभूतचतु-  
ष्टयासमवेतत्वाभावाद्वा; आद्यो व्याहृत इति द्वितीयः स्यात् ।  
तथा च तोयादिसमवेतत्वसिद्धिः । ततश्च 'आपः' इत्यस्य उप-  
लक्षणत्वाच्छरीरारम्भकपञ्चभूतानि अनुगच्छन्ति । यत्तु स्वर्गे  
श्रद्धामात्रं श्रुतं न त्वाप इति, तत्रोच्यते— पञ्चम्यामाहुतौ  
अपां पुरुषवचस्त्वं यथा भवति तथा किं वेत्थेति प्रश्ने, अपां  
पुरुषशब्दवाच्यत्वप्रकारमात्रमग्निविस्फुलिङ्गादिदृष्टिविशिष्टम-  
ज्ञातं पृच्छ्यते, वाक्यस्य विशेषणे संक्रान्तत्वात् । आपस्त्वग्नि-  
होत्रादिफलप्राप्तिपुनरावृत्तिपर्यालोचनया शास्त्रान्तराच्च ज्ञाता  
एव । तत्र प्रथमाद्याहुतिषु आहुतिविशेषमजिज्ञासित्वा पञ्च-  
माहुतिविषयप्रश्ने एवमभिप्रायः— या पञ्चमाहुतिः सैव प्रथ-  
माहुतिस्थाने भवतीति; सति चैवं प्रश्नहृदये प्रथमाहुतावतिरि-  
क्ताभिधानमसंबद्धं स्यात्; ततश्च श्रद्धाया हेतुत्वादापः श्रद्धा-  
शब्देन लक्ष्यन्ते । 'आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते' इति श्रुतेः ।  
यत्तु भूतोपादानवैयर्थ्यमिति, तत्परिहृतम्, प्राणगतेभूतापेक्ष-  
त्वादिति । एवं भूतानामितः परलोकगमने सिद्धे, विचा-  
र्यते— किं भूतैः परिवेष्टितो जीवो गच्छति, उत भूतानि  
पृथग्गत्वा परलोके शरीरमारभ्य तं परिवेष्टयन्तीति । ननु

कर्मसमवायित्वादपाम्, कर्मणश्च जीवाश्रितत्वात् कथं पृथ-  
ग्गमनशङ्का? उच्यते, लिङ्गशरीरमेव कर्माश्रयं परलोकं गत्वा  
व्यापिनं जीवं वेष्टयिष्यति । अत्र—

अपामेव श्रुतेः प्रश्नप्रत्युक्त्योश्चेतनाश्रुतेः ।

पृथगापः प्रयान्तीतः परलोके च वेष्टनम् ॥

उत्तरम्— न तावद्यापि ब्रह्म संसरति ; किंतु तदेव देहो-  
पाध्यवच्छिन्नं जीवः संसरतीत्याख्यायते ; स च गत्वैव पर-  
लोकं प्राप्नोति, तस्मिंश्च धर्मादि अध्यस्तं लिङ्गोपाधितः—  
इत्यध्यासभाष्ये उक्तम् ; एवं च,

सोमराजश्रुतेः साम्यात्पञ्चाग्निपितृयाणयोः ।

अप्सु भोक्त्रन्वयः सिध्येदपां भोक्तरि चान्वयः ॥

पितृयाणे पथि 'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा' इत्यत्र  
इष्टादिकारी चन्द्रलोकं प्राप्तः सोमराजशब्देन श्रुतः ; पञ्चा-  
ग्निविद्यायामपि 'श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा  
संभवति' इति कर्तृवचनत्वेनान्यत्र निर्जातः सोमराजशब्द  
आम्नातः ; ततश्च यत्र पञ्चाग्निविद्यायामापः श्रुताः, तत्र  
कर्ता प्रतीयते, यत्र पितृयाणे कर्ता श्रुतः तत्रापि पञ्चाग्नि-  
विद्यायां श्रुता आपः प्रतीयेरन् ; न च वाच्यम्, आप एव  
गत्वा शरीरमारभन्तां तेन चावच्छिन्ने जीवे सोमराज-  
प्रत्यभिज्ञा भवत्विति ; यतः 'श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः

सोमो राजा संभवति' इति श्रद्धाशब्दवाच्याहुतेरमृतमयशरीरावच्छिन्नस्य कर्तुः संभवो विधीयमानोऽप्यपि कर्त्रन्वयं गमयति । इतरथा अद्भ्योऽमृतमयशरीरमात्रमुत्पद्येत, तेन चावच्छेदोत्तरकालं सोमराजसंभवः प्रसज्येतेति ॥

### कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां

यथेतमनेवं च ॥ २ ॥

इष्टादिकृतां धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकं गत्वा तत्र भुक्तभोगानां ततोऽवरोहः आम्नायते ; 'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' इत्युपक्रमे, संपतति गच्छति अनेन फलमिति संपातः कर्म, उपसंहारे च रमणीयचरणाः ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादियोनिमिति, तत्र संशयः— किं भुक्तकृत्स्नकर्माणः इष्टादिकारिणः अवरोहन्ति, उत अभुक्तफलकर्मवन्त इति ; उपक्रमगतयावच्छब्दादुपसंहारगतरमणीयचरणशब्दाच्च । पूर्वत्र कर्त्रनुगतकर्मसमवायिनीनामपामवरोहकाले पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषाकारपरिणामं हेतुमाश्रित्यारोहेऽप्यद्भिः परिवेष्टितस्य जीवस्य गमनमुक्तम् ; तत्र स्वर्गादवरोहतः कर्मैव नास्ति, कुतस्तत्समवायिन्य आपः ; तथा चारोहेऽपि हेत्वभावान्न परिष्वङ्गसंसिद्धिरित्याक्षिप्यते—

यावद्यत्किंचशब्दाभ्यां सर्वकर्माभिधानतः ।

मृतौ सर्वक्रियाव्यक्तेरवरोहोऽन्यकर्मतः ॥

उपक्रमगतात् ‘यावत्संपातमुषित्वा’ इति वचनात्, ‘प्रा-  
प्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्य-  
स्मै लोकाय कर्मणे’ इति श्रुत्यन्तराच्च, प्रायणस्य चानुपभुक्तफ-  
लसकलकर्माभिव्यञ्जकत्वात्, व्यञ्जकाविशेषे व्यङ्ग्यवैशेष्या-  
योगात्— प्रदीपसंनिधाविव घटपटादीनाम्— कर्मणामभिव्यक्ते-  
श्च फलाभिमुख्यरूपत्वात्, आभिमुख्ये चाजनकत्वानुपपत्तेः,  
समस्तकर्मफलं स्वर्गे उपभुज्य परकृतात्कर्मणः अवरोहन्ति ।  
स्मर्यते हि— ‘पतत्यर्धशरीरेण यस्य भार्या सुरां पिबेत्’  
इति । श्राद्धवैश्वानरीयेष्ट्यादेरपि पितृपुत्रगामि फलं श्रूयते—  
‘अथ यत्पितृभ्यो निमृणाति तेन पितृणां लोकः’ इति ।  
निमृणाति प्रयच्छति श्राद्धादीत्यर्थः । तथा ‘यस्मिञ्जाते  
एतामिष्टिं निर्वपति स पूतः’ इति च । आचारादवरोह इति  
तु पूर्वपक्षस्तुच्छः । ‘यथाकारी यथाचारी’ इत्युपक्रम्य,  
‘साधुकारी’ इत्युपसंहारेण करणचरणैक्यस्य श्रुतत्वात् । एवं  
प्राप्ते, अभिधीयते—

बहुव्रीहिसमासोऽयं मतुबर्थे प्रयुज्यते ।

साक्षात्संबन्धलाभे च न युज्येत परम्परा ॥

रमणीयं चरणमेषामिति मतुबर्थसंबन्धे च बहुव्रीहिः । न  
चासौ संबन्धिकृतकर्मणि विप्रकर्षेण नेतुं युक्तः; साक्षात्संब-  
न्धसंभवे तदयोगात् । यावच्छ्रुतिः साक्षात्संबन्धं बाधत  
इति चेत्, न; तस्या एव रमणीयचरणश्रुत्या स्वर्गार्थकृतकर्मणि

संकोचोपपत्तेः । उपक्रमश्रुतायास्तस्या उपसंहारानुरोधेन न संकोच इति चेत्, न ; अननुरुद्धेऽप्युपसंहारे तस्याः स्वयमेव संकुचद्वृत्तित्वात् ; न हि यावतां पुंसां संपातः, यावन्तो वा संपाताः स्वयंकृतास्ते सर्वे शक्याश्चन्द्रलोके भोगेन क्षपयितुम् ; पुरुषान्तरकृतस्य स्वयंकृतस्य च चिरभुक्तस्य कर्मणः तत्र भोगायोगात् ; तस्मात्स्वयं संकुचद्वृत्त्या यावच्छ्रुत्या अपेक्षितविषयः उपसंहारेण समर्प्यते । एतेन यत्किञ्चिच्छ्रुतिं व्याचक्षीत । कर्मणां युगपदभिव्यक्तौ फलदाने च इदानीं क्रमेण सुखादिभोगो न स्यात् । पूर्वप्रायणेन युगपदभिव्यक्तैः कर्मभिरिदानीं युगपत्फलारम्भप्रसङ्गादित्यैकभविकन्यायो द्रष्टव्यः ॥

**अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ ३ ॥**

इष्टादिकारिव्यतिरिक्ताश्चन्द्रलोकं गच्छन्ति, उत नेति संशयः ; ‘ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति’ इति अविशेषेण श्रवणात्, ‘अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेति एतत्तृतीयं स्थानम्’ इति केषांचिन्मार्गद्वयनिषेधेन तृतीयस्थानसंकीर्तनाच्च । इष्टादिकारिणां प्रतीतेरित्युक्तम्, तत्र विशेषणवैयर्थ्यमाशङ्क्य परिह्रियते ; अथवा ‘पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसः’ इति वचनसामर्थ्यादङ्घ्रिः परिष्वक्तरंहणवत् तत्सामर्थ्यादेव देहान्तरलाभाय सर्वेषां पञ्चाग्निगमनमाशङ्क्य निरस्यत इति व्यवहितसंगतिः ; अथवा

यावच्छ्रुतिवत्सर्वश्रुतेर्न स्वयं संकुचद्वृत्तित्वमस्ति अनुपपत्त्य-  
भावादित्यव्यवहितसंगतिः । तत्र—

सर्वशब्दो न संकोच्यः स्थानमात्राभिधानतः ।

देहाप्तये च चन्द्राप्तिरनिष्टादिकृतामपि ॥

तृतीयस्थानशब्दो हि न सर्वशब्दस्य संकोचकः; तेन  
स्थानमात्राभिधायकेन मार्गानभिधानात् । चन्द्रलोकादवती-  
र्णानामपि तत्स्थानत्वसंभवात् । पञ्चम्यामाहुतौ देहान्तरलाभः  
इत्यविशेषेण श्रुतम् । पञ्चमाहुतिप्राप्तिश्च न श्रद्धाद्याहुतिमन्तरे-  
णेति चन्द्रलोकः सर्वैर्गन्तव्यः । ‘न कतरेण चन’ इति नि-  
षेधश्चन्द्रलोकभोगं निषेधति न गमनम् । न च भोगाभावे  
ऊर्ध्वगमनवैयर्थ्यम्; अनन्यमार्गतया ग्रामं गच्छन् वृक्षमूला-  
न्युपसर्पति इतिवत्— संयमिनीं पुरीं गन्तुं चन्द्रलोकगमन-  
मिति प्राप्ते, अभिधीयते—

मार्गापेक्षं तृतीयत्वं मार्गस्यैव समञ्जसम् ।

पञ्चम्यां प्रापयेद्देहं श्रुतिर्नान्यत्र वारयेत् ॥

यद्यपि स्थानशब्दान्न मार्गप्रतीतिः, तथापि ‘वेत्थ यथासौ  
लोको न संपूर्यत ३’ इति प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे ‘अथैतयोः  
पथोर्न कतरेण चन’ इत्यनिष्टादिकारिणां मार्गद्वयनिषेधपूर्वकं  
तृतीयं स्थानं द्युलोकापूरणाय वदन् मार्गमेव वदेत्; अवान्त-  
रसंख्यानिवेशस्य साजात्यापेक्षत्वात् । यदि तु पितृयाणेनाव-



रुह्य प्राप्तं कीटादिस्थानं तृतीयमभविष्यत्, तर्हि रमणीयादियोनिरपि प्राप्यमाणा तृतीयत्वेन निरदेक्ष्यत ; न च निर्दिष्टा ; तस्मात्तृतीयस्थानं मार्गान्तरमनिष्टादिकारिणो गच्छन्तीति विशेषवचनाच्च सर्वशब्दः इष्टादिकारिषु संकुचति । ‘पञ्चम्यामाहुतौ’ इति च वचनं पञ्चम्यां देहं प्रापयति, न अपञ्चम्यां प्रतिषेधति, वाक्यभेदप्रसङ्गात् । न चार्थात्प्रतिषेधति ; कीटादिस्थानतृतीयमार्गविषयविशेषवचनविरोधात् । तथा च न कीटादिलाभाय द्युलोकगमनापेक्षा । चिन्ताप्रयोजनं तु पञ्चाग्निविद्यायामविशेषेण दिष्टं गताः श्रद्धाद्याहुतिमयभूतपरिष्वक्ता अनुचिन्तनीयाः पूर्वपक्षे । सिद्धान्ते तु इष्टादिकारिण इति ॥

### साभाव्यापत्तिरूपपत्तेः ॥ ४ ॥

इष्टादिकारिण एव भूतसूक्ष्मपरिवेष्टिताः चन्द्रमसमधिरुह्य ततः सानुशया अवरोहन्ति न त्वनिष्टादिकारिण इत्युक्तम् । इत आरभ्य आपादपरिसमाप्तेः तेषामेवावरोहप्रकारः परीक्ष्यते । तत्रेयमवरोहश्रुतिर्भवति—‘अथेममेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वा अभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति’ इति ; तत्र संशयः—किमवरोहन्त आकाशादिरूपेण परिणमन्ते, उत आकाशसदृशा भवन्ति उत्तरैश्च संबध्यन्त इति । नित्याकाशसंयोगस्यासाध्यत्वात्तत्सादृश्यम् ; ‘धूमो भवति’ इत्यादिश्रुतेः ‘आकाशम्’ ‘वायुम्’ इति कर्मश्रुतेश्च । जीवानां निरवयव-



त्वेनापरिणामित्वेऽपि लिङ्गशरीरस्य तत्संभवः । पूर्वत्र मार्गगतत्रित्वसंख्यायोगात्स्थानमपि मार्ग इत्युक्तम् । तर्हीहाप्यनुशय्यात्मकवायुगतकर्मत्वस्याकाशेऽपि गम्यमानत्वादाकाशस्याप्यनुशयितादात्म्यमिति प्रत्यवस्थानात्संगतिः । तत्र—

आकाशाद्यात्मकत्वं स्यात्कर्मिणां भवतिश्रुतेः ।

अन्यस्यान्यात्मता दृष्टा नन्दीशनहुषादिषु ॥

भूत्वेति कर्मणो वायोस्तादात्म्यप्रतिपादनात् ।

आकाशस्यापि तादात्म्यं कर्मत्वेऽपि प्रतीयते ॥

देहत्यागमनु पश्चाद्देहान्तरे शेरत इत्यनुशयिनः कर्मिणः, तेषां धूमादिभिस्तादात्म्यम् 'भवति' इति श्रुतेः स्फुटमवगम्यते । न चास्याः धूमादिसंसर्गसादृश्यपरतया गौणत्वम्; मुख्यार्थसंभवे तदयोगात् । न चान्यस्यान्यभावानुपपत्तेर्मुख्यार्थासंभवः; मनुष्यशरीरस्य नन्दिश्वरस्य महादेवप्रसादाद्देवशरीरपरिणामस्य, देवशरीरस्य नहुषस्यागस्त्यशापादजगरशरीरपरिणामस्य च स्मरणात् । यद्यपि आकाशे वायौ च कर्मत्वं प्रतीयते, तथापि वायौ तावत् 'वायुर्भूत्वा' इति तादात्म्यमवगतम्; कर्मत्वं च अनुशयिभिस्तद्रूपपरिणामार्थं गम्यत्वादुपपन्नम्; आकाशस्यापि तेन सह कर्मत्वनिर्देशसमभिव्याहारसाम्यात् तदात्मनाप्यनुशयिनः परिणमन्ते इति प्राप्ते, अभिधीयते—

सिद्धस्यासिद्धरूपेण परिणामो हि दृश्यते ।

सिद्धाकाशादिरूपेण नान्यस्य परिणामिता ॥

मनुष्यशरीरसमये देवशरीराभावात् युक्तस्तस्य तदाकारेण परिणामः; अनुशयिनां सूक्ष्मशरीरस्य तु आकाशेन योगे पश्चान्न तदाकारपरिणामिता; न हि समसमये दध्ना दुग्धं परिणमते; एवं च मुख्यार्थालाभेन भवतिश्रुतिर्गौणी; सा चाकाशसादृश्यपरा; तथा वाय्वादिष्वपि भिन्नसमयत्वसंभवेऽपि संसर्गपरा; उपक्रम एव मुख्यत्वभङ्गात् । आकाशाद्यैक्ये सति न रमणीयादियोनिप्राप्तिः, सादृश्ये तु भवतीति चिन्ता-प्रयोजनम् ॥

**नातिचिरेण विशेषात् ॥ ५ ॥**

आकाशादिप्रतिपत्तौ प्राग्ब्रीह्यादिप्रतिपत्तेर्भवति विशयः— स किं दीर्घकालमाकाशादिसादृश्येनावस्थाय उत्तरोत्तरसादृश्यं संसर्गं वा गच्छति, उत अल्पकालमिति । आकाशादि-सादृश्य एव चिराचिरत्वविचारणात्संगतिः । चिरत्वे हि सादृश्यस्य महाप्रलयस्थितेनाकाशेन सादृश्यसंभवेन देहलाभो न स्यात्; अचिरत्वे तु स्यादिति सप्रयोजना चिन्ता । तत्र—

अतो वा इति सर्वेषामुक्तेरनुमितेरपि ।

दुःस्वार्थत्वाद्दुरित्यस्य सर्वेषु चिरभाविता ॥

अनुशयिनामाकाशाद्यवस्थानं चिरभावि, अनुशय्यवस्था-

नत्वात्, ब्रीह्याद्यवस्थानवत् । न च 'अतो वै खलु दुष्प्र-  
पतरम्' इति ब्रीहिभावात्निर्गमस्य दुःशब्देन चिरभावित्व-  
श्रुतेः अर्थादितरेभ्योऽचिरान्निर्गमावगमात् श्रुतार्थापत्तिबाधि-  
तमनुमानमिति वाच्यम् ; 'अतो वै खलु' इत्यत्र अतःशब्देन  
प्रकृतानां सर्वेषां परामृष्टत्वेन सर्वेषु चिरावस्थानप्रतीतेः ;  
अपि च दुःशब्दोऽयमेकदेशलक्षणया दुःखमाह, न विल-  
म्बम् ; तस्य तत्राप्रसिद्धेः । न चैवं ब्रीह्याद्यवस्थानेऽपि चिर-  
त्वे मानाभावात् संदिग्धसाध्यता ; गिरितटदुर्गादिधृतधान्येषु  
रेतःसिग्भिरनद्यमानेषु अनुशयिनां यावद्ब्रीह्यादिभावित्वेन त-  
द्रूपरूपादिवच्चिरावस्थानसिद्धेः ॥

अत्र सिद्धान्तः—

दुःखं निषेत्स्यते सर्वनामाव्यवहितं वदेत् ।

तथा च नानुमोदेति श्रुतार्थापत्तिबाधिता ॥

अनन्तराधिकरणे अनुशयिनां दुःखभोगः प्रतिषेत्स्यते ;  
तथा च विलम्बपरो दुरुपसर्गः ; आकाशादीनां प्रकृतत्वा-  
विशेषेऽपि अतःशब्दः अनन्तरवाक्योक्तब्रीह्यादीन् परामृशति,  
न व्यवहिताकाशादीन् ; तथा च ब्रीहिभावचिरावस्थानश्रुता-  
र्थापत्तिबाधितमनुमानमिति ॥

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॥ ६ ॥

अस्मिन्नेवानुशयिनामवरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते 'त इह

ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' इति ; तत्र संशयः— किं स्थावरजात्यापन्ना भोक्तारोऽनुशयिनः, उत तत्संश्लेषमात्रभाज इति ; 'जायन्ते' इति श्रुतेः कर्मपूर्वकत्वश्रुतेश्च । पूर्वत्रान्यस्यान्यभावानुपपत्तेः वाय्वादिषु भवति-श्रुतेरुपचरितार्थत्वमुक्तम् ; अत्र तु चेतनेषु 'जायन्ते' इति शब्दस्य देहग्रहणे रूढत्वात् तस्य चाविरोधात्तदाशङ्क्यते । तत्र,

मुख्यार्थत्वाज्जनैर्यज्ञपशुहिंसाद्यधर्मतः ।

अवरोहन्त इष्टादिकृतः स्थावरतां ययुः ॥

मनुष्यो जायत इत्यादौ जनेः शरीरग्रहणे प्रसिद्धत्वाद्-त्रापि ब्रीहियवादिशरीरा एवानुशयिनः । न च 'रमणीयचरणाः' इत्यादिवत् कर्मविशेषासंकीर्तनं मुख्यार्थत्वबाधकम् ; तदसिद्धेः, इष्टादिसंकीर्तनात् ; इष्टादेश्च पशुहिंसादिनिषिद्धकर्ममिश्रितत्वेन स्वर्गभोगानन्तरं स्थावरशरीरभोग्यदुःखफलत्वस्याप्युपपत्तेः । न च 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति सामान्यशास्त्रस्य सामान्यद्वारेण विशेषस्पृशः साक्षाद्विशेषविषयविधेः 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यस्मादुर्बलत्वात् बाध इति सांप्रतम् ; न हि बलवदित्येव दुर्बलं बाधते, किंतु सति विरोधे ; न च इहास्ति विरोधः, क्रतुप्रकरणसमाम्नातो हि विधिः हिंसायाः क्रत्वर्थतामापादयति, न त्वपनुदति निषेधापादितामस्याः पुरुषं प्रत्यनर्थहेतुताम् । तस्मात्कर्मविशेषसंकीर्तनपूर्वकं स्थावरजन्मनिर्देशः 'रमणीयचरणाः' इत्यादाविव

देहग्रहणं गमयतीति प्राप्ते, अभिधीयते—

पुमर्थगोचरो हिंसां क्रत्वर्थी न निषेधति ।

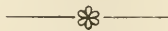
प्रतिषेधस्ततो दुःखं न भवेत्पशुहिंसया ॥

‘हिंस्यात्’ इत्याख्यातेन भावनावाचिना अर्थात्कर्तावगम्यते, तच्छेषश्च हिंसा समानपदश्रुत्यावगता ; तस्याश्च रागतः कर्तव्यत्वं प्रत्ययेनानूदितं तत्र निषिध्यते । एवं प्रतिषेधस्य रागप्राप्तहिंसाविषयत्वेन चरितार्थत्वे संभवति नाधिकारान्तरानुप्रविष्टक्रत्वर्थहिंसानुवादेन तन्निषेधकल्पनं युक्तम् ; गौरवात् । न चायं प्रतिषेधः क्रतुप्रकरणे श्रूयते, येन ‘नानृतं वदेत्’ इतिवत् क्रत्वर्थविषयः स्यात् ; अनारभ्याधीतो ह्ययम् । ततश्च हिंसाया अनिषिद्धत्वान्न अनर्थहेतुत्वम् ; तथा च अनुशयिनां ब्रीह्यादिजन्म न मुख्यम्, अस्मिन्प्रकरणे कर्मजन्यत्वमन्तरेण कीर्तितत्वे सत्यन्यस्य अन्यभावरूपत्वात्, आकाशादिभाववदिति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥



## द्वितीयः पादः ॥

—\*—

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

कर्मफलस्य यातायातरूपत्वेन वैराग्यं निरूपितम्; इदानीं  
विरक्तस्य तत्त्वंपदार्थविवेकाय द्वितीयः पाद आरभ्यते । तत्रापि,

न स्थानतोऽपीत्यस्मात्प्राक्त्वंपदार्थो विवेचितः ।

तत्पदार्थस्ततः पश्चाद्यावत्पादः समाप्यते ॥

यस्य जीवस्य जाग्रदवस्थायामिहलोकपरलोकसंचार उक्तः,  
तस्य स्वयंज्योतिष्वाय स्वप्राद्यवस्था प्रथमाधिकरणे परीक्ष्यते ।  
जाग्रदवस्थायां हि आदित्यादिसंकरादुर्विवेकं स्वयंज्योतिष्मम्;  
तत्र यदि स्वप्नोऽपि सत्यः स्यात्, तदवस्थं दुर्विवेकत्वमिति  
तन्मिथ्यात्वमुच्यते; मनस्तु स्वप्ने सदपि दृश्यत्वान्नात्मभा-  
सकम्; आदित्यादीनां दृश्यत्वाविशेषेऽपि स्वरूपतोऽप्यभाव-  
समर्थनादर्थवती चिन्ता । आरम्भणाधिकरणे सर्वविका-  
राणां परमार्थत्वाभाव उक्तः; इह तु स्वाप्नदृश्यानामर्थक्रिया-  
कारित्वरूपं सत्त्वमाशङ्क्य निरस्यत इति भेदः; तत्र स्वप्न-  
दृश्यं ब्रह्मसाक्षात्कारादर्वागवाध्यम्, उत वाध्यम्, इति रथा-  
दिसर्गान्नानात् रथाद्यभावान्नानाच्च संशयः । इह सर्वाण्येव  
मिथ्याज्ञानानि उदाहरणम्; न्यायस्य तुल्यत्वात् । स्वयंज्यो-

तिष्ठोपयोगितया तु स्वप्रज्ञानमुदाहृतम् । तत्र—

सम्यक्ख्याद्विमतं ज्ञानं ज्ञानत्वात्संमतं यथा ।

न बाधः कालभेदादेर्विभिन्नविषयत्वतः ॥

रजतमेव कालान्तरे शुक्त्याकारपरिणतं शुक्तिज्ञानविषय इति इदं रजतमिति ज्ञानस्य इयं शुक्तिरिति ज्ञानेन न बाधः; कालभेदेन भिन्नविषयत्वात् । एकं वा वस्तु अनेकात्मकं कदाचित्तीव्रातपग्लानिसहितनयनेन रजतरूपेण गृह्यते, आलोकमात्रसहकृतेन तु शुक्तिकारूपेण—इति ग्रहणसामग्रीभेदादविरोधः । अपि च, विरोधेऽपि बलवता दुर्बलं बाध्यम्, न चात्र बलाबलविनिगमनम्; द्वयोरपि ज्ञानयोः स्वगोचरचारितया समानत्वात्; एतेन स्वप्नो व्याख्यातः । भवति चात्र श्रुतिः—‘अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते’ इति; ‘न तत्र रथाः’ इति श्रुतिस्तु जाग्रदवस्थादर्शनयोग्य-रथाद्यभावपरा । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

नान्यकालेऽन्यथाभावो भ्रमकालेऽपि बाधतः ।

व्यात्मतायां तु शुक्तेः स्यात्कार्यं जातिद्वयोचितम् ॥

न तावद्रजतस्यैवोत्तरकालीनः परिणामः शुक्तिज्ञानगोचर इति युक्तम्; रजतमिदम् इति भ्रमगृहीतस्य तत्कालेऽपि निर्मललोचनेन पुरुषान्तरेण शुक्तित्वेन वेदनात्; नापि तदेव शुक्तिरजतात्मकम्, तथा सति शुक्तित्वरजतत्वप्रयुक्तकार्यद्वय-प्रसङ्गेन शुक्तिदाहेश्वारभावद्रवीभावयोरुपलम्भप्रसङ्गात् । यत्तु

बाध्यबाधकभावानिश्चय इति, तत्र ; पूर्वज्ञानस्योत्तरेण बाधात् रजतज्ञानात्प्राक् शुक्तिज्ञानस्याप्राप्तस्य तेन बाधानुपपत्तेः । ज्ञानयोः स्वगोचरचारित्वेऽपि शुक्तित्वरजतत्वयोः वर्णितेन प्रकारेण एकधर्म्यसमावेशे स्याद्विरोधः । एवं च भ्रमसम्यक्त्वानुमानं बाधकप्रत्ययेन कालातीतम् । एतेन स्वप्रप्रत्ययो मिथ्येति व्याख्यातः । न्यायानुभवसिद्धं तद्बाधनम् 'न तत्र रथाः' इति श्रुतिः अनूद्य आत्मनः स्वप्रकाशत्वं प्रतिपादयतीति । स्वप्रस्त्रीदर्शनादेः अस्ति व्यावहारिकं सत्त्वम्, नोपलब्धं स्यादि इति बाधानुपलम्भात् । युक्त्या तु मिथ्यात्वरूपितत्वेन तात्त्विकत्वं बाध्यते । अतस्तस्य सत्यशुभादिसूचनमर्थक्रिया न विरुध्यते ॥

**तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥**

‘तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः’ संहृतकरण इत्यर्थः ; अत एव ‘संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति’ इति श्रूयते ; तथान्यत्र ‘नाड्यः द्वासप्ततिसहस्राणि ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते’ इति नाडीपुरीतत्समुच्चय आम्नायते । तथा अन्यत्र च ‘तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति’ इति प्राणशब्दवाच्यस्य ब्रह्मणो नाडीनां च समुच्चयो निगद्यते । अन्यत्र च ‘य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते’ इति केवलं ब्रह्म सुषुप्तिस्थानं निगद्यते । तत्र— किं



नाड्यादि विकल्पेन सुषुप्तिस्थानम्, समुच्चयेन वेति संशयः ; प्रत्येकं सप्तमीश्रवणात्, ताभिः प्रत्यवसृप्य ' इत्यादिसमुच्चय-निर्देशाच्च । सत्यपि नाडीनां पुरीतद्वह्मभ्यां समुच्चयश्रवणे, विकल्पः कल्प्यते ; कदाचिन्नैरपेक्ष्येण नाडीनामाधारत्वात् ॥

जीवस्य स्वप्रभत्वाय स्वप्रमिथ्यात्वमीरितम् ।

अथास्य ब्रह्मभावाय सुप्तिः केति विचिन्त्यते ॥

तत्र—

प्रत्येकं सप्तमीश्रुत्या नैरपेक्ष्यप्रतीतितः ।

आधारत्वेन चैकार्थ्यान्नाड्यादीनां विकल्पनम् ॥

उत्तरम्—

समुच्चयं तु स्वीकृत्य विकल्पाश्रयणाद्वरम् ।

समुच्चयोऽस्तु सर्वत्र न विकल्पोऽष्टदोषतः ॥

न तावन्नैरपेक्ष्यं सप्तमीभिरवगमयितुं शक्यम् ; 'ताभिः प्रत्यवसृप्य' इत्यादिना सापेक्षत्वस्य श्रुतत्वात् । न च संभवति ; वस्तुतः परमात्मस्वभावस्य जीवस्यान्तःकरणोपाध्याश्रितस्य नाड्यादावाश्रितत्वासंभवात् ; इतरथा परममहत आधेयत्वायोगात् । तथा च सति मनसि स्वप्नवद्विशेषविज्ञानप्रसङ्गे सुषुप्तिव्याघातः । एतेन तुल्यार्थत्वं नाड्यादीनां निरस्तम् ; तेषां जीवोपाध्यन्तःकरणाधारत्वात् । जीवस्य ब्रह्मतादात्म्येन ब्रह्मण आधारत्वानुपपत्तेः । यद्यपि जीवः सुषुप्तावज्ञानोपहितः, तथापि तस्य परमार्थतो ब्रह्मात्मकत्वात् यावदुपाधि भेदकल्पना स्थूलसूक्ष्मोपाध्योश्च निवृत्तत्वात्तादात्म्यव्यपदेशः, अल्पो-

पाध्यवशेषात् तद्वाधिकानन्दाभिव्यक्तिश्च । एवं नानार्थत्वात् समुच्चयश्रुतेश्च तस्मिन्नवश्याश्रयितव्ये विकल्पनमनुपपन्नम् ; तस्याष्टदोषदृष्टत्वात्—नाडीं परित्यज्य पुरीतदायतनत्वेन कचित्सुषुप्तावाश्रिते नाडीवाक्यस्य प्रमितप्रामाण्यपरित्यागः, अप्रमिताप्रामाण्यस्वीकारः, पुनः सुषुप्त्यन्तरे नाडीनामाश्रयत्वाश्रयणे नाडीवाक्यस्य पूर्वस्वीकृताप्रामाण्यपरित्यागः, परित्यक्तप्रामाण्योपादानमिति नाडीवाक्ये चत्वारो दोषाः । एवं पुरीतद्वाक्ये चत्वारः— इत्यष्ट दोषाः । ब्रीहियवयोस्तु न समुच्चयश्रवणम्, न वानेकार्थत्वम्, क्रतुसाधनपुरोडाशप्रकृतित्वात् ; अतो गत्यन्तराभावान्नियमार्थतया सकलप्रयोगव्याप्तिबोधिकयोः ‘ब्रीहिभिः’ इति ‘यवैः’ इति च श्रुत्योरनुग्रहाय विकल्प आश्रित इति । सति चैवं नाडीषु पुरीतति च सप्तम्यौ सामीप्यपरतया नेतव्ये—प्रासादे शेते पर्यङ्के शेते इतिवत् । ब्रह्मणि तु सप्तमी तादात्म्यप्राप्त्यभिप्राया ॥

**स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ३ ॥**

सुषुप्त्यनन्तरं ब्रह्मसंप्रतिपत्तेः प्रतिबुध्यमानो जीवः किं यः संपन्नः स वा, अन्यो वेत्यनियमः, उत स एवेति संशयः । यः सुप्तः सोऽहं जागर्मि इति प्रत्यभिज्ञानात्, सुषुप्तावुपाधिप्रविलयाच्च ॥

आत्यन्तिकतयोत्सृष्टा सत्संपत्तिः पुरोदिता ।

अविद्याशेषतस्तस्या अपवाद इहोच्यते ॥

अथवा, 'अतः प्रबोधोऽस्मात्' इति सुषुप्त्यनन्तरं ब्रह्मणः प्रतिबोधश्रवणात् तदात्मनैव सुषुप्तस्तिष्ठतीत्युक्तम् ; तत्र ततः प्रबोधस्तत्संपत्तिं न गमयति सुषुप्तावन्यस्य प्रबोधसंभवेन सुषुप्तस्य नाडीपुरीततोरवस्थानसंभवादित्याक्षिप्यते ॥

उपाधिलयतो जीव एकतां ब्रह्मणा गतः ।

नास्त्येव तत उत्थानमुदविन्दुरिवाम्बुधेः ॥

यथा हि समुद्रे क्षिप्त उदविन्दुरुद्धर्तुं न शक्यते, तद्वच्चि-  
दम्बुधौ स्थूलसूक्ष्मशरीराद्यध्यासलयादेकीभूतो जीवः सुषुप्तौ ;  
पुनः प्रबोधे स एवोत्तिष्ठतीति दुःसंपादम् । अत्र च भ्रमा-  
तिरिक्तं भावरूपमज्ञानं नास्तीति मन्वानस्य पूर्वः पक्षः ॥

अथ राद्धान्तः—

सुप्तस्यैव प्रबुद्धत्वे कर्मादिभिरवस्थिते ।

अनाद्यविद्यावच्छेदः सुषुप्तावपि कल्प्यते ॥

पूर्वं सामिकृतस्य कर्मणः सुप्तोत्थितेन शेषानुष्ठानम्, यः  
सुप्तः सोऽहं जागर्मि इति प्रत्यभिज्ञानं च, नान्योत्थानेऽव-  
कल्पते ; 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा यद्यद्भवन्ति तदा भव-  
न्ति' इत्यादिश्रुतिश्च सुषुप्तस्यैवोत्थानं दर्शयति । अन्योत्थाने  
च कर्मविद्याविधिवैयर्थ्यम् ; सुषुप्तिमात्रेण मोक्षप्रसङ्गात् ; त-  
स्मात्सुप्त एवोत्तिष्ठति । एतच्चानाद्यविद्योपधानं जीवस्य कल्प-  
यति ; सुप्तावन्तःकरणविलयात् स्थूलशरीराध्यासस्य च तदा-

नीमभावात् ; श्रूयते च— ' सति संपद्य न विदुः ' इति सुषु-  
प्तावज्ञानम् ॥

**मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ ४ ॥**

मुग्धः सुप्तादन्यो न वेति संशयः ; विशेषविज्ञानरहितत्वा-  
त्, भयानकवदनत्वादिलक्षणभेदाच्च । पूर्वत्र सोऽहमिति प्रत्य-  
भिज्ञानात्सुषुप्तप्रतिबुद्धैक्यमुक्तम् ; तर्हि विशेषविज्ञानाभाव-  
प्रत्यभिज्ञानात्सुप्तिरेव मुग्धता ॥

विशेषज्ञानहीनत्वे पुनरुत्थानवत्त्वतः ।

मुग्धिः सुप्तिश्चिरोच्छ्वासाद्यवान्तरविभेदतः ॥

स्वप्नागारितयोरव्यभिचाराय विशेषज्ञानहीनत्वग्रहणम् ;  
मृतावनेकान्तवारणाय पुनरुत्थानवत्त्वम् । चिरोच्छ्वासवे-  
पथुप्रभृतयस्तु धर्माः सुप्तेरेवावान्तरभेदत्वात् मुग्धे उपपद्यन्ते—  
सुषुप्तेरिव अङ्गगौरवलाघवादिः । विशेषविज्ञानाभावो हि सु-  
षुप्तेरन्तरङ्गम्, ब्रह्मभावाभिव्यक्तिहेतुत्वात् ; अतस्तत्साम्यमे-  
वानुसर्तव्यमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

ब्रह्मभावाविशेषेऽपि लक्षणान्यत्वतो यथा ।

सुप्तेर्मृतेर्भिदा मुग्धेस्तथा लक्षणभेदतः ॥

यथा हि ' तेजः परस्यां देवतायाम् ' इति मृतौ लिङ्गश-  
रीरस्य ब्रह्मणि लयाभिधानात् जीवस्य ब्रह्मभावेऽपि पुनरु-  
त्थानरूपालक्षणभेदात्सुप्तेर्मरणस्य भेदः ; एवं मुग्धेरपि प्रसन्न-

वदनत्वादिलक्षणलक्षितात्सुप्तात् भयानकवदनत्वादिना भेदः;  
 अत एव अनुमानमपि प्रसन्नवदनत्वादिना सोपाधिकम्; मुग्धिः  
 सुप्तिर्न भवति, करालवदनत्वादिलक्षणत्वात्, क्रोधावस्थाव-  
 दिति उपाधिव्यतिरेकेण सत्प्रतिपक्षिता च । शरीरपातप्रयो-  
 जनत्वान्मोहस्य सत्येव मोहे शरीरपातात्, श्रमापनुत्त्यर्थत्वा-  
 त्स्वापस्य; मुसलपातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य, श्रमादिनिमित्त-  
 त्वात्स्वापस्य; विशेषविज्ञानाभावात् मोहस्वापाभेदानुमाने च  
 विशेषविज्ञानभावात् जाग्रत्स्वप्रयोरभेदापातः; सुप्तस्याप्यङ्ग-  
 लाघवाद्यवान्तरभेदेऽपि निमित्तप्रयोजनलक्षणाभेदैर्बहुभिरभे-  
 दः । यदा तु मुग्धिः सुप्तेर्भिन्ना, तदा समाधौ पृथक्कृत्यः  
 परिभावनीयः, न चेन्न— इति चिन्ताप्रयोजनम् ॥

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं

सर्वत्र हि ॥ ५ ॥

येन ब्रह्मणा जीवः सुप्तिमुग्धाद्यवस्थासु तादात्म्यं प्राप्नोति,  
 तत् सविशेषं निर्विशेषं चेत्युभयरूपम्, उत निर्विशेषमेवेति  
 संशयः; 'सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्यादिश्रुतेः, 'अस्थूलम्'  
 'नेति नेति' इत्यादिश्रुतेश्च । तत्र—

उपाधिजस्य सत्यत्वमप्रामाण्यं यथा दृशः ।

निर्विशेषं ततो ब्रह्म सविशेषमुपाधितः ॥

ब्रह्मणि सविशेषत्वनिर्विशेषत्वयोः श्रवणादुभयरूपत्वं यु-

क्तम्, तत्राप्यनयोर्भावाभावरूपयोर्विरोधात् सविशेषत्वमुपाधितः, विशेषस्योपाधिमन्तरेणानिरूपणात्; न च यत्परतस्तदसत्यम्, न हि चक्षुषः स्वतः प्रमाकरणस्य दोषोपाधिकमप्रमाकरणत्वमवास्तवम्, भ्रमलक्षणकार्यानुत्पादप्रसङ्गात्; यद्यपि स्फटिकलौहित्यादिकम् औपाधिकं मिथ्यापि दृश्यते, तथापि न ब्रह्मण्यौपाधिकं रूपं तथाविधम्; श्रुतिप्रमितत्वात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

परिणामाद्धि वस्तूनां स्वभावादन्यरूपता ।

न भेदादिविकल्पान्सा सहेतेति मृषा मता ॥

तथाहि वस्तुनो रूपान्तरापत्तिः परिणामाद्वा विवर्ताद्वा, न तावदौपाधिकरूपान्तरापत्तिर्वास्तवी सती विवर्तो भवितुमर्हति, परिणामस्तु स्यात्; परिणामोऽपि वस्तुनः सर्वात्मना एकदेशेन वा; आद्ये अनवशेषेण पूर्वरूपे निवृत्ते न तस्य परिणामः; द्वितीये स एकदेशस्तस्माद्भिन्नश्चेत् न वस्तुनः परिणामः, न ह्यन्यस्मिन्परिणममाने अन्यः परिणमते, अभेदे सर्वात्मना परिणामापातः; भिन्नाभिन्न एकदेशो वस्तुत इति चेत्, न, भेदस्याभेदविरोधित्वात्, अविरोधे एकदेशस्यैकदेशिमात्रत्वं स्यात्, भेदस्याभेदे सत्यपि अविरोधात् तस्यैव सर्वात्मना परिणामापत्तेः; एतेन चक्षुरादिप्रमाणानां दोषापादितं रूपं सत्यमिति निरस्तम्; तस्यापि विचारासहत्वेनावस्तवत्वात् । ब्रह्मसप्रपञ्चत्वश्रुतिविरुद्धा एते तर्का इति चेत्,

न, द्विधा हि वेदान्तानां प्रवृत्तिः— वस्तुप्रकाशनेन, उपासनाविधानेन च; वस्तुज्ञापनमपि द्विधा— परप्रतिषेधेन, विधिमुखेन च; यथा— ‘नेति नेति’ ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्’ इति । तत्र ये निषेधाधिकारपठिताः प्रपञ्चाः— ‘द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्ते चामूर्ते च’ इत्यादयः, ते सृष्टिवाक्यैर्ब्रह्मसंबन्धित्वेनारोपिताः प्रतिषेधायानूद्यन्ते; ये तु विधिमुखप्रतिपादनप्रकरणपठिताः, ते ‘सत्यं ज्ञानमनन्तम्’ ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्’ इत्यादिशब्दैः प्रतिपिपादयिषिताद्वैतप्रमित्यर्थं कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्मव्यतिरेकेण अभावाय ब्रह्मकार्यत्वेन निर्दिश्यन्ते—‘आत्मन आकाशः संभूतः’ ‘तत्तेजोऽसृजत’ इत्यादिभिः । ये पुनः ‘स क्रतुं कुर्वीत’ इत्याद्युपासनाप्रकरणे ‘मनोमयः प्राणशरीरः’ इत्यादिभिः प्रपञ्चा अभिधीयन्ते, ते उपासनाविध्यर्थत्वात्तद्वाक्यानां न ब्रह्मणः सप्रपञ्चतामावहन्ति; अन्यपरादपि शब्दात्प्रतीतं तथेत्याश्रयिष्यते, यदि न प्रमाणान्तरैः प्रतिषेधयिष्यते; सन्ति च ‘नेह नानास्ति किञ्चन’ इत्याद्या द्वैतवाधिन्यः श्रुतयस्तत्पराः; अद्वैतस्य मानान्तरानवगम्यमानत्वात् निर्दुःखपरमानन्दत्वेन पुरुषार्थत्वाच्च तत्प्रतिपादकश्रुतीनां तत्परत्वम्; द्वैतस्य तु लोकसिद्धत्वात् अपुमर्थत्वाच्च तद्वाक्यानामतत्परत्वमिति । तस्मान्मायामयी सप्रपञ्चता, निष्प्रपञ्चता तु तात्त्विकीति सिद्धम् ॥



तस्य सदेकस्वभावस्य निर्वचनीयत्वात् । नापि प्रमाणान्तरात् ; समन्वयसूत्रादिषु तन्निषेधात् । न च शब्दसंप्राप्तस्य निषेधः ; शब्दस्यानधिगतगोचरत्वेन तत्परस्य तत्र प्रमाणत्वेन तद्विरोधे निषेधायोगात् ; न च निषेधस्यापि शाब्दत्वेन भावाभावयोस्तुल्यप्रमाणकत्वेन विकल्पः ; वस्तुनि सिद्धस्वभावे तदयोगात् । न च बाङ्मनसागोचरत्वेन प्रतिषेधयोग्यत्वाद्ब्रह्मणः प्रतिषेधः ; तथा सति अबुद्धिस्थस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् लक्षणया बुद्धिसंनिधाने तन्निषेधः प्रमाणबाधित इत्युक्तम् ; तस्मादविद्यासिद्धप्रपञ्च एवानूद्य प्रतिषिध्यते ॥

**परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यप-  
देशेभ्यः ॥ ७ ॥**

‘आत्मा सेतुः’ ‘ब्रह्म चतुष्पात्’ ‘सता सोम्य तदा संपन्नो भवति’ ‘अन्तरादित्ये पुरुषः’ इत्यादिश्रुतिभिः सेतुपरिमाणसंबन्धभेदविषयाभिः ब्रह्मव्यतिरिक्तमस्तीति गम्यते ; ‘यस्मात्परं नापरमस्ति’ इत्यादिना च नास्तीति ; शुभ्वाद्यधिकरणे हि सेतुशब्दस्य पूर्वपक्षेऽप्यमुख्यार्थत्वात् विधरणवत्त्वमर्थ आश्रितः, इह तु उन्मानादिव्यपदेशानां मुख्यार्थलाभः पूर्वपक्षे, अतस्तेषां समाधानाय पुनरारम्भः । पूर्वत्र प्रतिषेधात्, अन्यत्र ब्रह्मणः श्रुत्या उक्तत्वात्, अस्ति ब्रह्मेत्युक्तम् ; तर्हि ब्रह्मव्यतिरिक्तमप्यस्ति, श्रुत्युक्तत्वात्—



सेतुत्वान्मानवत्त्वाच्च संबन्धाद्भेदवत्त्वतः ।

ब्रह्मातिरिक्तमप्यस्ति निषेधो दुर्बलो विधेः ॥

ब्रह्म कुतश्चिद्व्यतिरिक्तम्, सेतुत्वात्, परिमितत्वात्, संबन्धवत्त्वात्, आधेयवत्त्वात्, संमतसेतुवत्; न च 'यस्मात्परं नास्ति' इति निषेधान् ब्रह्मव्यतिरिक्ताभावः; तस्य प्रसक्तिसापेक्षस्य विधेर्दुर्बलत्वात् । अत एव पूर्वाधिकरणे श्रुतिसिद्धब्रह्मणः श्रुत्या निषेधायोगवत्, श्रुतिसिद्धब्रह्मातिरिक्तवस्तुनः श्रुत्या न निषेध इति संगतिरप्यन्या संपद्यते; निषेधस्तु ब्रह्मस्तुत्यर्थ इति प्राप्ते, अभिधीयते—

धारणात्सेतुतोन्मानमुपास्तेर्भेदसंगती ।

उपाध्युद्भवनाशाभ्यां तत्परान्यनिषेधतः ॥

प्रत्यक्षे ह्यन्यप्रतिषेधे सति न सेतुत्वनिर्देशसामर्थ्यादन्यकल्पनं युक्तम्; ततश्च जगद्धारकत्वं सेतुत्वम्, तत्परनिषेधविरोधादेवोपाधिकृतम्; तदुन्मानमुपास्तिपरवाक्यैरभिहितम्; आधाराधेयभावेन भेदश्च उपाधिकृतो ध्यानार्थमारोपितः; उपाधिनाशादुपहितजीवस्य ब्रह्मतादात्म्यं संबन्धः 'स्वमपीतः' इत्युक्तः । न च प्रतिषेधस्य प्राप्तेर्दौर्बल्यम्; प्रत्यक्षत्वतत्परत्वाभ्यां प्राबल्यस्य वर्णितत्वात्, तत्प्रतिषेधस्य चानारोपितत्वात् । अत्रोक्तोन्मानाधारादिनिर्देशगमनिकां सिद्धवत्कृत्य 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इत्याद्यधिकरणप्रवृत्तिः, अन्यत्र चान्वान्तरसूत्रेष्वनुवाद इत्यवधातव्यम् ॥

## फलमत उपपत्तेः ॥ ८ ॥

एवं तत्पदलक्ष्यं निरूप्य इदानीं तत्पदवाच्य ईश्वरो निरूप्यते; तदर्थं च स्वर्गादीनि फलानि किं कर्मभिरेव भवन्ति, उत कर्मभिराराधितादीश्वरादिति संशयः, विधिश्रुतिभिः 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' इत्यादिश्रुतिभिश्च । ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्तुनि निषिद्धे फलदातृत्वमपि ब्रह्मणा न स्यात् इत्याशङ्क्य व्यवहारतस्तत्समर्प्यते ॥

तत्र—

साक्षाद्भाव्यं स्वशब्दस्थं यागं मुक्त्वापि भावना ।  
स्वर्गं व्यवहितं भाव्यमुद्दिशेद्विधिगोचरम् ॥

अनुष्ठातुरपेक्षितोपायता हि विध्यर्थः । अनुष्ठातृग्रहणं चन्द्रोदयादिव्यावृत्त्यर्थम्, तस्य सिद्धत्वेन अनुष्ठातुः फलसाधनत्वायोगात्; ततश्च तादृगर्थविधिविधेयभावना समानपदोपात्तत्वात्संनिहितपूर्वप्रतीतं साक्षाद्भावनाभाव्यमपि धात्वर्थं नोद्देश्यतया गृह्णाति, तस्य दुःखरूपत्वात्, भावनायाश्च विधिना इष्टसाधनत्वबोधनात्; स्वर्गादिकं तु प्रीत्यात्मकतया ज्ञातत्वात्, भावनातः प्रागेव कामनोपनिबद्धत्वात्; उद्देश्यत्वयोग्यं नामपदाभिहितत्वेन व्यवहितमपि साक्षाद्भावनानुपायमपि पुरुषविशेषणमपि गृह्णात्युद्देश्यम्; योग्यतायाः पदार्थान्वये परमकारणत्वात् । न चैकस्मिन्वाक्ये धात्वर्थस्य स्वर्गस्य

च साध्ययोरन्वयानुपपत्तिः ; फलोद्देशप्रवृत्तभावनाभाव्यत्वात्  
 धात्वर्थस्य फलकरणत्वेन निवेशात्, भावनोद्देश्यतया साध्य-  
 त्वाच्च स्वर्गस्य, द्वयोः समप्राधान्याभावेन वाक्यभेदानापत्तेः ।  
 न च क्षणिकस्य कर्मणः कालान्तरभाविनि फले करणत्वायो-  
 ग्यत्वात्, यागकरणकफलभावनाविध्यसंभवः ; कर्मणोऽवा-  
 न्तरव्यापारतया अपूर्वकल्पनात् । न चापूर्वकल्पनया योग्यता-  
 वधारणे अन्वयप्रतीतिः, अन्वयप्रतीत्या अपूर्वकल्पना—इति पर-  
 स्पराश्रयत्वम् ; अवान्तरव्यापारद्वारा फलजनकस्य तैलपाना-  
 देर्लोकेऽपि दर्शनेन यागस्यापि तद्भावस्य प्रथममेव कल्प्यत्वा-  
 त् । न च व्यापारवत्यसति न व्यापार इति युक्तम् ; असत्यपि  
 तैलपाने, तत्साध्यपुष्टिक्रियावत्— तत्परिणामविशेषावान्तर-  
 व्यापारावस्थानात् । तस्मात् कर्मण एव फलम्, नेश्वरादिति  
 प्राप्ते, अभिधीयते—

अचेतनात्फलासूतेः पूजितेश्वरतोषतः ।

कालान्तरे फलोत्पत्तेर्नापूर्वपरिकल्पना ॥

न तावदचेतनमपूर्वं चेतनानधिष्ठितं फलं प्रसूते । अतस्त-  
 दुपाययागादिज्ञानपूर्वकमधिष्ठात्रा परमेश्वरेण भवितव्यम् ।  
 सति च तस्मिन्देवतापूजात्मकयागाराधितपरमेश्वरप्रसादात्  
 स्थायिनः कालान्तरीयफलोदयसंभवे न अपूर्वं कल्प्यम् । ईश्व-  
 रस्तु न केवलं कल्प्यते, 'एष ह्येव—' इत्यादिश्रुतिप्रमितश्च ।  
 राजसेव्येव चेश्वराराधनात् फलजन्म दृष्टानुगुणम् । राजपू-

जायां तदमात्याद्याराधनोपयोगवच्च परमेश्वराराधने तदङ्गारा-  
धनरूपाः समिदादय उपयुज्यन्ते ॥

तस्माद्दृष्टाविरोधेन देवताराधनात्फलम् ।

न त्वपूर्वात्कर्मणो वा केवलात्तद्विरोधतः ॥

निषेधातिक्रमकृतेश्वरकोपाच्च नरकाद्युत्पत्तिः । ईश्वरप्रसा-  
दाच्च जीवस्याप्यपवर्ग इति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥



## तृतीयः पादः ॥

—\*—

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

द्वितीये पादे तत्त्वंपदार्थो परिशोधितो ; इदानीमपुनरुक्ता-  
काङ्क्षितपदार्थोपसंहारेण सगुणनिर्गुणब्रह्मवाक्यानामर्थोऽव-  
धार्यते । सगुणवाक्यार्थचिन्ता तु तद्विद्यानां सत्त्वशुद्धिद्वारा  
निर्गुणविद्योपयोगात् । पदार्थोपसंहारानुपसंहाराभ्यां वाक्या-  
र्थावधारणपूर्वकमुपास्त्यर्था च सगुणविद्यासु भेदाभेदचिन्ता ।  
निर्गुणविद्यायां तु वेद्याभेदाद्विद्यैक्यं सिद्धमेवेति तत्र विचा-  
र्यते । गुणोपसंहारस्तु ‘आनन्दादयः—’ इत्याद्यधिकरणै-  
र्लक्ष्याखण्डवाक्यार्थसिद्धयर्थं वाक्यार्थोपसंहाररूपो वर्णयि-  
ष्यते ॥

आद्यमधिकरणं वर्ण्यते— प्रतिशाखं वेदान्तेषु उपासना-  
नि भिन्नानि, उताभिन्नानीति संशयः ; नामादिभेदात्, फल-  
संयोगाद्यैक्याच्च । तत्र—

नामरूपविभागेन धर्मभेदादसंनिधेः ।

अभ्यासाशक्तितालिङ्गसमाप्तिभ्यो धियां भिदा ॥

‘नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाशक्तिसमाप्तिवचनप्राय-

श्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरे कर्मभेदः स्यात्' इति शाखा-  
 न्तराधिकरणपूर्वपक्षसूत्रम् । तत्र नामभेदात्कर्मभेदः—'अथैष  
 ज्योतिः अथैष सर्वज्योतिः एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत'  
 इत्यत्र प्रकृतज्योतिष्टोमस्य 'ज्योतिः' इति नामैकदेशेनानूदि-  
 तस्य सहस्रदक्षिणागुणविधिरित्याशङ्क्य, संज्ञान्तरात्कर्म-  
 भेदप्रतीतिः सति संभवे च लक्षणाया अयोगात्, सहस्रदक्षि-  
 णागुणकं कर्मान्यदिति वर्णितम् । एवमुपासनेष्वपि वेदान्त-  
 विहितेषु, तैत्तिरीयकम्, वाजसनेयकम्, काठकमित्यादिनाम-  
 भिर्भेदः; न च ग्रन्थनामत्वम्, विद्यायामपि प्रयोगात्; न  
 च ग्रन्थे मुख्यस्य ज्ञाने गौणत्वम्, वैपरीत्यस्यापि संभवात्;  
 कठादिप्रणयनं तु ग्रन्थवज्ज्ञानेऽपि संभवति । तथा रूपभे-  
 दः गुणभेदः; सोऽपि कर्मभेदस्य ज्ञापकः— यथा 'वैश्व-  
 देव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इति । अत्र वाजिपदेन  
 वाजम् अन्नम् आमिक्षा येषाम्, तं वाजिन इति विश्वान्दे-  
 वान् विश्वेदेवपदसंनिहितानुपलक्ष्य तदुद्देशेन वाक्यद्वयेन  
 द्रव्यद्वययुक्तमेकं कर्म विधीयत इति प्राप्ते, उच्यते— 'वै-  
 श्वदेवी' इति तद्धितश्रुत्या द्रव्यदेवतासंबन्धानुमितो यागो  
 विहितः, तत उत्पत्तिशिष्टामिक्षावरुद्धे कर्मणि दुर्बलेन वाक्येन  
 वाजिनविधानासंभवात् द्रव्यदेवतान्तरविशिष्टं कर्मान्तरं वि-  
 धीयत इति । तद्वत्—एकेषामग्नीषोमीय एकादशकपालः अन्ये-  
 षां द्वादशकपालः; एकत्रोत्पत्तौ वक्तव्यायाम् अन्यत्रोत्पत्तिशि-  
 ष्टगुणावरुद्धे कर्मणि गुणान्तरविध्यसंभवाद्वाजिवत्कर्मभेदः;

एवमिहापि पञ्चाग्निविद्यायाः षडग्निविद्या भिन्ना । छन्दांगा हि पठन्ति— ‘पञ्चाग्नीन्वेद’ इति । वाजसनेयिनस्तु षष्ठमग्निमामनन्ति— ‘तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समित्’ इत्यादिना । तथा धर्मभेदोऽपि कर्मभेदहेतुराशङ्कितः— यथा तैत्तिरीयाणां कारीर्यध्ययने भूभोजनम्, नान्येषाम्; एवमाथ र्वणिकानां मुण्डकाध्ययने शिरोव्रतम्, नान्येषां तत्तदुपनिषदध्ययने इति तत्र विद्यान्यत्वम् । न च तान्येव कर्माणि भूभोजनादिजनितमुपकारमाकाङ्क्षन्ति नाकाङ्क्षन्ति चेति संभवति । एकादशकपालत्वादि करणशरीरनिष्पादकत्वात्कर्मणो रूपम्, भूभोजनादिस्तु इतिकर्तव्यतेति भेदः । तथा असंनिधानाच्च कौण्डपायिनामयने कर्मणि ‘मासमग्निहोत्रं जुह्वति’ इत्यग्निहोत्रशब्देन नित्याग्निहोत्रानुवादेन मासगुणो विधीयत इत्याशङ्क्य, साध्यत्वेन विहितस्य सिद्धबोधकेन नाम्ना अनुवादायोगात् असंनिधानाच्च मासगुणविशिष्टकर्मन्तरविधिः । एवं कर्मणां विद्यानां च शाखान्तरेष्वसंनिधानाद्भेदः । एवम् ‘समिधो यजति’ इत्यादिना पञ्चकृत्वः ‘यजति’ इत्यभ्यासे धात्वर्थैक्यात्प्रथमेन भावनाविधानम्, उपरि तदनुवादः, अभ्यासस्तु आदरार्थ इत्याशङ्क्य, अङ्गाङ्गिभावाद्यापन्नवस्तुविषयत्वाभावाद्वाक्यानां क्रमानाकाङ्क्षत्वेन, पाठेन तन्नियमायोगेन एकस्यापि वाक्यस्य प्राथम्याभावाद्युपपत्पाठासंभवकारितत्वाच्च क्रमपाठस्य, क विधिः क चानुवाद इत्यनिश्चयात्सर्वत्र विधिः; ततश्चाभ्यासात्कर्मभेदे तदनुवद्ध-

भावनाभेदः । एवं शाखान्तरेऽभ्यासात्कर्मणां विद्यानां च भेदः । तथा 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् । दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्' इत्यनुदितहोमनिन्दा, 'यथातिथये प्रद्रुता-यात्रमाहरेयुस्तादृक्तद्यदुदिते जुहोति' इत्युदितहोमनिन्दा; तयोरेकत्र विरोधः । कर्मभेदे तु यदनुदितहोमं कर्म तदुदिते न समृद्धम् इतरदनुदिते इत्यविरोधः । विकल्पाश्रयणेन निन्दो-पपत्तिमाशङ्क्य, प्रायश्चित्तोदाहरणम्; वैकल्पिकेषु ह्युभयथा-प्यवैगुण्यम्; अत्र तु प्रायश्चित्तविधानादुभयत्रापि वैगुण्यमिति न विकल्प इति । न हि निन्दा निन्द्यं निषेद्धुं प्रयुज्यते; अपि तु निन्दितादितरत्प्रशंसितुम्; अतश्च कालयोरेकस्मि-न्कर्मणि विकल्पः, उदितहोममनुदितहोमं वा प्रक्रम्य तद-तिक्रमे प्रायश्चित्तम् । तच्च कर्मैकत्वेऽपि अविरुद्धमिति परिहारः । निन्दाप्रायश्चित्ते च कर्मण्येव, न विद्याया-म् । अशक्तेश्च— न ह्येकः सर्वशाखागतान्गुणानुपसंहर्तुं शक्नोति; सर्वशाखानामध्ययनाभावात् । अनधीतार्थोपसं-हारे अध्ययनानर्थक्यम्; तच्च प्रतिशाखं कर्मणां विद्यानां च भेदः । समाप्तिभेदाच्च— मैत्रायणीयानाम् अन्वारोहसं-ज्ञकेषु स्थलारोहणमन्त्रेषु अग्निः समाप्यते, अन्यत्रान्येषाम्; ततः कर्मभेदः । एवम् ओंकारसार्वात्म्यकथनसमाप्तौ केषां-चिद्विद्यासमाप्तिः अन्यत्त्वान्येषामिति विद्याभेदः । लिङ्गदर्श-नान्— द्वादशाहे श्रूयते— 'यदि पुरा दिदीक्षाणाः' दीक्षि-



तवन्तः इत्यर्थः— ततः पूर्वदीक्षायां रथंतरस्य प्रयुक्तत्वात्  
 बृहत्सामानमतिरान्नमुपेयुः, यद्यदिदीक्षाणास्ततो रथंतरसा-  
 मानमुपेयुः— इति ; अत्र द्वादशाहाधिकारिणो अनिष्टप्रथमय-  
 ज्ञत्वं ज्योतिष्टोमभेदेऽवकल्पते । ताण्डिके हि श्रूयते— ‘एष  
 वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः, य एतेनानिष्ट्वा  
 अन्येन यजेत गर्तपत्यमेव तत्’ इति ; अनेन ज्योतिष्टो-  
 मपूर्वक एव सर्वयज्ञेष्वधिकारो दर्शितः ; ततोऽन्योऽप्य-  
 स्ति ज्योतिष्टोमो यद्रहितस्य द्वादशाहाधिकार इति ।  
 एवम् ‘नैतदचीर्णव्रतोऽधीते’ इति मुण्डके अचीर्णशिरोव्रत-  
 स्याध्ययननिषेधलिङ्गात् विद्या नास्तीति गम्यते । क्वचिच्छा-  
 खायां अचीर्णव्रतस्याप्यध्ययनदर्शनाद्विद्यास्तीति । धर्मविशेषे  
 तु एकैव विद्या स्वस्याः फलकरणत्वे शिरोव्रतमितिकर्तव्यता-  
 त्वेनापेक्षते नापेक्षत इति विरोध उक्तः, लिङ्गदर्शने तु इष्टप्र-  
 थमयज्ञत्ववच्छिरोव्रतस्याधिकारहेतुत्वात् तद्वतः फलकरणम्,  
 अतद्वतः अन्यशाखिनोऽपि फलकरणमिति विरोध इति वि-  
 शेषः । तस्मात्कर्मवच्छाखान्तरेषु विद्यान्यत्वे प्राप्ते, अभि-  
 धीयते—

फलसंयोगरूपाख्याचोद्ययन्नाविशेषतः ।

कर्मणामिव विद्यानां शाखान्यत्वेऽप्यभिन्नता ॥

यथा ज्योतिष्टोमाग्निहोत्रादेः सर्वशाखास्वेकस्वर्गफलसंयो-  
 गः, एवं प्राणविद्यादेर्ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वादिगुणवत्प्राणादिप्राप्तिः

फलं सर्वशाखास्वविशिष्टम् । रूपमपि यथा कर्मणो द्रव्यदे-  
 वतं सर्वत्राविशिष्टम्, एवं विद्यानामपि वेद्यं प्राणादि तत्त-  
 द्गुणविशिष्टमविशिष्टं सर्वत्र । आख्या च अग्निहोत्रमित्यादि-  
 वत् प्राणविद्येत्यादिका समाना । यथा देवतोद्देशेन द्रव्य-  
 त्यागस्य यागस्य, तस्यैव प्रक्षेपाधिकस्य होमस्य अवच्छेद्यप्रयत्नो  
 यादृश एकत्र चोच्यते— ‘यजति’ ‘जुहोति’ इति, स एवा-  
 न्यत्र । एवं प्राणादिज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वविषयवेदनावच्छिन्नपुरुष-  
 प्रयत्नो यादृश एकत्र, तादृश एव सर्वत्र विधीयते— ‘यो  
 ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद’ इति; तस्मात्सर्वत्र विद्यैक्यम् ।  
 यत्तु नामादिभेदाद्भेद इति, तन्न, ‘आख्या प्रवचनात्’ इति स्मर-  
 णात् कठादिप्रवचननिमित्तानां काठकादिसंज्ञानां ग्रन्थविषय-  
 त्वात् प्रवचनस्य ग्रन्थविषयत्वेन विद्यास्वसंभवात् । कठाद्य-  
 नुष्ठानस्य च विद्यासु इतरानुष्ठानादविशेषात्; अतश्च ग्र-  
 न्थसमाख्यानां विद्यासु लाक्षणिकः प्रयोगः । द्वादशैका-  
 दशकपालत्वयोः एकस्मिन्नग्नीषोमीये उत्पत्तिशिष्टत्वेन तुल्य-  
 त्वाद्विकल्प इति न कर्मभेदः । पञ्चाग्निविद्यायां तु  
 पञ्चैव सांपादिकाग्रयः वाजसनेयिनामपि छन्दोगानामिव ।  
 षष्ठस्त्वग्निः संपाद्यत्वाभावायानूद्यते, न तु विधीयते ।  
 वैश्वदेव्यां तु उत्पत्तावामिक्षा विधीयमानां वाजिनमनव-  
 काशयतीति गुणान्तरात्कर्मभेद इति । तथा धर्मविशेषोऽपि ।  
 ‘शिरोव्रतं वेदव्रतेन व्याख्यातम्’ इति वचनात् व्रतस्य ग्रन्थ-  
 बन्धः । ततश्च यैराथर्वणिकग्रन्थद्वारा विद्याधिगन्तव्या, तेषा-

मेव शिरोव्रतपूर्वकाध्ययनप्राप्तग्रन्थबोधिता विद्या फलं प्रयच्छति ; अन्येषां तु छन्दोगादीनामचीर्णशिरोव्रतानामपि फलप्रदा । एतेन 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' इति लिङ्गदर्शनमपि व्याख्येयम्— अध्ययनाधिकारहेतुराथर्वणिकानामेव शिरोव्रतम् ; अतश्च तेषां तद्वाराधीतविद्या फलप्रदा, अन्येषामचीर्णव्रतानामपि स्वशाखाजन्यविद्या सैव फलप्रदा इति । 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' इत्यत्रापि प्रकृतग्रन्थजन्यत्वोपहितविद्यासंबन्धः, वचनान्तरेऽध्ययनसंबन्धस्य स्फुटत्वात् । तत्तद्रूपविशिष्टविद्यायाः शाखान्तरे प्रत्यभिज्ञया संनिधानादसंनिधिरसिद्धः । पुनरुक्तावपि समिदाद्यभ्यासस्य कर्मभेदकत्वम्, एकस्यां विहितस्य विधिवैयर्थ्येन औत्सर्गिकस्याज्ञातज्ञापनाप्रवृत्तप्रवर्तनरूपविधित्वस्य कोपप्रसङ्गात् । शाखान्तरे तु अध्येतृभेदात्कर्मैकत्वेऽपि नौत्सर्गिकविधित्वकोप इति । अशक्तिरपि न विद्याभेदहेतुः ; शाखान्तरगतार्थानां तदध्येतृभ्योऽधिगम्य उपसंहर्तुं शक्तेः । न चाध्ययनवैयर्थ्यम् ; 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति स्वाध्यायशब्देन स्वशाखाध्ययनस्यैव नियमितत्वेन परशाखास्वध्ययनानपेक्षणादिति । समाप्तिश्च कर्मण्यसमाप्तेऽपि तत्संबन्धिनि पदार्थे तच्छाखावगम्ये समाप्ते व्यपदिश्यते— यथा यजुर्वेदे आध्वर्यवे कर्मणि समाप्ते ज्योतिष्टोमस्य समाप्तिव्यपदेशः । न हि तावता तत्समाप्तिः, वेदान्तरगतस्तोत्रशस्त्रादेः सद्भावादिति । यत्तु कर्मभेदे लिङ्गदर्शनम्, तत् द्वादशाहेन दी-

क्षितविषयम् । ये द्वादशाहेन दीक्षितास्ते बृहत्सामानम-  
तिरात्रमुपेयुः, द्वादशाहेनादीक्षितास्तु रथंतरसामानमिति ।  
ततश्च सर्वयज्ञान्प्रति ज्योतिष्टोमस्य प्राथम्यसंभवात् न ज्यो-  
तिष्टोमभेद इति ॥

### उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्स-

माने च ॥ २ ॥

एकविद्यागता गुणाः शाखान्तरेऽनधीतास्तस्यामेव विद्या-  
यामुपसंहर्तव्या न वेति संशयः; विधैक्याच्छाखान्तरेऽना-  
म्नानाञ्च । पूर्वनिरूपितविधैक्यस्य प्रयोजनभूतगुणोपसंहार-  
निरूपणात्संगतिः । तत्र—

विध्यभावाद्विधेयत्वे सति कोपात्क्रमस्य च ।

शाखान्तरोक्तधर्माणां नान्यशाखासु संहतिः ॥

भवतु सर्वशाखाप्रत्ययमेकं विज्ञानम्, तथापि शाखान्त-  
रोक्तानां गुणानां न शाखान्तरोक्ते तस्मिन्नुपसंहारः; तत्र  
तेषामश्रुतत्वात् । साकाङ्क्षस्य हि प्रयोगविधेर्नानुष्ठापकत्वमिति  
सर्वस्याङ्गजातस्य सर्वशाखासु श्रोतव्यत्वे सति अश्रवणात्  
यावन्मात्रमेकस्यां शाखायां विहितमङ्गजातं तावन्मात्रेण वि-  
द्याया उपकारसिद्धेरधिकानपेक्षा । अधिकगुणोपसंहारे च  
श्रुतगुणक्रमभङ्गप्रसङ्गः । यथैकस्यां शाण्डिल्यविद्यायाम्  
'मनोमयः पुरुषो भारूपः सत्यः' इति वाजसनेयके, छान्दोग्ये

तु 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' इति । न च तस्यामेव विद्यायां शाखान्तरे श्रुतस्य कस्यचिदङ्गस्याननुष्ठाने अखण्ड-  
 करणोपकारासिद्धेरनुपकृता विद्या स्यादिति युक्तम्; सकला-  
 ङ्गवति विहितेऽपि नित्यकर्मण्यशक्तौ यावच्छक्यमङ्गमनुष्ठातु-  
 म्; तावन्मात्रेणाप्युपकारपरिपूर्तिदर्शनात् । गृहमेधीये च  
 विकृतौ अतिदेशात् सर्वाङ्गप्राप्तावपि 'आज्यभागौ यजति'  
 इति पुनर्विधानादाज्यभागाभ्यामेव सकलाङ्गसाध्योपकारासि-  
 द्धेरिष्टत्वात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

वाक्यात्क्रमस्य दौर्बल्यात्काम्ये सर्वाङ्गसंहतेः ।

अप्राप्ताङ्गविधेर्विद्या सर्वैरङ्गैः प्रयुज्यते ॥

एकस्यां शाखायां विद्याङ्गत्वेन विधीयमाना गुणा गुणि-  
 द्वारेण वाक्याच्छाखान्तरेऽपि गच्छन्तो न क्रमकोपभयेन  
 त्यक्तुं युज्यन्ते, क्रमस्य वाक्याहुर्बलत्वात् । नित्ये तु यावज्जी-  
 वादिनियतनिमित्तवशात् प्रधानस्यावश्यकर्तव्यत्वमवगतम्;  
 सर्वाङ्गोपसंहारश्च सर्वदा पुंसामशक्यः; ततश्च शक्यमात्राङ्गा-  
 नुष्ठानादेव सकलाङ्गसाध्योपकारसिद्धिरिति कल्प्यते ॥

उपासनासु काम्यत्वात्कार्या सर्वाङ्गसंहतिः ।

नोपसंहरणेऽशक्तिरशक्तेः प्रतिषेधतः ॥

गृहमेधीयेऽप्यतिदेशतः सर्वाङ्गप्राप्तौ आज्यभागस्य पुनः-  
 श्रुतेः अङ्गान्तरसाध्योपकारोऽप्याज्यभागमात्रजन्यो विज्ञायते ।

इह तु एकशाखागतगुणविधीनामप्राप्तगुणविधानेन पर्यवसानात् शाखान्तरीयगुणजन्योपकारस्य स्वविधेयगुणमात्रजन्यत्वकल्पकत्वमिति ॥

### अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नावि- शेषात् ॥ ३ ॥

वाजसनेयके वागादीनासुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा मुख्यप्राणस्योद्गानकर्तृत्वमध्यस्योपास्यत्वं श्रूयते— ‘अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाय’ इत्यादिनाः छान्दोग्ये तु तथैव वागादीन्निन्दित्वा उद्गीथावयव ओङ्कारे मुख्यप्राणदृष्टिर्विधीयते— ‘अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे’ इति ; ‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ इत्युद्गीथावयवस्य प्रणवस्य प्रस्तुतत्वात् । तत्र शाखाद्वयेऽपि किं विद्याया ऐक्यम्, उत भेद इति संशयः ; वागाद्यासुरसङ्गविद्धत्वादेः प्राणस्य पाप्मविद्धत्वादेश्चाविशेषात् ; उद्गानकर्तृत्वोद्गानकर्मत्वादीनां भेदाच्च । चोदनाद्यविशेषाद्विद्यैक्यमुक्तम् ; तत्राख्याया अपवाद इह क्रियते । अपोदितायां चाख्यायां विद्याभेदादनन्तराधिकरणोक्तगुणोपसंहाररूपप्रयोजनमप्यपोदितं भवति । तत्र—

वागाद्यासुरवेधादिबहुधर्माविशेषतः ।

एकत्वाच्च समाख्यायाः क्रियया कर्तृलक्षणा ॥

देवासुरसंग्रामाख्यायिकोपक्रमः वागादीनामासुरपाप्मादि-  
भिर्वेधः, तेषां च मुख्यप्राणं प्रति गुणभावोपगमः, प्राणवीर्या-  
च्चासुरजय इत्यादिवहुधर्मसाधर्म्यात् प्राणत्रियोति समाख्यैक्या-  
च्च, विद्यैकत्वेऽवधृते, छान्दोग्ये 'तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे'  
इत्यत्रोक्तोद्गानक्रिययोद्गानकर्ता लक्षणीयः, उद्गीथावयवेन चा-  
वयव्युद्गीथभक्तिर्लक्ष्यते; ततश्चोभयत्र उद्गातर्युद्गानकर्तृप्राण-  
दृष्टिविधिरिति प्राप्ते, ब्रूमः—

उपक्रमश्रुतोपास्यरूपभेदादुपासना ।

भिन्नार्थवादसारूप्यमभेदे न प्रयोजकम् ॥

एकस्मिन्वाक्ये उपक्रमाधीनत्वादुपसंहारस्य, शाखाद्वये चो-  
पक्रमे एकत्रोद्गीथस्योपास्तिकर्मत्वनिर्देशात्, अन्यत्रोद्गानकर्तु-  
रुपास्यत्वावगमात्, एकत्र भक्त्यैकदेशस्य अन्यत्र च सकल-  
भक्तेरुपास्यत्वावगमात् विद्याया भेदे सति, न प्राणसंवादाव-  
र्थवादसारूप्याच्चरमावगताद्विद्यैक्यमिति ॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ४ ॥

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इत्यक्षरोद्गीथशब्दयोः  
सामानाधिकरण्यं दृष्टिविध्यर्थम्, उतापवादार्थम्, किं वा  
एकत्वप्रमित्यर्थम्, आहो विशेषणविशेष्यभावनिवन्धनमिति  
संशयः; 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यध्यासे, 'इदं सर्वं यद-  
यमात्मा' इत्यपवादे, 'विज्ञानमानन्दम्' 'सिन्धुरः करी'



इत्येकत्वे, नीलमुत्पलम् इति विशेषणे च सामानाधिकर-  
ण्यस्य दृष्टत्वात् । पूर्वतोद्गीथो विशेषणमोकारस्यैतद्वाक्यार्थे  
इति सिद्धवत्कृत्य उद्गीथावयवोपास्यत्वप्रक्रमभेदाद्विद्याभेदो द-  
र्शितः ; इदानीं स एवार्थश्चिन्त्यते ॥

तत्र—

अत्राध्ये नापवादः स्यान्नापर्यायार्थ एकता ।

न विशेषणता वाक्यभेदाद्दृष्टिस्तु शिष्यते ॥

न तावदक्षरम् उद्गीथमिति दृष्ट्या अक्षरत्वमपवादितुं श-  
क्यम् ; व्यावहारिकप्रमाणसिद्धत्वात् । न चावयवस्यावय-  
वित्वम् ; वैपरीत्यात् । न चापर्यायशब्दवाच्ययोरक्षरोद्गीथयो-  
रेकत्वसंभवः ; विज्ञानानन्दपदयोर्लक्ष्यमेवाभिन्नम्, न वा-  
च्यम् ; न चात्र लक्ष्यैक्यसंभवः ; लक्ष्यमाणयोरोंकारोद्गीथ-  
व्यक्त्योर्भेदात् । व्याख्यानार्थं तु करिसिन्धुरपदयोः सहप्र-  
योगः । न चात्र व्याख्यानपेक्षा ; निगदव्याख्यानत्वात् ।  
न चात्र सर्ववेदमाधारणमोकारमुद्गीथत्वेन विशेष्य तत्र प्रा-  
णाद्युपास्तिर्विधेया ; तथा सति ओमित्येतदक्षरमुपासीत तं  
चोद्गीथमिति विशिष्टोद्देशने विध्यावृत्त्या वाक्यभेदापत्तेः ।  
तस्मादक्षरे उद्गीथदृष्ट्यध्यास इति प्राप्ते, अभिधीयते—

फलकल्पनतो गौण्या लक्षणाप्रबलत्वतः ।

विशिष्टविधिदृष्टेश्च स्यादुद्गीथो विशेषणम् ॥

अध्यासे हि फलं कल्प्यम्, तत्र फलस्याश्रुतत्वात् । ‘आ-



पयिता ह वै कामानां भवति । इत्यादेराप्त्यादिगुणकप्रणवो-  
पास्तिफलत्वेनोद्गीथत्वदृष्टिविशिष्टप्रणवोपासनाफलत्वाभावात् ।  
यदा तु उद्गीथावयवप्रणवोपासनविधिपरं वाक्यम्, तदा वि-  
शेषणस्य विशिष्टप्रणवप्रतीत्यर्थत्वेन पारार्थ्यान्न फलकल्पना ।  
अपि च गौण्या वृत्तेर्लक्षणावृत्तिर्बलीयसी; लक्षणायां हि लक्ष-  
णीयपरत्वं पदस्य, गङ्गायां घोष इत्यत्र लक्षणीयस्य तीरस्यैव  
वाक्यार्थेऽन्तर्भावात्; सिंहो देवदत्त इत्यत्र तु न सिंहशब्दस्य  
लक्षणीयसिंहसंबन्धिशौर्यादिपरत्वम्, अपि तु तत्तुल्यशौर्या-  
दियुक्ते देवदत्तपरत्वमित्यर्थविप्रकर्षाद्गौणी वृत्तिर्दुर्बला । तव तु  
उद्गीथदृष्टिविषयत्वगुणयोगात् अक्षरे गौण उद्गीथशब्दः; मम  
तु अवयवित्वचनोऽवयवे लाक्षणिक इति । न च विशेषणपक्षे  
विशिष्टोद्देशेन वाक्यभेदः; उद्गीथावयवत्वविशिष्टतत्तद्गुणकप्र-  
णवविशिष्टोपास्तेरेकत्वेन तद्विधायकवाक्यस्याप्येकत्वादिति ॥

### सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ ५ ॥

वाजसनेयिनां छन्दोगानां च प्राणसंवादे ज्येष्ठश्रेष्ठत्वगु-  
णवतः प्राणस्योपासनमुक्तम्, वसिष्ठत्वादयोऽपि गुणा उक्ताः;  
कौषीतकिप्रभृतीनां च अस्ति ज्यैष्ठ्यश्रेष्ठ्यवतः प्राणस्योपास-  
नम्, वसिष्ठत्वादि तु न श्रुतम्; तन्नोपसंहर्तव्यम्, उतोपसं-  
हर्तव्यमिति संशयः; एवंशब्दाद्विचैक्याच्च । श्रूयते हि कौषी-  
तकिप्रभृतीनामेवंशब्दः— ‘अथो एवंविद्वान्प्राणे निःश्रेयसं  
विदित्वा’ इति । पूर्वत सर्वप्रणवप्राप्तावुद्गीथमिति विशेषणा-

दन्यव्यावृत्तिरुक्ताः तद्वदिहाप्येवंशब्दात्संनिहितालम्बनात्सं-  
निहितविद्यैक्यद्वारा अनुमानात्प्राप्नुवतो वसिष्ठत्वादेर्व्या-  
वृत्तिः ॥

वक्ति संनिहितं ह्येवंशब्दः शाब्दश्च संनिधिः ।

शाब्दमानोपयोगीति नापेक्षानुमितैर्गुणैः ॥

न ह्यशाब्दं शाब्दे व्यवहारेऽन्वेति, तद्यथा— ‘ त्वय आ-  
गताः कठकौण्डिन्यौ ’ इत्युक्ते न प्रत्यक्षदृष्टेन माठरेण वाक्या-  
र्थमुपपादयन्ति : किं तु माठरश्च— इति शब्दोपात्तमाठरेणैव  
तदुपपादनम् । तदिह कौषीतकिशाखायामेवंशब्देन संनिहित-  
प्रकारवाचिना शब्दोपात्तं ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यादिगुणमात्रं परामृ-  
श्यते । यत्त कौषीतकिवाक्यं वसिष्ठत्वादिप्राणगुणविषयम्,  
श्रैष्ठ्यादिगुणवत्प्राणोपास्तिविषयत्वात्, वाजसनेयिवाक्यवत्—  
इत्यनुमानप्राप्तं तु गुणजातम्, न तत्तत्र परामृश्यते, शब्दाप्रा-  
पितत्वादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

एवंशब्दोऽविशेषेण वक्ति संनिहितं ततः ।

धर्मिद्वारेण बुद्धिस्थगुणस्याप्यस्ति शाब्दता ॥

सत्यं शाब्दस्यैव वाक्यार्थेऽन्तर्भावः, तदिह एवंशब्दस्य  
शाब्दाशाब्दसाधारणसंनिहितमात्रवाचिनः श्रुतेः श्रेष्ठप्राण-  
रूपधर्म्यविनाभावेन बुद्धिस्थं वसिष्ठत्वादिगुणजातमभिधेय-  
मिति भवति शाब्दम् । ततश्च वाक्यार्थेऽन्तर्भविष्यति ॥

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ६ ॥

तैत्तरीयके ‘सत्यं ज्ञानमनन्तम्’ ‘आनन्दो ब्रह्म’ ‘आत्मन आकाशः संभूतः’ इति च सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मत्वानि ब्रह्मधर्मा आम्राताः; अन्यत्र कचित्कश्चित् तत्राश्रुतस्थले ते किं नोपसंहर्तव्याः, उतोपसंहर्तव्या इति संशयः; ब्रह्मणो निर्विशेषत्वेन धर्मान्तरानपेक्षणान्, सर्वत्र ब्रह्मविद्यैक्याच्च । प्राणस्य स विशेषत्वाद्युक्तः शाखान्तरीयवसिष्ठत्वाद्युपसंहारः, ब्रह्मणस्तु निर्विशेषत्वात्स्वशाखागतधर्मैरेव प्रमितिमिद्धौ न शाखान्तरगतानन्दाद्युपसंहारः । किंच,

आनन्दाद्युपसंहारे ब्रह्मैक्यद्वारके सति ।

संयद्ब्रामादिधर्माणामुपसंहार आपतेत् ॥

अत्रोत्तरम्— न तावदेकरूपे ब्रह्मण्यनेकपदवैयर्थ्यम्, यतः—

मिथ्यात्वादि यदध्यस्तं ब्रह्मण्येतस्य बाधनम् ।

नानापदैर्विना नेति ब्रह्म तैरुपलक्ष्यते ॥

सत्यज्ञानानन्दपदार्था इतरंतरविशेषणविशेष्यभूता ब्रह्मणि अनृतजडदुःस्वरूपत्वादिभ्रान्तीर्व्यावर्तयन्तः, सत्त्वादिपरापरसामान्याधारभूतामेकामानन्दव्यक्तिं लक्षयन्ति, सत द्रव्यं कुम्भ इति पदानीव कुम्भव्यक्तिम् । अनन्तपदं तु लक्षणत्वेन स्वीकृतसामान्यव्यक्तिभेदमपि वस्तुतो निषेधति; आत्मपदं तु एवंभूतस्य ब्रह्मणः पराक्त्वं निषेधति । एवंभूतब्रह्मसिद्धिश्च नैकस्मात्पदान्, एकभ्रमनिवृत्तावपि इतरभ्रमानिवृ-

तेः; लक्षणया हि अखण्डब्रह्मसिद्धिः । न चैकपदप्रयोगे लक्षणा ; विरोधस्फूर्त्यभावात् । प्रयोक्तव्ये च पदान्तरे यावन्त्यो भ्रान्तयः संभाव्यन्ते, तन्निरसनार्थं पदवृन्दं प्रयोक्तव्यम्, तच्च सर्वत्रोपसंहर्तव्यमिति । यच्चानन्दाद्युपसंहारे संयद्वामत्वादेः सर्वत्र प्रसङ्ग इति । अत्रोच्यते—

विधीयमानधर्माणां व्यवस्था स्याद्यथाविधि ।

प्रतिपत्तिफलानां तु सर्वशाखासु संगमः ॥

संयद्वामत्वादयो हि उपासनार्थं विधेयाः ; विधिप्रयुक्ता-पूर्वस्य च नियतपरिमाणत्वात् अपूर्वसाधनधर्माणां यथाविधि व्यवस्था स्यात् । सत्यज्ञानादयस्तु वस्तुतत्त्वप्रतिपत्त्यर्था लक्ष्यमाणव्यकल्यात्मना ब्रह्मस्वभावभूताश्चेति यत्र यत्र तत्त्व-प्रतिपत्तिस्तत्र तत्र नेतव्या इति ॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ ७ ॥

विद्याभेदाभेदचिन्तनाप्रसङ्गाद्वाक्यभेदाभेदचिन्तनात् तन्निबन्धनविद्याभेदाभेदचिन्तनाद्वा पादसंगतिः । ब्रह्मस्वभावभूतोपसंहार्यधर्मचिन्तनानन्तरम्, अस्वभावस्यानुपसंहार्यस्याप्यर्थादिपरत्वरूपधर्मस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वचिन्तनादधिकरणसंगतिः । ‘ इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ’ इत्या-रभ्य, ‘ अव्यक्तात्पुरुषः परः पुरुषान्न परं किञ्चित्— ’ इति श्रूयते । तत्र संशयः— किं प्रत्येकमर्थादीनां परत्वं विवक्षि-

तम्, उत पुरुष एव एभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यते, ता-  
दर्थ्येन चार्थादिपरत्वं कीर्त्यत इति; इहार्थादिपरत्वश्रवणस्य  
पृथक्फलसंबन्धसंभवासंभवाभ्याम् ॥

तत्र—

श्रुतेः परत्वमर्थादेस्तज्ज्ञानाच्च फलं स्मृतम् ।

वाक्यभेदो न दोषाय प्रमाणप्रापितत्वतः ॥

अर्थादिपरत्वश्रवणस्य तत्परत्वसंभवे सति नान्यार्थत्वम् ।  
न च प्रयोजनाभावादन्यार्थता; तद्विज्ञानस्य फलवत्त्वस्मृतेः—  
'दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः । भौतिकास्तु  
शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥ बौद्धा दशसहस्राणि ति-  
ष्ठन्ति विगतज्वराः । पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्त-  
काः ॥ पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते' इति ।  
एवं फलवतां ज्ञानानां प्रधानत्वात्तत्प्रतिपादकवाक्यानां भेदो-  
ऽपि प्रामाणिकत्वादेष्टव्य इति प्रत्येकमर्थादिपरत्वविवक्षायां  
प्राप्तायाम्, अभिधीयते—

दृष्टे महाफले लभ्ये पुरुषस्य निवेदनात् ।

अदृष्टं फलमल्पं च न स्यादर्थादिचिन्तनात् ॥

पुरुषपरत्ववेदने हि दृश्यते फलमविद्यानिवृत्तिः परमान-  
न्दरूपम्; श्रूयते च—'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवा-  
न्नरः । सोऽध्वनः पारमाप्रोति तद्विष्णोः परमं पदम्' इति ।

तल्लाभे अर्थादिपरत्वध्यानानामदृष्टं कतिपयकालनिर्दुःखाव-  
स्थानरूपं फलं न गृह्यते । तस्मात् वाक्यभेदे निरवद्यप्रयो-  
जनाभावादार्थादिपरत्वप्रतिपादनं पुरुषपरत्वप्रतिपादनोपयो-  
गितया तेनैकवाक्यतां प्रतिपद्यत इति ॥

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ ८ ॥

ऐतरेयके श्रूयते—‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्य-  
त्किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकान-  
सृजत’ इति । तत्र संशयः—किमात्मशब्देन हिरण्यगर्भोऽभि-  
धीयते, उत परमात्मेति ; लोकसृष्टिवचनात् प्रागुत्पत्तेरात्मैक-  
त्वावधारणाच्च । पूर्वत्र वाक्यभेदप्रसङ्गादार्थादिपरत्वं निरस्तम्,  
तर्हि हिरण्यगर्भे सकलवाक्यस्यान्वयेन वाक्यभेदाभावात्  
तत्परत्वं वाक्यस्य ॥

अमहाभूतसृष्ट्युक्तः प्रजापतिपरा श्रुतिः ।

आत्मैवेदमग्र आसीदिति वाजसनेयवत् ॥

पारमेश्वरी हि सृष्टिराकाशादिका, यथा ‘आत्मन आ-  
काशः संभूतः’ इति, इयं तु लोकलोकपालाग्न्यादिसृष्टि-  
श्रुतिः । न चात्र भूतानि श्रुतानि, यथा वाजसनेयके—‘आ-  
त्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः’ इत्युपक्रम्य, ‘अग्निमसृजत’  
इत्यादिभौतिकसृष्टिरुच्यमाना हिरण्यगर्भकर्तृका, तथैषापि ।  
तस्मादैतरेयकं वाक्यं हिरण्यगर्भपरम्, महाभूतसृष्ट्यविष-

यत्वे सति अग्निसृष्टिविषयत्वात् ; वाजसनेयिवाक्यवदिति ।  
 अत एव प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणम् आत्मशब्दश्च हिरण्य-  
 गर्भेऽपि संभवतः । अपि चैतरेयके ‘अथातो रेतसः कार्यस्य  
 सृष्टिः’ इति प्रतिज्ञाय, ‘प्रजापते रेतो देवाः’ इत्यादिनोप-  
 क्रमे प्रजापतिसृष्टिरुक्ता ; उपर्यपि स्वसृष्टाभ्यां देवताभ्य इन्द्र-  
 यलक्षणाभ्यः ताभ्यः गां गोशरीरं भोगायतनमानयत अश्व-  
 शरीरमानयन् इति च शरीरवति उचितव्यवहारदर्शनाद्धि-  
 रण्यगर्भपरत्वं संदर्भम्य ; प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणं तु स्ववि-  
 कारोपक्षमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

प्रतिष्ठितं पृथिव्यादि ब्रह्मणीत्युपसंहृतः ।

उपक्रमेऽपि लोकानां कर्तृ ब्रह्मेति गम्यते ॥

उपरिष्ठाद्धि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषि इत्या-  
 दिना सह महाभूतैः सर्वकार्यजातमनुक्रम्य, ‘सर्वं तत्प्रज्ञा-  
 नेत्रम्’ प्रज्ञानेतृकमित्यर्थः, ‘प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्’ इत्युक्त्वा,  
 ‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ इति श्रावयिष्यति ; तेन एकत्वावधारणलोकसृ-  
 ष्टिभ्यां संदिह्यमानोपक्रमस्य उपसंहाराद्ब्रह्मपरत्वं निर्णीयते ;  
 एवं च सति अनुमाने महाभूतसृष्टयविषयत्वविशेषणमसि-  
 द्धम् । यस्तु ‘अथातो रेतसः सृष्टिः’ इति प्रतिज्ञाय प्रजा-  
 पत्युपक्रमः, स महतोऽपि महाव्रतस्य कर्मणो हिरण्यगर्भो-  
 पास्तिसहितस्यापि संसारफलत्वमिति ब्रह्मविद्यास्तुत्यर्थः ।  
 तथा हि— समस्तदेवतात्मको हि प्रजापतिः, तथा च ‘देव-



ता अप्येति य एवं वेद' इत्युपास्तिसहितस्य कर्मणः फलमभिहितम्; देवतानां च संसारित्वमुक्तम्— ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे संसारे प्रापतन्निति । यत्तु 'ताभ्यो गामानयत्' इत्यादि मध्ये शरीरिणामुचितव्यापारदर्शनम्, तदप्यन्यार्थम् । तथा हि— परमेश्वर एवाधिकारिपुरुषशरीरं सृष्ट्वा करणानि तत्र प्रवेश्य, आत्मनः स्वामिनः प्रवेशमन्तरेण तद्वैयर्थ्यमीक्षित्वा ब्रह्मरन्ध्रेण शरीरमाविशत्; प्रविश्य च 'यदि वाचाभिव्याहृतम्' इत्यादिनालोचनेन वदनादिव्यापारा वागादीनामेव, न मम, अहं तु साक्षीत्यकर्तृत्वमध्यवसाय स्वपरिच्छेदमपि देहोपाधिकं मत्वा, 'अथ कोऽहम्' इति वीक्ष्य, 'स एतमेव' 'आत्मा वा इदमग्रे—' इति प्रस्तुतं जगत्कारणत्वोपलक्षितं जलसूर्यमिव सकलोपाधिष्वनुप्रविष्टम् उपाधिकृतपरिच्छेदमपोह्य 'ब्रह्म ततममपश्यत्' इत्ययमर्थ इह विवक्षितः । ततममिति तकार एकः छान्दस्या प्रक्रियया लुप्तो द्रष्टव्यः । तततमं व्याप्ततममित्यर्थः । तस्मादात्मेति उपक्रान्तेः मध्ये च ईक्षितृभाषणान्, प्रज्ञाब्रह्मोपसंहारात् ब्रह्मात्र प्रतिपाद्यते । पूर्ववर्णके विद्याभेदाद्यनिरूपणात्पादासंगतिरित्यपरं वर्णकं क्रियते—

वाजसनेयके 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः' इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य, 'स वा एष महानज आत्मा ब्रह्म' इति ब्रह्मात्मत्वमुपसंहियते । छान्दोग्ये तु 'सदेव' इत्युपक्रम्य 'तत्त्वमसि' इति सच्छब्दार्थस्यात्मतादात्म्यमुपसंहर-



ति । तत्र संशयः— किं विद्याया एकत्वम्, नानात्वं वेति ; उपक्रमभेदान्, आत्मैक्यप्रतिपादकोपसंहाराभेदाच्च । पूर्वत्रैकवाक्यत्वसंभवे वाक्यभेदायोगात् अर्थादिपरत्वस्य पुरुषपरत्वप्रतिपत्त्यर्थतामाश्रित्य विद्यैक्यमुक्तम् । अत्र तु उपक्रमभेदेन वाक्यैक्यायोगाद्विद्याभेदः । तत्र—

सत्त्वेनोपक्रमे सत्त्वं आत्मदृष्टिर्विधीयते ।

आत्मनो ब्रह्मता बोध्या यत्रात्मोपक्रमे श्रुतः ॥

सच्छब्दस्य आत्मानात्मसाधारणसत्तासामान्यवाचित्वात्तस्य च उपक्रमश्रुतस्यैकस्मिन्वाक्ये वलीयस्त्वात्, 'तत्त्वमसि' इति वाक्यस्योपसंहारस्थस्य प्रकृतसच्छब्दार्थं तच्छब्देन परामृश्य तदेकवाक्यतापन्नस्य तदनुरोधेन सत्तासामान्ये परमात्मदृष्टिविध्यर्थत्वम्; त्वंशब्देन च अत्र जीववाचिना तदभिन्नः परमात्मा लक्षणीयः । न हि जीवोपासनं कस्मैचित्फलाय कल्पत इति । वाजसनेयिवाक्ये तु जीवस्य ब्रह्मैक्यं प्रतिपाद्यत इति । अत्रोत्तरम्—

साधारणार्थः सच्छब्दो वाक्यशेषगतात्मनि ।

निर्णीयते न च ब्रह्म मुक्त्वान्यस्यास्ति सत्यता ॥

सच्छब्दस्य जातिवचनत्वे प्रतिव्यक्ति वृत्तेः आत्मा वा अनात्मा वा सन्निति संदेहे सति उपसंहारे 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति निर्देशात् आत्मैव सच्छब्दार्थ इति निर्णीयते । अपि

च सच्छब्दादपि प्राक्तनैकविज्ञानात्सर्वविज्ञानेनात्माद्वैतावग-  
मात्सच्छब्दस्यात्मपरत्वनिर्णयः । न च सच्छब्दो जातिव-  
चनः, येनात्मानात्मार्थत्वसंदेहः स्यात्; किंत्वाकाशादिशब्द-  
वद्व्यक्तिवचनः सन् आत्ममात्रार्थः, आत्मन एव सत्त्वात्,  
अन्यस्य मिथ्यात्वात्; एवं चोपक्रम एव निर्णीतोऽर्थः । चि-  
न्ताप्रयोजनं तु ब्रह्मणः सद्रूपत्वं छान्दोग्ये श्रुतं वाजसनेयके  
उपसंहर्तव्यम्, तत्र च श्रुतविज्ञानरूपत्वं च छान्दोग्य  
इति ॥

### कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ ९ ॥

अन्यत्रोपसंहारसिद्धयर्थं प्राणविद्यायां धर्मविशेषश्चिन्त्य-  
ते । प्राणस्य 'आपो वासः' इत्याम्नाय उपदिश्यते—'तद्वि-  
द्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्यशित्वा चाचामन्येत-  
मेव तदनमनग्रं कुर्वन्तो मन्यन्ते' 'तस्मादेवंविदशिष्यन्ना-  
चामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्रं कुरुते' इति । तत्र  
किमाचमनं विधीयते, उताचमनीयास्वप्सु वासोदृष्टिरिति  
संशयः, आचमनस्यान्यतोऽप्राप्तिप्राप्तिभ्याम् । पूर्वत्र संदि-  
ग्धसदुपक्रमस्य वाक्यशेषान्निर्णय उक्तः; एवमिहापि 'अशि-  
ष्यन्त आचामन्ति' इत्यादेर्वर्तमानापदेशत्वेन विधित्वसंदेहे,  
'अशिष्यन्नाचामेत्' इति वाक्यशेषाद्विधित्वनिर्णयः । तत्र—

प्राप्तत्वेऽपि क्रतौ यद्वच्चोद्यतेऽनृतवर्जनम् ।

प्राणोपास्तौ विधीयेत तथैवाचमनक्रिया ॥

यद्यपि शुद्धार्थं स्मृतावाचमनं विहितम्, तथापि प्राण-  
विद्याङ्गत्वेन न विहितमिति तदङ्गतया प्राणोपासनप्रकरणे  
तद्विधानमर्थवत् : यथा— स्मृतावनृतवदनप्रतिषेधे सत्यपि  
ज्योतिष्टोमप्रकरणे तदङ्गतया 'नानृतं वदेत्' इति प्रतिषेधो-  
ऽर्थवानिति प्राप्ते, अभिधीयते—

पुनरुक्तं पुमर्थेन क्रतौ नानृतवर्जनम् ।

सर्वार्थाचमनं प्राप्तं प्राणोपास्तौ स्मृतेरिह ॥

‘द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्’ इति सर्वकर्मसु अङ्गत्वेन स्मृत्या  
विहितमाचमनं प्राणविद्यायामपि प्राप्तं स्मृतिमूलसामान्यश्रु-  
तिसिद्धं प्राणविद्यायां श्रुत्यानूद्यत इति ॥

**समान एवं चाभेदात् ॥ १० ॥**

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्या पठ्यते ।  
तत्र गुणा बहुतराः श्रूयन्ते— ‘स आत्मानमुपासीत मनो-  
मयं प्राणशरीरं भारूपमाकाशात्मानं कामरूपिणं मनोजवं  
सत्यसंकल्पं सत्यधृतिं सर्वगन्धं सर्वरसं सर्वा दिशोऽनुप्रयान्तं  
सर्वमिदमभ्यात्तम् अवाक्यनादरम्’ ‘यथा व्रीहिर्वा यवो  
वा’ इत्यादयः ; बृहदारण्यके तु स्तोकाः— ‘मनोमयोऽयं  
पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स  
एष सर्वस्येशानः’ इत्यादयः । तत्र संशयः— किं भिन्ने  
विद्ये, उतैकेति ; एकस्यां शाखायामभ्यासात्समानगुणप्रत्यभि-

ज्ञानाच्च । पूर्वत्र प्राप्ताचमनानुवादेनानग्नताचिन्तनं विधेय-  
मित्युक्तम्, इह तु वाक्ययोः कस्य विधित्वम्, कस्य वानुवा-  
दत्वमित्यनिश्चयात् द्वयोरपि विद्याविधित्वम् ॥

अधिकोक्तेः समोक्तेश्च गुणार्थत्वे निवारिते ।

विद्यानानात्वमभ्यासात्समिधो यजतीतिवत् ॥

द्वयोर्विद्याविध्योरेकशाखागतयोरानर्थक्यं मा भूदिति स-  
मिदादिकर्मभेदवद्विद्याभेदः । न चैकमाग्नानं गुणविधाना-  
र्थम्, अपरं विद्याविधानार्थम्; विशेषानवधारणात् । ‘अग्नि-  
होत्रं जुहोति’ इत्यत्र हि निर्गुणविधिः कर्मोत्पत्त्यर्थः, ‘दध्ना  
जुहोति’ इत्यत्र सगुणो गुणविधानार्थ इत्यवधार्यते । नात्र;  
उभयोरपि सगुणत्वात् । न च यत्रानुक्ता गुणा उच्यन्ते,  
तत्र गुणविधिः; कामरूपत्वादेः सर्वेश्वरत्वादेष्वपुनरुक्तगुण-  
स्योभयत्रापि पाठात् । एकस्य गुणविधानार्थत्वे चोभयत्र  
मनोमयत्वाद्याम्नानमनर्थकम् । न च विद्याप्रत्यभिज्ञानार्थम्,  
प्रधानाभिधानादपि तदुपपत्तेः । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

भूयस्त्वं यत्र धर्माणां तत्र विद्या विधीयते ।

प्रत्यभिज्ञानदाढ्यार्थं समानगुणकीर्तनम् ॥

उभयत्रापि मनोमयत्वादिगुणविशिष्टशाण्डिल्यनामाङ्किता  
तावद्विद्या प्रत्यभिज्ञायते । तत्र विद्यानानात्वकल्पनायां गौ-  
रवम् । न चाभ्यासवैयर्थ्यम्; एकत्रोत्पत्तेरन्यत्र गुणविशि-

ष्टगुण्यनुवादेन गुणविधानात् । न च गुणिमात्राभिधानादेव प्रत्यभिज्ञासिद्धौ गुणानां पृथगुक्तिवैयर्थ्यम् ; तस्याः प्रत्यभिज्ञादाढ्यार्थत्वात् । न चाविनिगमः ; यत्र गुणा भूयांसो विधीयन्ते तत्र प्रधानविधिकल्पनात् । यथा— यत्र करितुरगपदातिप्रचयस्तत्र राजेति ॥

### संबन्धादेवमन्यत्रापि ॥ ११ ॥

बृहदारण्यके ‘सत्यं ब्रह्म’ इत्युपक्रम्य सत्यस्य ब्रह्मण आयतनभेदेन द्वे नामनी आदिश्येते— ‘तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम्, अथाध्यात्मं यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्योपनिषदहम्’ इति । तत्र संशयः— किमुभे अप्युपनिषदावुभयत्र ध्यातव्ये, उत एका अधिदैवतमेका अध्यात्ममिति ; सत्यस्य ब्रह्मण एकत्वात्, अध्यात्माधिदैवतस्थानभेदाच्च । पूर्वत्रैकशाखायामभ्यासात् शाण्डिल्यविद्याभेदप्रसक्तावापि प्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैक्ये गुणोपसंहार उक्तः ; तर्हीहापि सत्यस्य ब्रह्मणो मण्डलद्वयवर्तिनः ऐक्यादुपनिषदोरपि उभयत्र चिन्तनम् ॥

सत्यस्यैव प्रधानस्य तच्छब्देनाभिधानतः ।

तस्यैक्यादुभयत्रापि नामद्वयमुपास्यताम् ॥

यद्यप्यध्यात्माधिदैवतस्थानविशिष्टपुरुषोऽनन्तरनिर्दिष्टः, तथापि स्थानद्वयं तद्वैशिष्ट्यं वा पुरुषं प्रत्युपसर्जनभूतं

तच्छब्देन न परामृश्यते ; अपि तु प्रधानपुरुष एव सत्य-  
शब्दवाच्यः । स चोभयत्रापि एक इति तद्धर्मयोरुपनिषदोः  
संकर इति प्राप्ते, अभिधीयते—

एकस्थानविशिष्टस्य यो धर्मोऽवगतः स न ।

स्थानान्तरविशिष्टस्य तस्मान्नाम्नोर्व्यवस्थितिः ॥

सत्यं न गुणभूतं स्थानमात्रं तच्छब्देन परामृश्यते, नापि  
तद्वैशिष्ट्यं धर्मः, किंतु स्थानविशिष्टं ब्रह्म, 'य एष एतस्मि-  
न्मण्डले पुरुषः' इति तस्यैव प्रकृतत्वात् । तथा च विशि-  
ष्टस्य विशिष्टान्तरेऽननुगमात् नोभयत्र उभयनामचिन्तनेति ॥

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चानः ॥ १२ ॥

राणायनीयानां खिलेषु ब्रह्मणो विभूतयः पठ्यन्ते—  
'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान, ब्रह्म  
देवानां प्रथमं तु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः' इति ।  
तेषामेवोपनिषदि शाण्डिल्यविद्यादयः ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते ;  
तासु ता विभूतयः उपसंहर्तव्या न वेति संशयः ; ब्रह्मसंब-  
न्धस्योभयत्र तुल्यत्वात्, संभृत्यादिष्वविद्यमानहृदयाद्यायत-  
नस्य शाण्डिल्यादिविद्यासु श्रवणाच्च । पूर्वत्राक्ष्यादित्यस्थान-  
भेदाद्धर्मानुपसंहार उक्तः, तस्यातिदेशोऽयम् ; तेनात्रोपदे-  
शवत्संगतिः । ब्रह्मैक्याच्छाण्डिल्यादिविद्यासु संभृत्यादिगुणो-  
पसंहार इति पूर्वः पक्षः । शाण्डिल्यादिविद्यानामाध्यात्मिक-

हृदयादिस्थानसंबन्धात् तास्वाधिदैविकसंभृत्याद्यनुपसंहार  
इति सिद्धान्तः । का तर्हि अधिकाशङ्का ? उच्यते—

आधिदैविकभूतीनां शाण्डिल्यादिषु साम्यतः ।

कचिच्चायतनाभावाद्ब्रह्मैक्यादुपसंहृतिः ॥

‘ज्यायान्दिवः’ इत्यादिराधिदैविकविभूतिः शाण्डिल्यादि-  
विद्यासु संभृत्यादिविद्याभिः समा, षोडशकलादिविद्यासु  
आयतनमेव नास्ति । ब्रह्मसंबन्धप्रत्यभिज्ञानं सर्वत्र सममिति  
सर्वत्र विद्यासु संभृत्यादयो गुणा निविशन्ते । यद्यपि वैश्वा-  
नरषोडशकलादिविद्यानामितरेतरमाधिदैविकविभूतिप्रत्यभि-  
ज्ञानं ब्रह्मसंबन्धप्रत्यभिज्ञानं चाविशिष्टम्, तथापि तासु  
नेतरेतरगुणोपसंहारः शक्यते ; तासां प्रत्यक्षविधिविहितत्वेन  
भेदनिश्चयात् । संभृत्यादीनां त्वश्रुतविधिकत्वात् परिशिष्टोपदे-  
शात्मकखिलग्रन्थशिष्टत्वाच्च उपनिषदुदितविद्याशेषत्वमाश-  
ङ्क्येतेति प्राप्ते, अभिधीयते—

ब्रह्मतद्गुणमात्रैक्यं विद्यैक्येऽतिप्रसज्जकम् ।

असाधारणधर्मैक्यं नात्र विद्यैकता यतः ॥

न तावद्ब्रह्मैक्यम् आधिदैविकविभूत्यात्मकसाधारणगुण-  
मात्रैक्यं वा विद्यैक्यं गमयितुमलम् ; वैश्वानरषोडशकलादि-  
विद्यानामप्यभेदप्रसङ्गात् । ये त्वसाधारणा वीर्यसंभरणादयः  
संभृत्यादिविद्यासु, ये च शाण्डिल्यविद्यादिषु मनोमयत्वा-

दयः, तेषां न इतरेतरप्रत्यभिज्ञा; अतो न विद्यैक्यम् । एवं च खिलोक्तायामश्रुतविधिकायामपि संभृत्यादिविद्यायां विधिं कल्पयित्वा विद्याभेदोऽध्यवसातव्यः । ततश्च गुणानुपसंहार इति ॥

## पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामना-

ज्ञानात् ॥ १३ ॥

अस्ति छन्दोगानां पुरुषविद्या— ‘पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनम् । अथ यानि चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनसवनम् । अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनम् । स यदशिशिषति यत्पिपासति यद्रमते ता अस्य दीक्षाः । अथ यद्वसति यज्जक्षति तत्स्तुतशस्त्रे’ इति दीक्षादिकल्पना, ‘तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयान् प्राणा वा वसवः इदं मे प्रातःसवनं माध्यंदिनसवनमनुसंतनुत’ इत्यादिराशीः, ‘सोऽन्तवेलायामेतन्नयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि’ इति मन्त्रप्रयोगो विहितः । तैत्तिरीयके तु पठ्यते— ‘तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिलोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्धोता प्राण उद्राता चक्षुरध्वर्युः’ इत्यादि । तत्र विद्यैक्यं न वेति संशयः; तैत्तिरीयगतयोः ‘विदुषो यज्ञस्य’ इति षष्ठ्योः सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यानवधारणात् ।



पूर्वत्रासाधारणगुणप्रत्यभिज्ञाभावात्संभृत्यादौ विद्याभेद उक्तः ;  
इह त्वसाधारणगुणप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैक्यम् । तथा हि—

निषादस्थपतिन्यायात्सामानाधिकरण्यतः ।

षष्ठ्योः संपाद्यते पुंसि यज्ञत्वं तैत्तिरीयके ॥

छान्दोग्ये तावत्स्पष्टं पुरुषे यज्ञत्वसंपादनम्— ‘पुरुषो  
वाव यज्ञः’ इति । तैत्तिरीयकेऽपि ‘विदुषो यज्ञस्य’ इति  
षष्ठ्यौ सामानाधिकरण्ये, निषादस्थपतिवत् । न तु विदुषो  
यज्ञस्येति वैयधिकरण्ये ; संबन्धकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात् ।  
ततश्च पुरुषयज्ञत्वमुभयत्राविशिष्टम् । न च यज्ञत्वेन निरू-  
पितस्य विदुषः ‘आत्मा यजमानः’ इति यजमानत्वनिरूपणवि-  
रोधः ; स्वरूपवचनेनात्मशब्देन यज्ञस्वरूपस्यैवाभिधानात् ,  
अन्यस्य हि यज्ञस्यातिरिक्तो यजमानः ; पुरुषत्वेन संपादि-  
तस्य तु यज्ञस्य स्वरूपमेव यजमान इत्युक्तं भवति । तथा  
मरणावभृथत्वाद्यपि समानमिति विद्यैक्ये प्राप्ते, अभिधीयते—

मुख्यसंबन्ध एवास्तु गौणैकाधिकरण्यतः ।

बहुना रूपभेदेन किञ्चित्साम्यं च बाध्यते ॥

षष्ठ्योः सामानाधिकरण्ये हि विदुषो यज्ञत्वममुख्यमिति  
यज्ञपदं साध्यसादृश्येन यज्ञदृष्टिविध्यर्थं गौणं स्यात् ; विदुष  
इति षष्ठ्याः संबन्धार्थत्वे विद्वत्संबन्धिनो यज्ञस्यात्मादीनां  
यजमानादित्वकल्पनान्मुख्यार्थत्वम् ; आत्मशब्दश्च न यज्ञ-

स्वरूपं वक्ति; तस्य मुख्ययजमानत्वविरोधादेव । अपि च तव विदुषो यज्ञभावः, तं प्रति चात्मयजमानत्वादिकं विधेयमिति वाक्यं भिद्येत । न मम, विद्वत्संबन्धियज्ञानुवादे-  
नात्मादीनां यजमानादिभावस्यैव विधानात् । अत्र च वक्ष्य-  
माणयजमानादिदृष्टिविधीनालोच्य श्रुत्या तदर्थसमूहे यज्ञ-  
शब्दः प्रयुक्तः । न चैवं विद्वत्संबन्धियज्ञोद्देशे वाक्यभेदः;  
यतो यज्ञमात्रमुद्देश्यम्, तस्य तु विद्वत्संबन्धः प्रकरणप्राप्तो-  
ऽनूद्यत इति । बहुवैषम्ये च मरणावभृथत्वादि बाध्येत ।  
पत्न्यादिकल्पना ह्येकत्र, नान्यत्र । एकत्र च पुरुषायुषं सव-  
नत्रयं कल्पितम्, अन्यत्र प्रातरादिकालः । आयुर्वृद्धिफलत्व-  
मेकस्य, अन्यस्य तु ब्रह्मविद्याशेषत्वमिति । वस्तुतस्तु विद्यास्तु-  
त्यर्थमर्थवादः ‘तस्यैवं विदुषः’ इत्यादिः; उत्पन्नाया विद्याया  
अनपेक्षत्वादिति ॥

### वेधाद्यर्थभेदात् ॥ १४ ॥

आथर्वणिकाद्युपनिषदारम्भे ‘सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य  
धमनीः प्रवृज्य’ इत्यादयो मन्त्राः, प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि वि-  
द्यासंनिधौ श्रूयन्ते; तानि मन्त्रकर्माणि विद्याङ्गम्, अतश्चान्य-  
त्रोपसंहर्तव्यानि, न वेति संशयः; विद्यासंनिधिपठितत्वात्,  
मन्त्रस्य लिङ्गेनाभिचारे, प्रवर्ग्यस्य वाक्येन च ज्योतिष्टोमे  
विनियुक्तत्वाच्च । एवं मन्त्रान्तरे कर्मान्तरे च द्रष्टव्यम् । ननु  
वाक्यलिङ्गयोः संनिधेः सकाशाद्ब्रूणीयत्वात् तद्विरोधे कथं

संनिधिमात्रात् मन्त्रकर्मणां विद्यार्थत्वम्? नैष दोषः; मन्त्रा-  
णां विद्यासमवेतहृदयादिप्रकाशकत्वेन विद्यायामपि सामर्थ्या-  
विशेषात् । प्रवर्ग्यादीनां च कर्मणां यद्यपि वाक्यादि ज्योतिष्टो-  
मादिशेषत्वप्रतिपादकमस्ति, प्रवर्ग्ये तावत् 'पुरस्तादुपसदां  
प्रवर्ग्ये प्रवृणक्ति' इति श्रवणात्, उपसदां च ज्योतिष्टोमावि-  
नाभावात्तद्वारा ज्योतिष्टोमसंबन्धः; तथापि न बलवादित्येव  
वाक्यं दुर्बलं संनिधिं बाधते, अपि तु सति विरोधे; न चात्र  
विरोधः, विद्यार्थस्यापि कर्मार्थत्वसंभवात्, ऋत्वर्थस्य स्वदि-  
रत्वस्य पुरुषार्थत्ववत् । तत्र विनियोजकवाक्ययोस्तुल्यब-  
लत्वमिति चेत्, सत्यम्, अर्थाविरोधे सति वाक्यसंनिधिभ्यां  
प्रबलदुर्बलाभ्यामपि प्रवर्ग्यस्य कर्मार्थत्वं विद्यार्थत्वं चावि-  
रुद्धम्, तत उपपन्नः संशयः । पुरुषयज्ञवत्संनिधेर्विद्याङ्गत्व-  
मिति संगतिः ॥

तत्र रक्तपटन्यायादाकाङ्क्षोत्थापनक्रमात् ।

विद्यायां निरपेक्षायामङ्गं मन्त्रादि संनिधेः ॥

फलवद्विद्यासंनिधिपठितस्य अफलमन्त्रादेस्तदङ्गत्वम् ।  
तत्र यद्यपि विद्यायाः स्वाङ्गैरेव निराकाङ्क्षत्वम्, तथापि म-  
न्त्रकर्माणिफलाकाङ्क्षाणि संनिहितविद्यान्वयमाकाङ्क्षन्ते ।  
न च साकाङ्क्षाणामन्येषामनाकाङ्क्षया विद्याया संबन्धः  
इति— तस्या अप्याकाङ्क्षामुत्थापयन्ति; उत्थाप्य च तयैकवा-  
क्यतामुपयन्ति; उपकार्योपकारकत्वमन्तरेण चैकवाक्यत्वा-

योगात् असमर्थस्य चोपकारकत्वानुपपत्तेः सामर्थ्यं कल्पयन्ति ; न च समर्थानामपि श्रुतिमन्तरेण तादर्थ्यमिति विनियोजिकां श्रुतिं कल्पयित्वा विद्याङ्गतां प्रतिपद्यन्ते । अत्राभिधीयते—

शीघ्रं कर्मान्वये जाते मन्त्रादेर्वाक्यलिङ्गतः ।

विद्ययापि न संबन्धः संनिधानाद्विलम्बितात् ॥

यावद्विद्यया सहाकाङ्क्षालक्षणप्रकरणं संनिधानेनानुमीयते, तावन्मन्त्राणां कर्मभिरलिङ्गाच्छ्रुतिः, प्रवर्ग्यस्य च वाक्यालिङ्गं कल्प्यते । यावद्विद्यायां मन्त्रकर्मणां प्रकरणाद्वाक्यं कल्प्यते, तावत्प्रवर्ग्यस्य ज्योतिष्टोमे वाक्यकल्पितालिङ्गाच्छ्रुतिः मन्त्रस्य चाभिचारे लिङ्गकल्पितश्रुत्या विनियोगः क्रियते । यावच्च प्रवर्ग्यस्य विद्यायां प्रकरणकल्पिताद्वाक्यालिङ्गं कल्प्यते तावज्ज्योतिष्टोमे लिङ्गकल्पितश्रुत्या विनियोग इति मन्त्राणां स्वाध्यायविधिग्रहणस्य प्रवर्ग्यस्य च स्वविधिपरिग्रहस्योपपत्तौ सत्यां विद्यायां लिङ्गश्रुतिविनियोगाः कल्प्यमाना लूनमूलत्वादामलूनसस्यवल्लीयन्ते । यत्तु ‘हृदयं प्रविध्य’ इत्यत्र हृदयपदं विद्यायामपि समवेतार्थमिति लिङ्गमुभयत्राप्यविशिष्टमिति । तत्रोच्यते— हृदयपदस्य विद्याकर्मणोः समवेतार्थत्वम्, इतरेषां पदानां बहूनामभिचारे समवेतार्थत्वम्, न विद्यायाम्; अतः कांस्यभोजिन्यायेन भूयसां न्यायेन च मन्त्रस्य कर्मशेषता । न च संनिध्यनुगृहीतैकपदसमवेतार्थता विद्याङ्गत्वं

गमयतीति वाच्यम्; हृदयपदस्यैवाभिचारे समवेतार्थताया इतरपदैकवाक्यतापत्तिरूपवाक्यप्रमाणानुगृहीताया बलादभिचाराथत्वावगमात्, वाक्यानुग्रहस्य संनिध्यनुग्रहाद्वलीयस्त्वादिति ॥

**हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दः-**

**स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ १५ ॥**

ताण्डिनो निर्गुणविद्यां प्रकृत्याधीयते— ‘अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि’ इति । कौषीतकिनस्तु पर्यङ्कविद्यायां सगुणायामामनन्ति— ‘तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्’ इति । तत्र संशयः— यत्र हानमेव सुकृतदुष्कृतयोः श्रूयते, तत्रोपायनं संनिपतेन्न वेति; कचिद्धानसंनिधौ उपायनस्य श्रुतत्वाद्विद्यान्तरगतत्वाच्च । यथा पूर्वत्र विद्यासंनिधौ श्रुतस्यापि मन्त्रादेर्विद्यायामसामर्थ्यादनुपसंहार उक्तः, एवं हानसंनिधौ श्रुतस्याप्युपायनस्य तदन्तरेणापि हानसंभवेन हानोपपादनसामर्थ्याभावादनुपसंहारः । तत्र—

ऋतेऽप्युपायनाद्धानसंभवात्सगुणे श्रुतम् ।

निर्गुणे नोपसंहार्य सुकृतादेरुपायनम् ॥

न तावत् ‘विधूय पापम्’ इत्यादिहानवाक्ये उपायनं श्रु-

तम् । न च पर्यङ्कविद्यायां हानसंनिधावुपायनश्रवणादत्रापि हाने तदुपसंहारः; पर्यङ्कविद्यायाः सगुणत्वात् 'अश्व इव रोमाणि' इत्यस्य च निर्गुणविद्याविषयत्वात् । न चोपायन-मन्तरेण हानानुपपत्तेर्विद्यान्तरगतमप्यानेतव्यम्; परैरस्वी-कृतयोरपि पुण्यपापयोः विद्यया— पापस्येव प्रायश्चित्तेन हानसंभवात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

विद्याभेदेऽपि सिद्धस्य स्तुत्यर्थं संक्रमाद्भवेत् ।

अश्वरोमादिवत्त्यक्तकर्मणोऽन्यैरुपायनम् ॥

विद्यान्तरविहितं ह्यङ्गं विद्यान्तरे नोपसंहियते, विधिप्रमाणकत्वादङ्गभावस्य विद्यान्तरे च विध्यभावात् । यत्पुनर्न विधीयते, किं तु स्तुत्यर्थं सिद्धतया संकीर्त्यते, तदर्थवादसामर्थ्याद्विद्यान्तरेऽप्यसति बाधके देवताधिकरणन्यायेन प्रतीयमानं न परित्यक्तुं शक्यम्; तदिह पर्यङ्कविद्यायां हानमुपायनशब्दसंनिहितमवगतम्, ताण्ड्यादिशाखायामपि निर्गुणविद्यायां सुकृतादेस्त्यागोऽश्वरोमदृष्टान्तेनाम्रातः; अश्वरोम्णां च त्यक्तानां न नाशः, किंतु अन्यत्रावस्थानम् । एवं दार्ष्टान्तिकेऽपि विदुषा परित्यक्तसुकृतादेरन्यत्रावस्थानं प्रतीयते, न प्रायश्चित्तवन्नाशः । तमुपपादयितुमपेक्ष्यमाणं परैरुपायनमुपसंहर्तव्यम् । तत्र च पराश्रितस्य कर्मणः स्वरूपेण परत्र संचारासंभवात्फलं संचरति; फलसंचारोत्तरकालं च कर्मस्वरूपलयः 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इत्यादिभिरवगम्यते । न च

परकृतस्य कर्मफलस्य परत्र संचारासंभवः; पित्रादिकृतवै-  
श्वानरेष्ट्यादिफलस्य पुत्रादिगामित्वान्नानात् । तस्मान्निर्गुण-  
विद्या हानोपायनाभ्यां स्तोतव्या । प्रयोजनं तु विदुषि सौहार्द-  
माचरितव्यम्, न दौहार्दमिति ॥

वर्णकान्तरं वर्ण्यते—

‘अथ इव रोमाणि विधूय पापम्’ इत्यादौ किं विधूननं  
सुकृतदुष्कृतयोश्चालनं किं वा हानमिति संशयः; धुनोतैः  
कम्पने प्रसिद्धत्वात् उपायनशब्दसंनिधानाच्च । पूर्वत्र वेधा-  
दिमन्त्राणां विद्यानुपयोगादनुपसंहार उक्तः, न हीह, विद्या-  
विरुद्धकर्मणां फलारम्भात् चालनस्य विद्योपयोगात् शब्दस्य  
तदर्थकत्वम् ॥

कर्मणः स्वाश्रयत्यागपरसंचारलक्षणात् ।

फलतश्चालनं लक्ष्यं लाघवेन धुनोतिना ॥

यदा ह्यमूर्तयोः पुण्यपापयोः स्वाश्रयत्याग आश्रयान्तरसं-  
चारश्चानुपपन्नः, एवं चालनमप्यनुपपन्नम्; तत्र विरुद्धार्थद्व-  
यलक्षणाद्वरं स्वफलारम्भाच्चालनमेव लक्ष्यतामिति प्राप्ते, अ-  
भिधीयते—

उपायनसमीपस्थात्त्यागो लक्ष्यो विधूननात् ।

स एव केवलालक्ष्यश्चालनानुपपत्तितः ॥

अत्यक्तयोः सुकृतदुष्कृतयोः परैरुपायनानुपपत्तेः उपाय-  
नसंनिधौ श्रुतविधूननेन त्यागो लक्षयितव्यः; तथा च केव-

लविधूननश्रवणेऽपि प्रवृत्तत्वात्तस्यैव लक्षणा युक्ता, न फल-  
प्रच्यावनस्य । न चामूर्तयोः सुकृतदुष्कृतयोः मुख्यं चालनं  
तवापि संभवति ; प्रमाणप्रापितत्वाच्च सुकृतादेः फलद्वारेण  
स्वाश्रयाद्वियोगः आश्रयान्तरसंचारश्च कल्प्यमानो न गौरव-  
दोषमावहति इति ॥

**सांपराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ १६ ॥**

देवयानमार्गमध्ये सुकृतदुष्कृतवियोगं कौषीतकिनः स-  
मामनन्ति— ‘स आगच्छति विरजानदीं तां मनसैवात्येति  
तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते’ इति । तथा ताण्डिनः पठन्ति—  
‘अश्च इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य  
धूत्वा शरीरम्’ इति । शास्त्रायनिनश्चाधीयते— ‘तस्य पुत्रा  
दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्याम्’ इत्यादि । तत्र संशयः—  
तत्र किं विरजानद्यतिक्रमानन्तरं सुकृतदुष्कृतक्षयः, किं वा देह-  
निर्याणात्प्रागेवेति ; उभयथा श्रुतेः । पूर्वत्र सिद्धं कृत्वा विद्यायाः  
कर्मक्षयहेतुत्वं हानसंनिधावुपायनोपसंहार उक्तः, इदानीं तु  
तदेवामिद्धम्, मार्गमध्ये श्रूयमाणस्य कर्मक्षयस्य विद्याहेतुक-  
त्वाभावादित्याशङ्क्यते—

तच्छब्देन परामृष्टो विरजानद्यतिक्रमः ।

तस्मादर्थेन हेतुः स्यात्पुण्यपापविधूने ॥

‘तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते’ इति तस्मादर्थतच्छब्दश्रुत्या अन-



न्तरप्रकृतस्य विरजानद्यतिक्रमस्य कर्मक्षयं प्रति हेतुत्वमभिधीयते । ताण्डिश्रुतौ तु 'विधूय' इति ब्रह्मलोकप्राप्तेः प्राक्कालत्वं विधूननस्योक्तम्, तच्चार्धपथे विधूननेऽप्युपपन्नम् । न च जीवत एव विधूननम्, जीवन्निधूयेत्यश्रवणात्; एतेन 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति' इति शास्त्रायनिश्रुतिर्व्याख्याता; तस्यामपि जीवत इत्यश्रवणात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

प्रधानं प्रकृतां विद्यां परामृशति तच्छ्रुतिः ।

अर्थात्पाठश्च बाध्येत यवागूपाकहोमवत् ॥

धर्माद्यनुष्ठानसहिताया विद्याया उत्तरमार्गेण पर्यङ्कस्थ-  
ब्रह्मप्राप्त्युपायत्वं कौषीतकिशाखायां श्रूयते । न चाप्रक्षीण-  
पाप्मन उत्तरमार्गप्राप्तिः तद्वारेण ब्रह्मलोकप्राप्तिश्च संभवति;  
तेन विद्यायाः पापक्षयहेतोरुत्तरमार्गप्रापकत्वे सिद्धे, अर्थक-  
मान्मार्गमध्ये पठ्यमानोऽपि पापक्षयः अन्यप्रत्ययानन्तरं द्र-  
ष्टव्यः । तथा च ताण्डिश्रुतौ पापविधूननानन्तरं देहमोक्ष  
उक्तः । 'अथ इव ..विधूय' इति च स्वतन्त्रस्य पुरुषस्य  
व्यापारं ब्रूते; न च परेतस्यास्ति स्वातन्त्र्यम् । यत्तु सर्वनाम-  
श्रुतेर्विरजानद्यतिक्रमस्य पापक्षयहेतुत्वमिति, तन्न । सर्वनाम्नः  
प्रकृतपरामर्शित्वात्, प्राधान्येन प्रस्तुतस्य च प्रकृतत्वात्, वि-  
द्याया एव तथात्वात्; नद्यतिक्रमस्य संनिहितस्याप्यप्रधा-  
नत्वेन प्रकृतत्वाभावादिति ॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ॥ १७ ॥

विद्योदयसमनन्तरक्षण एव कर्महानमिति प्रसङ्गागतं निरूप्य, गुणोपसंहारानुपसंहारचिन्तैव क्रियते । क्वचित्पुण्यपापहानसंनिधौ देवयानः पन्थाः श्रूयते— यथा पर्यङ्कविद्यादौ । क्वचिन्न— यथा निर्गुणविद्यायाम् ‘विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति’ इति । तत्र संशयः— किं सर्वत्र देवयानं संनिपतेन्न वेति । तत्र ‘हानौ तु’ इत्यधिकरणे क्वचिद्धानसंनिधावुक्तमुपायनं केवलहानश्रवणेऽप्युपसंहर्तव्यमित्युक्तम् ; एवं क्वचित्पुण्यपापहानसंनिधौ उक्तां गतिं केवलापिश्रुतहानिरुपस्थापयतीत्याशङ्क्यापोद्यते ॥

विमतो गतिमान्विद्वत्पुण्यपापक्षयत्वतः ।

पर्यङ्कब्रह्मविद्यास्थपुण्यपापक्षयो यथा ॥

न च ‘निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति’ इत्यागमेन विरोधः ; पुण्यपापक्षयानन्तरं देवयानेन पथा ब्रह्मलोकप्राप्तौ निरञ्जनस्य परमसाम्योपपत्तेः । अत्रोत्तरम्—

बोधादबोधविध्वस्तौ सिद्धब्रह्मात्मलाभतः ।

बोधस्य चेह निष्पत्तेर्ब्रह्मलोकगतिर्वृथा ॥

ब्रह्मप्राप्त्यर्थं वा ब्रह्मलोकगतिः, ब्रह्मविद्यार्थं वा ; नाद्यः, अज्ञातब्रह्मभावस्य ज्ञानादज्ञानदाहात् इहैव प्राप्तेः । न द्वितीयः, यमनियमादिमत इहैव श्रवणादिभिर्ज्ञानोत्पत्तेः । अनुमानं तु सगुणविद्यागतत्वेन सोपाधिकम् ; विमतं पुण्यपापहानं न

गतिमत्, निर्गुणविद्यासाध्यपुण्यपापहानत्वात्, मुच्यमान-  
 हिरण्यगर्भपुण्यपापहानवत्— इति सत्प्रतिपक्षं च । न च  
 हिरण्यगर्भस्यान्त्यकाले विद्यानिरस्यपुण्यपापासंभवः; प्राग्भ-  
 वीयपुण्यादेः प्रसुप्तस्य संभवात् । ब्रह्मविद्ययेव उपास्या सर्वक-  
 र्मक्षये सति उपास्तेरपि पुण्यत्वेन निवृत्तिप्रसङ्गात् ; तस्मादु-  
 पास्तिफलप्राप्तिप्रतिबन्धककर्मणामुपास्तिनिवर्तिका, न सर्वस्य ।  
 अत्र च निर्गुणविद्यायामनुमानाद्गतिराशङ्क्य निरस्ता । बाद-  
 र्यधिकरणे तु ब्रह्मशब्दस्य मुख्यत्वादिभिर्गतिमाशङ्क्य तेषा-  
 मनन्यथासिद्धब्रह्मलोकश्रुत्यादिभिर्बाधोऽभिधास्यत इत्यपौन-  
 रुक्तिः ॥

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दा-

नुमानाभ्याम् ॥ १८ ॥

सगुणासु विद्यासु कासुचिद्गतिरर्चिरादिका श्रूयते— यथा  
 पर्यङ्कविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायामुपकोसलविद्यायां दहरविद्यायां  
 च । कचिन्न श्रुता— यथा मधुविद्यायां शाण्डिल्यविद्यायां  
 षोडशकलविद्यायां वैश्वानरविद्यायामिति ॥

अहंप्रहा इमाः सर्वा ब्रह्मलोकाप्तिसाधिकाः ।

विद्युल्लोकाप्तिपर्यन्तं प्रतीकोपासनाफलम् ॥

तत्र संशयः— किं यत्र श्रुता गतिः तत्रैव व्यवतिष्ठते,  
 उत सर्वसगुणविद्यासु साधारणीति ; प्रकरणात् सगुणविद्या-

फलस्य ब्रह्मलोकादेर्गत्यपेक्षत्वलिङ्गाच्च । ननु लिङ्गप्रकरणाभ्यां प्रबलदुर्वलाभ्यां कथं संशयः ? उच्यते, लिङ्गस्य सामान्यसंबन्धसापेक्षत्वात् अत्र च तदभावादुर्वलत्वं शङ्क्यते । पूर्वत्र सगुणनिर्गुणविद्यासु गतिव्यवस्था उक्ता, तद्वत्सगुणास्वपि विद्यासु गतिव्यवस्थाप्राप्तौ तदपवादात्संगतिः । तत्र—

प्रक्रियातो नियम्येत मार्गोक्त्यापत्तिरन्यथा ।

सर्वत्र च पथिप्राप्तौ द्विराम्नानमनर्थकम् ॥

प्रकरणस्य धर्मानियामकत्वे दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमधर्माणामन्योन्यत्र संकरप्रसङ्गः ; एकत्र श्रुतस्य च पथः सर्वत्र प्राप्तौ एकस्यां शाखायां पञ्चाग्निविद्यायामुपकोसलविद्यायां च संपूर्णार्चिरादिमार्गो नाभ्यस्येत । ‘सत्यमुपासते’ इति तु वाक्ये सत्यशब्देन यथादृष्टसत्यवचनमभिधीयते, न ब्रह्म ; उपाख्यस्य मिथ्यात्वादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

वाक्यात्प्रकरणं बाध्यमिहान्यत्र नियामकम् ।

मार्गाभ्यासस्तु चिन्तार्थो विद्ययोरुभयोरपि ॥

असति विरोधे प्रकरणस्य धर्मानियामकत्वमिष्यत एव । इह तु ‘ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्ति’ इति वाक्यं सर्वविद्यासु गतिसंबन्धमवबोधयति । तद्विरोधे प्रकरणं गतिं न नियन्तुमर्हति । यद्यप्युपाध्युपहितं मिथ्या, तथापि यस्योपाधिसंबन्धः तत्सत्यशब्दार्थः । एतदुक्तं

भवन्ति— सत्यं ब्रह्म उपाधिनावच्छिद्योपासत इति । इतरथा सत्यं मुक्त्वा तद्वचनपरत्वे गौरवम् । गत्यभ्यासस्तु पञ्चामि-  
विद्योपकोसलविद्ययोः यावदुक्तानुचिन्तनार्थः । तस्मात्कचि-  
दुक्तगतेः सर्वब्रह्मोपास्तिपूपसंहारः ॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥

निर्गुणविद्यायां गतिं प्रतिषिध्य सगुणविद्यायां गतिप्रयोज-  
कैश्वर्यविशेषदर्शनाद्गतिरर्थवतीत्युक्तम् । सगुणासु विद्यासु  
गतेः सार्वत्रिकत्वं वर्णितम् । इदानीं निर्गुणविद्याया अपि  
मोक्षहेतुत्वानुपपत्तेरैश्वर्यविशेषहेतुत्वम् ऐश्वर्यविशेषश्च न गति-  
मन्तरेणेत्यभिहितव्यवस्थाक्षेपेण प्रत्यवस्थीयते ॥

विद्यावतोऽपि व्यासादेरप्रवृत्तक्रियाकृतम् ।

अस्ति देहान्तरं तस्माद्विद्या मुक्तेर्न साधनम् ॥

व्यासशरीरम् अपान्तरतमःशरीरारम्भककर्मातिरिक्तकर्मा-  
रब्धम्, अपान्तरतमःशरीरादन्यत्वे सति शरीरत्वात्, वसि-  
ष्ठशरीरवत् । तत् उत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्याप्यनारब्धफलक-  
मारब्धशरीरग्रहणदर्शनात् ब्रह्मविद्यायाः मोक्षः फलमिति  
प्राप्ते, अभिधीयते—

नानादेहोपभोक्तव्यमीशोपासनयैकया ।

आरब्धं प्रतिबन्धः स्यादैश्वर्यं ब्रह्मवेदिनः ॥

न हि हेतोरपि सति प्रतिबन्धे कार्यानुपजनिः प्रतिक्षि-

पति हेतुताम् । न हि सेतुप्रतिबद्धा आपः न निम्नदेशमभिसर्पन्तीति सेतुभङ्गेऽपि न प्रसर्पन्ति । तदिह प्रवृत्तफलया कर्मसहितेश्वरोपासनया विरचितेन युगपत्क्रमेण वा नानादेशोपभोगैश्वर्येण विद्याकर्मारोधनपरितुष्टेश्वरदत्तेन प्रतिबद्धा विद्या न फलं जनयति, भोगेन तत्क्षये च दास्यति, 'तस्य तावदेव चिरम्' इति श्रुतेर्व्यासादिष्वप्यविशेषात् । अनुमाने तु व्यासशरीरम् अपान्तरतमःशरीरारम्भकत्वरहितकर्मरब्धं न भवति, व्यासापान्तरतमःशरीरान्यान्यत्वात्, अपान्तरतमः-शरीरवदिति सत्प्रतिपक्षतेति ॥

**अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावा-  
भ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ २० ॥**

वाजसनेयके श्रूयते— 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वहस्वम्' इत्यादि । तथाथर्वणे— 'यत्तद्रेश्यम्' इत्यादि । एवमन्यत्रापि प्रपञ्चप्रतिषेधाः कचिदधिकाः कचिन्न्यूनाः । तत्राधिका इतरत्रोपसंहर्तव्याः, उत नोपसंहर्तव्या इति संशयः, उपसंहारप्रयोजनसंभवासंभवाभ्याम् । पूर्वत्राधिकारिकाणां प्रारब्धकर्मण एव शरीरान्तरारम्भसंभवान्न कर्मान्तरस्य निमित्ततेत्युक्तम् । एवमिहापि तत्तत्प्रकरणपठितनिषेधत एवोपलक्षणतया सर्वप्रपञ्चनिषेधसिद्धेर्न शाखान्तरीयनिषेधानां शाखान्तरे ब्रह्मप्रमितिहेतुत्वम् । नन्वानन्दादिवन्निषेधोपसंहारः किं न स्यात् ? नेत्युच्यते ;

भवेद्ब्रह्मस्वरूपत्वादानन्दाद्युपसंहृतिः ।

निषेधानामनात्मत्वात्किमर्थमुपसंहृतिः ॥

न चास्वरूपाणामपि स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमुपसंहारः । यस्मात्—

आनन्त्येन निषेध्यानां तन्निषेधधियामपि ।

असंख्येयतयैकत्र नोपसंहारसंभवः ॥

स्थालीपुलाकवत्किञ्चिन्निषेधेनान्यलक्षणे ।

श्रुतमात्रेण तत्सिद्धेरुपसंहरणं वृथा ॥

इति प्राप्ते, अभिधीयते—

प्रतिषेध्या अनात्मानोऽप्यात्मलक्षणतां गताः ।

आत्मप्रमितिसिद्धयर्थं संयास्यन्त्यश्रुतस्थले ॥

न च निषेधानन्त्यादनुपसंहारः ; यतः—

प्रतिषेध्यः प्रपञ्चोऽत्र भूतं वा भौतिकानि वा ।

इन्द्रियाणि शरीरं वाविद्या वा विश्वकारणम् ॥

एषां परिमितत्वेन निषेधपरिमेयतः ।

साकाङ्क्षेषु निषेधेषु गच्छेयुः पूर्तये परं ॥

इयदामननात् ॥ २१ ॥

‘द्वा सुपर्णा’ इति मन्त्रमार्थवर्णिकाः श्वेताश्वतराश्च पठन्ति ; कठाश्च ‘ऋतं पिबन्तौ’ इति । अत्र विद्याया एकत्वं

नानात्वं वेति संशयः ; एकत्र द्वयोः पातृत्वेन, अन्यत्रैकस्या-  
नशितृत्वप्रतिपादनेन च स्वरूपभेदात्, द्वित्वोपेतवस्त्वैक्य-  
प्रत्यभिज्ञानाच्च । सर्वत्र निर्गुणवाक्ये ब्रह्मपरत्वसिद्धौ विद्या-  
न्यत्वशङ्कानवतारात् कचिद्ब्रह्मपरत्वेन कचिदंब्रह्मपरत्वेन च  
विद्यानानात्वचिन्ता । ननु 'गुहां प्रविष्टौ' इत्यत्र ऋतपाननि-  
श्चितजीवद्वितीयता तत्स्वरूपपरमात्मन एवेति जीवेश्वरपरत्वं  
निर्णीतम्, 'द्वा सुपर्णा' इति मन्त्रे तन्न्यायमेकदेशिमतेऽति-  
दिश्य पैङ्ग्युपनिषत्कृतव्याख्यानेनासंसारिब्रह्मात्मतां जीवस्या-  
यंमन्त्रः प्रतिपादयति न जीवेश्वरौ भेदेनेति विद्याभेदो निर्धा-  
रितः । तत्र विद्यैकत्वसिद्धान्तः पूर्वापरविरोधी ; कृत्वाचिन्त-  
या च तुल्यार्थत्वाश्रयणे जीवेश्वररूपार्थैक्याद्विद्यानानात्वपूर्व-  
पक्षानुत्थानमिति । तदुच्यते—

बुद्धौ निक्षिप्य कर्तृत्वमसंसारीश्वरात्मना ।  
जीवोऽभिधीयते यद्वद्वा सुपर्णेति मन्त्रतः ॥

बुद्ध्युपाधिकजीवादप्यधिकेश्वरवर्णनात् ।  
अनुपाधिः स एवेश ऋतमन्त्रे तथेरितः ॥

तस्मादेकविद्यात्वसिद्धान्तो न विरुद्धः । पूर्वत्र प्रतिपाद्य-  
ब्रह्मैक्यप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैक्ये अक्षरधियामुपसंहार उक्तः । इह  
तु प्रतिपाद्यभेदाद्विद्याभेदः ॥

एकत्राभोक्तृभोक्तारौ भोक्तारावपरत्र च ।  
गम्येते लक्षणा मुख्यसंभवे न च युज्यते ॥



न च 'पिबन्तौ' इत्यत्र छत्रिन्यायेन पिबदपिबतोः लक्षणा ; मुख्यार्थसंभवे तदाश्रयणायोगात् । न च 'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्' इति वाक्यशेषात्तदाश्रयणम् ; संदेहे हि वाक्यशेषान्निर्णयः, न च मुख्यलक्षणिकग्रहणविषयो विशयः संभवति । 'अन्यत्र धर्मात्' इति प्रकरणस्य च बलीयसा 'पिबन्तौ' इति वाक्येन बाधात् न तद्वलेनापि लक्षणा । अत एव गुहांप्रविष्टाधिकरणेन न पुनरुक्तिः । तस्मादेकत्र भोक्तृद्वयोपास्तिः अन्यत्राभोक्तृब्रह्मात्मत्वविद्येति प्राप्ते, अभिधीयते—

उत्पत्तौ द्वित्वविज्ञानात्साम्ये नैसर्गिके सति ।

उपक्रमोपसंहारात्पिबत्ता बाध्यते द्वयोः ॥

विद्योत्पत्तिसमय एव मन्त्रद्वयेऽपि 'द्वाँ' इति 'पिबन्तौ' इति च द्वित्वप्रतीतेः समानता औत्सर्गिकी । तयोपक्रमोपसंहारसंवलितया 'पिबन्तौ' इत्येतच्छत्रिन्यायेन पिबदपिबत्समुदायं प्रति समूहिनौ लक्षयति । तत्र 'द्वा सुपर्णा' इति मन्त्रे जीवगतं कर्तृत्वं बुद्धौ निक्षिप्य निरुपाधिको जीवो ब्रह्मत्वेन निरूप्यते । 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्र तु औपाधिके जीवे कर्तृत्वमुक्त्वा उपाधिविनिर्मुक्तः स एवाभोक्तृपरमात्मभावेन निरूप्यत इत्युक्तमेव । अतो न बुद्धिजीवनिर्देशमात्रेण त्रिव्याभेदः । प्रयोजनं तु कठवल्लीषु 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादिना ह्यात्मनो धर्माद्यत्यय उक्तः, मुण्डके 'यत्तदद्देश्यम्' इत्यादिनोक्तमदृश्यत्वादि । श्वेताश्वतरीयेऽपि 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं

शरीरम्' इत्यादिनात्मविद्याङ्गत्वेन योग उक्तः । तस्य सर्वस्य शास्त्रत्रयेऽप्युपसंहारः ॥

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ २२ ॥

‘यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व’ इत्येवं द्विरुषस्तिकहोलप्रश्रयोनैरन्तर्येण वाजसनेयिनः समामनन्ति । तत्र संशयः— एका विद्या नाना वेति ; अभ्यासात्, सर्वान्तरत्वप्रत्यभिज्ञानाच्च । पूर्वत्र ‘पिबन्तौ’ इत्यस्य लाक्षणिकत्वमुपादाय मन्त्रद्वयेऽपि भोक्तृभोक्तृपरत्वेनार्थैक्याद्विद्यैक्यमुक्तम् । इहार्थैक्येऽपि न विद्यैक्यम्, अभ्यासात्— इति रूपैक्यस्यापवादमभ्यासमाशङ्क्य प्रतिविधानं क्रियते—

पुनःश्रुत्यर्थवत्त्वाय प्राणादिव्यतिरेकिणः ।

एकत्रोपासनान्यत्र बुभुक्षाद्यतिलङ्घिनः ॥

उषस्तिप्रश्ने हि ‘यः प्राणेन प्राणिति स आत्मा सर्वान्तरः’ इत्यादिना प्राणादिव्यतिरिक्त आत्मा उपास्यः, कहोलप्रश्ने तु ‘योऽशनायापिपासे अत्येति’ इत्यादिना स एवाशनायाद्यतीतो ध्येयः । स्यादेतत्, यथैकस्यामपि विद्यायाम् ‘तत्त्वमसि’ इति वेद्यं ब्रह्मात्मैक्यं नवकृत्वोऽभ्यस्यते तत्तदाशङ्कानिराकरणेन, एवमत्रापीति । तथाहि— सुषुप्त्युत्क्रान्त्याद्यवस्थासु येन रूपेण जीवः संपद्यते तत्सदसीति पित्रा बोधितः श्वेतकेतुराशङ्कते— सुषुप्तौ सत्संपन्नाः जीवाः

सद्ब्रह्मात्मत्वं किमिति न विदुरिति । अत्रोत्तरं पित्रो-  
 क्तम्— यथा नानावृक्षरसा मधुमक्षिकाभिर्मधुत्वेन समा-  
 हृता न विवेक्तुं शक्यन्ते— अयम् आम्रस्य रसः अयं  
 पनसस्येति, तत्र यथा मधुराम्लादिरसभेदः सन्नपि नोपल-  
 भ्यते, एवं सुषुप्त्यादौ प्राप्तमपि ब्रह्म न वेद्यत इति । ननु  
 युक्तं सुषुप्तौ करणाभावादविज्ञानम्, उत्थितस्तु ब्रह्मणो-  
 ऽहमुत्थित इति कस्मान्न वेद—यथा स्वगृहे सुप्तस्तत उत्थानम् ।  
 उत्तरम्— यथा नद्यो जलधरैरम्बुधेराकृष्य वृष्टाः पुनः समु-  
 द्रं प्राप्ता न विदुः— समुद्रादागता वयं समुद्रे क्षिप्ता इति ।  
 जलधराकर्षणे हि रसान्यत्वात्समुद्रात्मत्वं नदीनां दुर्ज्ञानम्,  
 एवमुत्थितानां संसारिणां ब्रह्मवैलक्षण्यात्तदात्मनावस्थाय उ-  
 त्थिता वयमिति न ज्ञानमित्यर्थः । सुषुप्तौ जीवस्य कारणभाव-  
 प्राप्तौ समुद्रवीच्यादिवन्नाशमाशङ्क्योक्तम्— यथा वृक्षस्य  
 परश्चादिना च्छेदे रसस्त्रावित्वात्सजीवत्वम्, एवं सुषुप्तौ देहे-  
 ऽपि लोहितदर्शनान्न जीवनाश इति । सूक्ष्माद्ब्रह्मणः कथं  
 स्थूलजगदुत्पत्तिरिति शङ्का वदधानान्तर्गतसूक्ष्मरूपाद्वटस्यो-  
 त्पत्त्या निरस्ता । जगन्मूलं ब्रह्म किमिति नोपलभ्यत इत्या-  
 शङ्क्य, उदकप्रक्षिप्तलवणघनस्य दर्शनस्पर्शनाभ्यामनुपलम्भे-  
 ऽपि रसाल्लवणसद्भावनिश्चयवच्चक्षुराद्यदृश्यमपि ब्रह्म कार्यलि-  
 ङ्गादस्तीत्युक्तम् । ब्रह्मसाक्षात्कारे क उपाय इत्याशङ्क्य, गा-  
 न्धारदेशादरण्ये चोरैर्निक्षिप्तस्य बद्धचक्षुषः पुरुषस्य नेत्रब-  
 न्धननिर्मुक्तौ गान्धारोपदेशगमनवदाचार्यकृताद्ब्रह्मात्मत्वोप-

देशाद्ब्रह्मसाक्षात्कारोऽविद्यानिवृत्तिश्चेत्युक्तम् । स विद्वान्केन क्रमेण ब्रह्म संपद्यत इत्यपेक्षायाम्, विद्वान्वाङ्मनसादेर्लये ज्ञानं दीपप्रकाशितं ब्रह्म इहैव प्रतिपद्यते, नार्चिरादिकमपेक्षते; अविद्वांस्तु देहान्तरं गृह्णातीत्युक्तम् । यदि मरिष्यमाणो मोक्षमाणश्च ब्रह्म संपद्यते, तर्हि विद्वानप्यविद्वानिव किमिति नावर्तत इति ? उत्तरम्— तत्परशुं गृह्णतोः स्तेनास्तेनयोः तत्परशुकरतलसंयोगाविशेषेऽपि सत्यव्यवहितहस्ततलत्वादस्तेनो न दह्यते, स्तेनस्तु दह्यते, तेन आत्मन्यारोपितचोरत्वस्य परशुहस्ततलव्यवधायकत्वाभावात् । एवमन्त्यकाले विद्वद्विदुषोः समानायामपि सत्संपत्तौ सत्यब्रह्माभिसंधी पुनर्न देहं गृह्णाति, अनृतदेहाद्यात्मबुद्धिस्तु पुनरपि शरीरमुपादत्त इति । एतेन च 'आशङ्कान्तरनिराकरणेन च असकृदुपदेशोपपत्तेः' इति भाष्यं व्याख्यातम् । अत्र 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' इति पूर्वापरसाकाङ्क्षत्वावगमाद्विद्यैक्यम् । न च प्रस्तुतेऽस्ति तद्विद्यैक्यकारणम्; यदेव साक्षादित्येवकारस्य यत्साक्षादेव न कदाचित्परोक्षमित्येवमर्थत्वात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

प्राप्ते विधेरनुपपत्तिरिदं तु सिद्धं

पथ्यं पुनःपुनरपि प्रतिपादनीयम् ।

प्राणादिभित्तिरशनादिनिवृत्तिरर्थो

भिन्नौ समं च सकलान्तरमत्र वस्तु ॥

अत्र हि 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः' इति प्रश्ने 'एष

त आत्मा सर्वान्तरः' इति प्रतिवचने च प्रसिद्धं वस्तु निरूप्यते, नोपास्तिर्विधीयते ; तत्र विधेः प्रवर्तकत्वेनाप्राप्तं गोचरः, प्राप्तौ तु तत एव प्रवृत्तेस्तद्वैयर्थ्यमिति समिदादौ भेदकत्वम् ; वस्तुस्वरूपं तु हितं पुनःपुनरुपदिशन्त्यादरेण प्रतिपत्त्यर्थमाप्ताः, विशेषतस्तु वेदः पितृभ्यामभ्यर्हितः । न च सर्वथा पौनरुक्त्यम् ; उषस्तिब्राह्मणे आत्मनः प्राणादिभेदप्रतिपादनात् कहोलब्राह्मणे चाशनायाद्ययाम्नानात् ; तेन 'तत्त्वमसि' इतिवदत्राप्यभ्यासः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । यथा च तत्र 'भूय एव' इत्येकवाक्यताप्रतीतिः एवमत्रापि 'यदेव' इत्येवकारात् । यत्साक्षादेवेत्यन्वये तु व्यवहितान्वयः स्यात् । अपि च सर्वान्तरत्वादिरूपात्मोभयत्र प्रत्यभिज्ञायते । तस्मादेका विद्येति ॥

व्यतिहारो विशिषन्ति हीनरवत् ॥ २३ ॥

'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' इत्यत्र जीव एवेश्वरदृष्टिर्विधीयते, उतेश्वरेऽपि जीवदृष्टिरिति संशयः ; उत्कृष्टे निकृष्टदृष्टिर्न फलवतीति न्यायात्, व्यतिहाराम्नानाच्च । पूर्वत्र विद्यैक्येऽप्यभ्यास आदरार्थ इत्युक्तम् । अत्रापि तथा ॥

ईश्वरस्य निकर्षः स्यात्संसारित्वेन दर्शने ।

अभ्यासस्त्वादरार्थः सन्द्रढयत्येकतां तयोः ॥

उत्तरम्—

ईश्वरस्यापि जीवत्वमुपास्यं वचनादिह ।

दृष्टे रूपाविनाशित्वान्नेश्वरे स्यान्निकृष्टता ॥

यथा हि वस्तुतो निर्गुणं ब्रह्म सगुणत्वेन वचनादुपास्यते,  
नैतावतास्य निकर्षः; एवमत्रापि जीवरूपेण दृष्टिरीश्वरस्य  
नोत्कृष्टरूपं नाशयति । तस्मादन्योन्यमेकत्वं ध्यातव्यम्;  
आर्थिकं त्वेकत्वं न निवार्यते । सत्यकामत्वादिगुणोपास्ति-  
विधाविव तद्गुणेश्वरसिद्धिः ॥

उत्कृष्टब्रह्मदृष्टिर्या निकृष्टेष्वभिधास्यते ।

सा साधारणवाक्येषु नेदं साधारणं वचः ॥

**मैव हि सत्यादयः ॥ २४ ॥**

‘स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद जयतीमाँल्लोकान्’ इति  
सत्यविद्यामाम्नाय, अनन्तरं पठ्यते— ‘तद्यत्तत्सत्यमसौ स  
आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्योपनिषदहरिति हन्ति  
पाप्मानं य एवं वेद यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्योपनिषद-  
हम्’ इति; अत्रापि पापहानमेव फलमिति । तत्र संशयः—द्वे  
इमे विद्ये, उतैकेति; फलभेदश्रवणात् ‘तद्यत्तत्सत्यम्’ इति  
प्रकृताकर्षणाच्च । पूर्वत्र जीवब्रह्मणोरितरेतरात्मत्वनिर्देशभेदा-  
द्विरूपा मतिः कर्तव्येत्युक्तम्; एवमिहापि ‘जयतीमाँल्लोकान्’  
इति, ‘हन्ति पाप्मानम्’ इति च फलभेदनिर्देशाद्विद्याभेदः ॥

प्रकृताकर्षणाद्ध्येयभेदाभावेऽपि भिद्यते ।

उपास्तिः साध्यभेदेन नित्यकाम्यार्थशास्त्रवत् ॥

‘तद्यत्तत्सत्यम्’ इति प्रकृताकर्षणेनोपास्यरूपोपास्यनुबं-

धाभेदेऽपि फलभेदादुपासनाभेदः ; ‘यावज्जीवं दर्शपूर्णमा-  
साभ्यां यजेत’ ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत’ इति  
शास्त्रयोरिवाधिकाररूपसाध्यभेदाद्भेद इति प्राप्ते, अभिधीयते—

साधिकारे विधावङ्गफलोत्तरर्थवादता ।

अर्थवादात्फले कल्प्ये सर्वं तत्स्यात्प्रधानगम् ॥

प्रकृताकर्षणात्तावदनुबन्धैक्याद्विद्यैक्यमवगतम् । न च फ-  
लभेदः ; यतः ‘जयतीमाँल्लोकान्’ इत्यादिना प्रधानविधौ फल-  
वति जाते ‘तस्योपनिषदहः... अहम्’ इति यद्रहस्यनामो-  
पासनमङ्गं तत्प्रशंसार्थोऽर्थवादः ‘हन्ति पाप्मानम्’ इत्या-  
दिः । अथैवं कामपदाभावेन पुरुषस्य कर्मण्यैश्वर्यरूपस्याधि-  
कारस्याश्रवणात्सन्न्यायेनार्थवादात्फलकल्पनम् , ततोऽमुकं  
फलं प्रधानस्य इत्यगृह्यमाणविशेषत्वाद्वाक्यशेषगतसर्वकामफ-  
लस्य संवलिताधिकारकल्पनया सर्वफलयुक्तमेकमुपासन-  
मिति ॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥

‘अथ यदिदमस्मिन्न्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरो-  
ऽस्मिन्नन्तराकाशः’ इति प्रक्रम्य छन्दोगा अधीयते— ‘एष  
आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपि-  
पासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः’ इत्यादि ; वाजसनेयिनस्तु  
‘स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य  
एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते सर्वस्य वशी’ इत्यादि ।



नत्र संशयः— किमितरेतरत्र गुणानामनुपसंहारः, उतोपसंहार इति; रूपभेदाद्ब्रूयादिसाम्याच्च । पूर्वत्र ‘तद्यत्तत्सत्यम्’ इति प्रकृताकर्षणेन रूपाभेदाद्गुणोपसंहार उक्तः, इह तु रूपभेदाद्गुणानुपसंहारः ॥

उपास्यं कचिदाकाशं ज्ञेयमन्यत्र तद्रूपम् ।

सगुणे निर्गुणे तुल्यगुणतेति पराहतम् ॥

दहराकाशस्य हि छान्दोग्ये उपास्यत्वम् । वाजसनेयके त्वाकाशाश्रितस्यात्मनो निर्गुणस्य ज्ञेयत्वम् ‘असङ्गो ह्ययम्’ इत्युक्तत्वात्; अतो न गुणोपसंहार इति प्राप्ते, अभिधीयते—

दहराकाश आत्मैव हृदाकाशेऽपि वर्णितः ।

अन्तर्भावस्तुतिभ्यां स्यादुपसंहारवर्णनम् ॥

वाजसनेयके हि निर्गुणोऽप्यात्मा सगुणदशायां छान्दोग्ये उक्तेरायतनादिसाम्योपस्थापितैः सत्यकामादिभिः स्तूयते, स्तुतेर्दृष्टद्वारा कर्तुं शक्यत्वाच्च; एकत्र ध्येयत्वेन विहितानामप्यन्यत्र स्तुत्यर्थत्वाविरोधः । न च निराकाङ्क्षाणां स्तुत्यर्थकत्वकल्पनानुपपत्तिः; आयतनादिसाम्योपस्थापितगुणैरेवाकाङ्क्षोत्थापनात् । न चाविहिते स्तुतिवैयर्थ्यम्; स्तुतिकृतादरेण स्तुत्यप्रमित्यतिशयोपपत्तेः । वशित्वादयस्तु उत्पत्तावेव निर्गुणवस्तुस्तुत्यर्था इति सगुणेऽप्यायतनादिसाम्येनोपस्थापिताः स्तुतिमेव कुर्वन्ति नोपास्येरन्; उपास्यत्वस्यापूर्वत्वेन विध्ये-



कगम्यत्वात् । स्तुतिरप्येषां न शब्दतस्तत्र नयनमपेक्षते, सत्य-  
कामत्वादिसामर्थ्यादेव वशित्वादिसिद्धेः । न च विधिपदस-  
मभिव्याहारमन्तरेण दूरस्थैः स्तुत्यसंभवः; विधिपदैकवाक्य-  
तायां हि अर्थवादानामयं नियमः ॥

वाक्यैकवाक्यतायां हि प्रयाजाद्यङ्गवस्तुतिः ।

वाक्यान्तरगताप्यर्थसाम्याद्वाक्यान्तरं व्रजेत् ॥

केचित्तु वशित्वादेः प्रपञ्चोपाधिकस्य निर्गुणे वेद्यत्वानुप-  
पत्तेः प्रशंसामात्रेण चरितार्थत्वानुपपत्तेः आयतनादिसाम्यकृ-  
तसंनिध्युत्थापितेन सगुणब्रह्मण आकाङ्क्षामुत्थाप्य सगुणब्र-  
ह्मणो वशित्वादिगुणानां चोपास्यत्वयोग्यानामेकवाक्यता;  
एवं सत्यकामत्वादिना निर्गुणस्य ब्रह्मण आकाङ्क्षामुत्थाप्य  
स्तुत्यस्तावकत्वयोग्यतया एकवाक्यतेति वदन्ति । प्रयोजनं  
तु सत्यकामत्वादिभिः सगुणदशायां विद्यमानैर्निर्गुणब्रह्म-  
ण्यविद्यमानैः पूर्वावस्थामपेक्ष्य निर्गुणस्य स्तुतिः, वशित्वा-  
दिभिस्त्वन्तर्भावेन सगुणदशायां विद्यमानैः सगुणब्रह्मणः  
स्तुतिः ॥

आदरादलोपः ॥ २६ ॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते—‘तद्यद्वक्तं प्रथम-  
मागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय  
स्वहा’ इत्यादि; तत्र पञ्च प्राणाहुतीः श्रावयित्वा तास्वग्निहो-

त्रशब्दः प्रयुक्तः— ‘य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति’ इति, ‘यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवं सर्वाणि भूतानि अग्निहोत्रमुपासते’ इति च । तत्र संशयः— किं भोजनलोपे प्राणाग्निहोत्रस्यालोपः, उत लोप इति ; तदर्थं च किं भोजन-माश्रित्य प्राणाहुतिर्विधीयते, उत तत्रैव भक्तविधिरिति ; ‘तद्व-द्वक्तम्’ इति भोजनार्थभक्तसंयोगात्, ‘पूर्वोऽतिथिभ्योऽशनी-यात्’ इति भोजनकालादपकर्षाच्च । पूर्वत्रोपास्तिलोपेऽपि स्तु-त्यर्थत्वेन गुणालोप उक्तः ; तद्वदिहापि पूर्वोऽतिथिभ्य इत्यादि-स्तुत्युपपत्त्यर्थं भोजनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रालोप इत्यवान्तरसं-गतिः । चिन्ताया उपास्तिगोचरत्वाभावेऽपि वैश्वानरविद्यासं-न्धिप्राणहुतिविषयत्वादास्ति परंपरया पादसंगतिः ॥

आहुतेरन्यकालत्वान्न भुज्यर्थान्ननिष्ठता ।

नाप्येकदेशद्रव्यत्वमत एवानपेक्षणात् ॥

‘सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते’ इत्यतिथीनां प्राणाग्नि-होत्रमुक्तम्, तत्संनिधौ ‘पूर्वोऽतिथिभ्योऽशनीयात्’ इत्यशनमु-च्यमानं प्राणाग्निहोत्रमेव स्वामिभोजनं चातिथिभोजनात्प-रस्ताद्विहितम्, एवं च स्वामिभोजनादन्यकालीनस्य स्वामि-प्राणाग्निहोत्रस्य न भोजनप्रयुक्तभक्तोपजीवित्वेनाप्रयोजक-त्वम् ; किं तु भोजनाभावेऽपि भक्तं प्रयुज्जीत ; ‘तद्वक्तम्’ इति तु वाक्यं कौण्डपायिनामयनवदग्निहोत्रनाम्ना मुख्याग्निहोत्रध-र्मस्य पयआदेः प्राप्तौ भक्तद्रव्यताविधानार्थम् ; विहिते च

भक्ते 'प्रथममागच्छेत्' इति भोजनार्थभक्तकीर्तनं तावत्प्रशे-  
ऽनुवादः । तन्नियामकभोजनाभावेऽपि प्राणाग्निहोत्रविधेर्दे-  
र्शितत्वात् । एतेन 'उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति' इतिवद-  
न्यार्थद्रव्यैकदेशाश्रितत्वादप्रयोजकत्वं निरस्तम् । उत्तरार्धं हि  
प्रयोजकपुरोडाशज्ञानादृते न शक्यं ज्ञातुमिति न स्विष्टकृत्प्र-  
युक्तम् ; भक्तं तु प्राणाहुत्यङ्गं विनापि भोजनज्ञानेन वर्णितेन  
मार्गेण शक्यं ज्ञातुमित्येवं प्राप्ते, अभिधीयते—

तच्छब्दः प्रकृतापेक्षो भुज्यर्थान्नं परामृशेत् ।

अग्निहोत्रपदं त्वर्थवादस्थं नातिदेशकम् ॥

'तद्धोमीयम्' इत्यत्र तच्छब्दस्य 'तद्यद्भक्तम्' इति प्रकृतभो-  
जनार्थभक्तमादायैवाभिधानपर्यवसानात्सापेक्षत्वम् ; अतश्चोत्त-  
रार्धवदप्रयोजिका प्राणाहुतिः, न भोजनाभावे भक्तागमनं प्र-  
योक्तुमर्हति । यत्तु अग्निहोत्रशब्दात्पयआदिप्राप्तौ तद्वाधया भ-  
क्तद्रव्यविधायकम् 'तद्यद्भक्तम्' इति वाक्यं न भोजनार्थभ-  
क्तानुवादकमिति ; तन्न ; कौण्डपायिनामयने हि विध्युद्देशग-  
ताग्निहोत्रशब्दो गौणः साध्यसादृश्यं विदधत् धर्मान्प्रापयेत्,  
अयं त्वर्थवादगतः सिद्धं किञ्चित्सादृश्यमनूद्य स्तुत्यर्थस्तद्वद्भा-  
वं न विदधीत । यत्तु अग्निहोत्रस्य कालान्तरे विधानात् न  
भोजनार्थभक्तमात्राश्रितत्वमिति ; तदुच्यते—अशनं तत् ना-  
ग्निहोत्रम् ; अतिथ्यग्निहोत्रसमभिव्याहारात्स्वाग्निहोत्रतां परि-  
कल्प्य भोजनकालादपकर्षस्तच्छब्दश्रुतिविरुद्ध इति ॥

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्य-

प्रतिबन्धः फलम् ॥ २७ ॥

‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ इत्यादीनि कर्माङ्गाश्रितोपासनानि नित्यान्यनित्यानि वेति संशयः; अङ्गाश्रितेषु पर्णमयतादिषु नित्यत्वदर्शनात्, गोदोहनादिष्वनित्यत्वदर्शनाच्च । पूर्वत्वानित्यभोजनाश्रितप्राणाग्निहोत्रस्यानित्यत्वमुक्तम्; एवं चेन्नित्याङ्गोपाश्रितोपास्तीनां नित्यत्वम् ॥

अप्रक्रियागतत्वे सत्यङ्गनिष्ठत्वतो मतिः ।

नित्योद्गीथादिगा पर्णमयतादि यथा तथा ॥

उद्गीथाद्युपासनं नित्यम्, क्रतुप्रकरणानाश्रितत्वे सति क्रत्वङ्गाश्रितत्वात्; गोदोहनादिव्यावृत्त्यर्थं प्रकरणानाश्रितत्वग्रहणम्; हिरण्यभरणादिनिवृत्त्यर्थं क्रत्वङ्गाश्रितत्वविशेषणम् । न च फलवत्त्वादनित्यत्वम्; ‘आपयिता ह वै कामानां भवति’ इत्यादेर्वर्तमानापदेशस्य परार्थगतत्वेन सत्त्ववद्विपरिणामायोगादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

पर्णता न फलायालं सिद्धा क्रत्वन्वयाद्विना ।

उपास्तिस्तु क्रियाङ्गानां फलवाक्याद्विधीयते ॥

सिद्धरूपा पर्णमयता न क्रियामनाश्रित्य फलं साधयति ।  
न चास्ति तस्यां प्रकृताः काश्चित्क्रियाः, अनारभ्याधीत-

त्वात् । तत्र वाक्येनाव्यभिचरितक्रतुसंबद्धजुहूद्वारा क्रतुसं-  
बन्धज्ञापनात् । तथा च तत्र तात्पर्यवद्वाक्यं न फलसंबन्ध-  
मपि बोधयति, वाक्यभेदप्रसङ्गात् । उपासनानां तु क्रियात्म-  
त्वादेव फलसंबन्धोपपत्तेः ; अतोऽङ्गविशिष्टानां फले विधान-  
मविरुद्धम् ॥

**प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ २८ ॥**

‘वायुर्वाव संवर्गः’ इत्यग्न्यादीनां वायुः संहर्ता अधिदैव-  
तमवधारितः, अध्यात्मं च वागादीनां प्राणः ; तत्र संशयः—  
वायुप्राणौ भेदेनोपास्येते, उताभेदेनेति ; ‘यः प्राणः स वायुः’  
इत्यभेदव्यपदेशात्, अध्यात्माधिदैवतविभागोपदेशाच्च । पूर्वत्र  
फलभेदात्कर्माङ्गानां तद्विद्योपासनानां च नित्यानित्यरूपप्रयो-  
गभेद उक्तः ; इह तु वायुप्राणयोस्तत्त्वाभेदात् तत्प्राप्तिलक्ष-  
णफलैक्याच्चोपासनाप्रयोगैक्यम् ॥

उत्पन्नशिष्टधर्माणां भेदाद्धर्मि न भिद्यते ।

अग्निहोत्रवदित्यैक्यं प्रयोगस्य प्रतीयते ॥

‘अन्नवानन्नादो भवति य एवं वेद’ इत्युत्पन्ने उपासने-  
ऽध्यात्माधिदैवविभागोऽवगतः नोपासनां भिन्नत्ति, अग्निहो-  
त्रमिव दधितण्डुलादीति प्राप्ते, अभिधीयते—

अभेदेऽप्यग्निहोत्रस्य प्रयोगः सायमादिकः ।

भिन्न एवमुपास्तेरप्यधिदैवादिभेदतः ॥

उत्पन्नशिष्टो धर्मभेदो विद्यां मा भिनत्तु, प्रयोगं तु भि-

नत्ति ; प्राणवाय्वोरध्यात्माधिदैवसंवर्गविशेषणविशिष्टयोरितरेतरावैशिष्ट्येन प्रयोगभेदेन ध्येयत्वात् ; अग्निरहोत्रस्येवेतरेतरानन्तर्भूतसायंप्रातरवच्छेदेन प्रयोगभेद इति ॥

**लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ २९ ॥**

वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये 'तद्वैतन्मन एवासीत्' इति मनः प्रक्रम्याधीयते— 'तत्षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नी-नर्कान्मनोमयान्मनश्चितः' इत्यादि ; तथा , 'वाक्चितः प्राण-चितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः' इति पृथगग्नी-नामनन्ति ; कर्मेति शरीरमुच्यते, अग्निरिति जाठरः । तत्र पुरुषायुषस्य शतसंवत्सरस्य षट्त्रिंशत्सहस्राण्यहोरात्राणि भवन्ति, तत्रैकैकाहोरात्रावच्छिन्नमनोवृत्तिष्विष्टकात्वं संपाद्य ताभिः संपादितेष्टकाभिश्चीयमानोऽग्निः संपद्यते ; एवं 'वाक्' इत्यादिष्वपि योज्यम् । एतेऽग्नयः किमिष्टकाचितेनाग्निना विकल्प्यमानाः कत्वर्थाः, उत पुरुषार्था इति संशयः ; प्रकरणात्, लिङ्गाच्च । प्रकरणस्यापि लिङ्गेन स्पर्धा पूर्वपक्षे वक्ष्यामः । यत्नवैषम्येऽपि विकल्पः कल्प्यते षोडशग्रहणाग्रहणवत्, यत्नाधिक्ये तु फलाधिक्यम् । पूर्वत्रैकप्रयोगासंभवाद्वायुप्राणौ भेदेन ध्येयावित्युक्तम्, इह तु मनश्चिदादीनां कर्माङ्गत्वेनैकप्रयोगत्वमाशङ्क्यते ॥

अतत्परोऽर्थवादोऽन्यमानप्राप्तिमपेक्षते ।

एवकारश्रुतिर्वाह्यसाधनत्वनिवारिणी ॥

प्रकरणं तावन्मनश्चिदादीनां कर्माङ्गत्वं गमयति । न च  
‘तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते’  
इति कर्मप्रयोगादन्यत्रापि मनश्चिदादीनां सद्भावलिङ्गात् ‘वि-  
द्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति’ इति पुरुषसंबन्धेन तच्छे-  
षत्वप्रतिपादकवाक्यात् ‘ते ह्येते विद्याचित एव’ इति क्रि-  
याङ्गत्वाद्वावर्तकैवकारश्रुत्या च प्रकरणबाध इति वाच्यम्;  
यतो द्विविधं लिङ्गम्—सामर्थ्यम्, अन्यार्थदर्शनं च; साम-  
र्थ्यमपि द्विविधम्—शब्दगतम्, अर्थगतं च; शब्दगतं तावत्  
यथा पूषानुमन्त्रणमन्त्राणाम्, अर्थगतं च यथा ‘पशुना यजेत’  
इत्यत्रैकत्वसंख्याया अर्थस्य संख्येयावच्छेदसामर्थ्यम् । न  
चात्र द्विविधमप्यस्ति; अन्यार्थदर्शनं तु विधिस्तुत्यर्थतया वि-  
धिपरत्वान्न स्वातन्त्र्येणाग्नीनां स्वातन्त्र्यं गमयति; प्रमाण-  
प्रापितं तूपोद्बलयति । न चात्र प्रमाणान्तरम्; एतेन वाक्य-  
मपि प्रत्युक्तम्; तस्याप्यन्यार्थदर्शनरूपत्वात् । श्रुतिस्तु बाह्य-  
साधनव्यवच्छेदार्था । तस्मादप्रत्यूहं प्रकरणं मनश्चिदादीनां  
क्रियाशेषत्वं गमयतीति प्राप्ते, अभिधीयते—

स्वातन्त्र्यगोचरार्थवादात्कल्प्यो विधिर्वेदेत् ।

स्वातन्त्र्यं बाह्यसाध्यत्वं विद्यात्वादेव वारितम् ॥

ये हि श्रुतविधिना एकवाक्यत्वं गता अर्थवादाः, न तत्त्वा-  
न्यार्थदर्शनानां प्रापकत्वम्; अत्र त्वपूर्वार्थगोचरेभ्योऽर्थवा-  
देभ्यो विधिः कल्पनीयः । तथा च तेभ्यो यादृशोऽर्थः प्रती-



यते तद्विषय एव स भवति । प्रतीयते च तेषु वर्णितेन प्रकारेण स्वातन्त्र्यम् । न चैवकारो बाह्यसाधनत्वव्यावृत्त्यर्थः ; विद्याशब्दादेव तत्सिद्धेः । तस्माद्विद्यात्वेऽपि मानसग्रहवत्क्रियाङ्गत्वप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमवधारणम् ॥

**एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ३० ॥**

देह आत्मा न वेति संशयः, अहं मनुष्य इत्यपरोक्षप्रत्ययात्, मृतौ, सत्यपि देहे चैतन्यानुपलम्भाच्च । देहव्यतिरिक्तात्मनो निरूपणं समस्तशास्त्रेण संगतम्, तमन्तरेण स्वर्गमोक्षयोरसंभवादिति प्रदर्शनार्थं विधेयोपासनाविचारपरे पादे क्रियते । पूर्वत्र मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वमुक्तम्, तदयुक्तम्; देहव्यतिरिक्तस्य तत्फलभोक्तुरभावात् ॥

तनुरात्मा मनुष्योऽहमिति प्रत्यक्षदर्शनात् ।

देहधर्मैरहंकारसामानाधिकरण्यतः ॥

स्थूलोऽहमित्यादि देहधर्मैः स्थौल्यादिभिः सामानाधिकरण्यं देहस्यात्मत्वं गमयति ; तथात्मधर्मैर्ज्ञानादिभिरपि देहस्य तादात्म्यमनुभूयते— अहं मनुष्यो जानामीत्येवमादिषु । न चात्माश्रयादेहस्यात्मधर्मसामानाधिकरण्यम्, दध्याधारस्य कुम्भस्यापि दधिधर्मैर्मधुरादिभिः सितं मधुरं कुण्डमिति सामानाधिकरण्यप्रसङ्गात् । न च देहोऽनात्मा, भूतत्वात्, घटवदित्यनुमातुमुचितम्; अहं मनुष्य इति प्रत्यक्षविरोधात्,



अदेहत्वेन सोपाधिकत्वाच्च । बाधितविषये पक्षेतरत्वस्याप्युपा-  
धित्वमविरुद्धम् । न च वाच्यं व्यस्तेषु भूतेषु चैतन्यानुपल-  
म्भाद्वहितप्ते लोहे वायुसमाध्माते सलिलकणाभ्युक्षिते च च-  
तुर्णां भूतानां मेलनेऽपि चैतन्यानुपलम्भात्, तद्वदेहस्यापि  
न चैतन्यमिति अनुकूलतर्कोपवृंहितादनुमानात्पक्षे साध्यप्र-  
मितौ अदेहत्वं तत्रैव साध्याव्यापकमिति ; अस्य प्रतिबन्धा  
प्रतितर्केण प्रतिरोधेन मिथो विरोधित्वात् । यदि प्रत्येकं  
मिलितेषु च भूतेषु चैतन्यानुपलम्भेन देहाकारपरिणते-  
ष्वपि चैतन्यं निराक्रियेत, ततः किण्वादीनामपि एकैकस्य  
मिलितस्य वा मदयितृत्वमदृष्टमिति मदिराकारपरिणतेष्वपि  
तेषु मदयितृत्वं नोपलभ्येत ; दर्शनबलात्तत्र तदनाक्षेपः प्रकृते-  
ऽपि समः । अङ्गीकृत्य चानुमानप्रामाण्यं प्रस्तुतानुमाने दूष-  
णमुक्तम्, न त्वनुमानं मानम् । उक्तं हि—

देशकालादिरूपाणां भेदाद्भिन्नासु शक्तिषु ।

भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरपि दुर्लभा ॥

इति । देशकालादिरूपाणां भेदेन वस्तुशक्तीनां भेदात्,  
व्याप्तिग्रहणदेशादावग्नेर्धूमजननशक्तिरासीत्, अनुमित्सितदे-  
शादौ तु सा नास्तीति शङ्कया धूमजनकत्वाभवस्यापि संभवेन  
धूमस्याग्निव्यभिचारशङ्कोत्थानादित्यर्थः । एवं प्राप्ते, अभि-  
धीयते—

अयावदेहभावित्वात्तद्विशेषगुणा चित्तिः ।

न भवेदीक्षितत्वाच्च पुरुषान्तरचिद्यथा ॥

देवदत्तचैतन्यं न देवदत्तविशेषगुणः, अयावद्देवदत्तदेहभावित्वात्, तद्रूपत्वाच्च, यज्ञदत्तचैतन्यवत्; संयोगादिषु व्यभिचारवारणाय प्रतिज्ञायां विशेषग्रहणम् । चैतन्यं च यदि गुणः, तर्हि विशेषगुण एव स्यात्; द्वीन्द्रियग्राह्यगुणत्वे सत्यपरोक्षत्वात्; स्वाश्रयस्याष्टद्रव्येभ्यो व्यावर्तकसामान्यवत्त्वाद्वा, गन्धवत् । न च चैतन्यं देहगुणः, देहभावभावित्वात् तद्रूपवत्— इति युक्तम्; देहारम्भकभूतेष्वनैकान्त्यात् । न च देहाभावेऽभावित्वं हेतुः, संदिग्धत्वात्; देहाभावेऽपि हि चैतन्यं देहान्तरे संचरिष्यति, कुतोऽस्य नास्तित्वनिश्चयः । अपि च परिणामविशेषान्तर्भूतधर्मत्वे चैतन्यस्य प्रतिमदिरावयवमनुवर्तमानमदशक्तिवत् प्रतिदेहावयवमनुवृत्त्यापातः, ततश्चैकस्मिन्देहे बहवः चेतनाः स्युः, तेषां चानेकमत्या विरुद्धादिक्रियं शरीरमुन्मथ्येत अक्रियं वा प्रसज्येत; एवं च मदशक्तिप्रतिवन्द्या विशेषादाभासत्वे सत्यप्रतिवन्धात् समस्तव्यस्तविकल्पप्रभवतर्केण साध्यनिश्चयाद्देहत्वस्य साध्याव्याप्तेरनुपाधित्वात् भूतत्वादपि देहस्यानात्मत्वम्; एवं च अहं मनुष्यो जानामीत्यादयः प्रतीतिव्यवहाराः भ्रान्ताः । अनुमानाप्रामाण्यं तु न प्रत्यक्षम्, धूमादीनामिन्द्रियसंनिकर्षेऽपि तदप्राणानिश्चयान्; वस्तुशक्तिभेदाद्वयभिचारानुमानाप्रामाण्योक्तिर्व्याह्रियेत ॥

अङ्गावचद्वास्तु न शास्त्रासु हि प्रतिवेदम् ॥

प्रासङ्गिकीं चिन्तां परिसमाप्य प्रस्तुतामेव गुणोपसंहार-

चिन्तां विदध्महे । ‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ इत्यादयः प्रत्ययाः प्राणादिविषयाः प्रतिशाखं स्वरादिभेदभिन्नान्युद्गीथाद्यङ्गान्याश्रित्य विधीयन्ते ; तेषु संशयः—किं यस्मिन्वेदे ये उद्गीथादयो विहिताः तेषामेव तद्वेदविहिताः प्रत्ययाः, उतान्यवेदविहितानामपि उद्गीथानामिति ; उद्गीथादिश्रुतेर्वलीयस्त्वात्प्रत्ययसार्वत्रिकत्वप्रतीतेः, सामान्यविशेषत्वेन तस्याः प्राकरणिकविशेषाकाङ्क्षत्वाच्च । पूर्वत्र शरीरात्मनोर्भेदादात्मधर्माणामसंभवः शरीरे इत्युक्तम् ; एवमेकशाखागतोद्गीथादिधर्माणां प्राणादिदृष्टीनां न तद्विन्नशाखान्तरीयोद्गीथेषु प्राप्तिरिति प्रासङ्गिकानन्तराधिकरणेन संगतिः ; व्यवहितेनाप्युच्यते—‘विद्याचित एव’ इत्येवकारश्रुत्या मनश्चिदादीनां क्रियाप्रकरणं भग्नम् ; इह तूद्गीथादिसामान्यश्रुतेः प्रकरणोपनीतविशेषाकाङ्क्षत्वेन तदबाधकत्वादुपास्तीनां व्यवस्थाविशेषाकाङ्क्षायां स्वशाखागतस्य विशेषस्य संनिधानात्तेनैवाकाङ्क्षानिवृत्तेर्न शाखान्तरीयोद्गीथान्तरापेक्षा । न चैवं संनिधानाच्छ्रुतेर्बाधः ; श्रुत्यभिहितलक्षितजातिव्यक्त्योरबाधाच्छाखान्तरीयास्वीकारेऽपि । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

जातेः क्रियान्वयायोगाच्चक्तिर्लक्ष्या मतिः पुनः ।

जातिमात्रेऽपि शक्येति न व्यक्तिरिह लक्ष्यते ॥

युक्तं पटमानयेत्युक्ते पटसामान्यस्यानयनायोगात्पटश्रुतेरविशेषप्रवृत्ताया अपि व्यक्त्याक्षेपकत्वम् ; आक्षिप्यमाणा च व्यक्तिः पटं शुक्लमानयेत्यादिप्रयोगेषु संनिहितैः शुक्लादिशब्दैः

समर्प्यते ; केवलप्रयोगेऽपि या काचिदानीयते । इह तूद्गीथा-  
दिशब्दोपात्ततत्सामान्याश्रयाः प्राणादिदृष्टयः शक्यन्ते क-  
र्तुमिति, न संनिधानाच्छ्रुतिसंकोचो युक्तः ; सामान्यद्वारेण  
सर्वविशेषगामिन्याः श्रुतेरेकस्मिन्नवस्थापनं पीडैव । तस्मात्स-  
र्वोद्गीथादिविषयाः प्रत्यया इति ॥

**भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥**

छान्दोग्ये वैश्वानरस्य व्यस्तस्य समस्तस्य चोपासनं श्रूय-  
ते ; व्यस्तोपासनं तावत्— ‘ औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपा-  
स्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आ-  
त्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् ’  
इत्यादि ; तथा समस्तोपासनमपि— ‘ तस्य ह वा एतस्यात्म-  
नो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः ’ इत्यादि, ‘ यस्त्वेतमेवं प्रादेश-  
मात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु  
भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमत्ति ’ इत्यन्तम् । तत्र संशयः—  
किमिह व्यस्तस्य समस्तस्य चोपासनं विधेयम् , उत समस्त-  
स्यैवेति ; उभयत्राप्याख्यातश्रवणात् , व्यस्तोपासने निन्दाश्र-  
वणाच्च । ‘ सैव हि सत्यादयः ’ इत्यत्र ‘ तद्यत्तत्सत्यम् ’ इति त-  
च्छब्देन प्रकृतपरामर्शाद्विद्यैक्यमुक्तम् ; अत्र तद्वदभेदहेत्वभा-  
वादगतार्थत्वम् । पूर्वत्रोद्गीथादिश्रुत्या संनिधिं बाधित्वोद्गीथानु-  
पास्तीनां सर्वशाखासूपसंहार उक्तः ; एवमत्रापि व्यस्तोपास-  
नस्य विधिश्रुतेः फलश्रुतेश्च समस्तोपासनसंनिधानप्राप्तस्तुत्य-

र्थत्वं बाधित्वा विधेयत्वम् ॥

प्रत्युपासनमाम्नानादाख्यातस्य फलस्य च ।

विधिकल्प्यविशेषाच्च व्यस्तोपास्तिश्च शिष्यते ॥

आख्यातविभक्तिफले विषयोदाहरणावसरे संदर्शिते ।  
ननु समस्ते व्यस्तानामन्तर्भावादाख्यातानामेकदेशानुवाद-  
त्वम्, फलश्रुतीनां चैकदेशप्रशंसाद्वारेणावयविस्तुत्यर्थत्वमिति ।  
तन्न ; भवेदेतदेवं यदि समस्तोपास्तौ विधिः श्रूयेत ; अस्य  
पुनरुभयत्रापि वर्तमानापदेशस्य विधिकल्पनायाश्चाविशेषात् ।  
एवं कामशब्दाभावेन फलकल्पनायाश्च तुल्यत्वात्सर्वत्र विधिः ;  
एवं च निन्दा व्यस्तोपासनं प्रक्रम्य तत्परित्यज्य समस्तो-  
पास्तिकरणे द्रष्टव्या । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

उपक्रमोपसंहारौ समस्तोपास्तिगोचरौ ।

प्रधानस्तुतये तस्मादङ्गेषु फलकीर्तनम् ॥

व्यस्तोपासनाधिगतानामप्यौपमन्यवादीनां समस्तोपास्त्य-  
धिजिगमिषया कैकेयराजाभ्यागम उपक्रमे च गम्यते ; वाक्य-  
मध्ये च कैकेयस्तत्तदुपासननिन्दया समस्तोपास्तिमुपसंजहार  
'तस्य ह वै' इत्यादिना । तथा चैकवाक्यत्वाय वाक्यभेदप-  
रिहाराय च वाक्यस्य समस्तोपास्तिपरत्वम् ; तस्मादङ्गेषु  
फलकीर्तनं प्रधानस्तवनाय ॥

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ३३ ॥

सिद्धं कृत्वा विद्याभेदं गुणोपसंहारादि चिन्तितम् । इदानीमधिगतासु विद्यासु तद्भेदश्चिन्त्यते । दहरादिब्रह्मविद्याः न भिद्यन्ते, उत भिद्यन्त इति संशयः; उपास्यब्रह्मैक्यात्, तत्तद्गुणानां फलानां च भेदाच्च । पूर्वत्र सत्यामपि सुतेजस्त्वाद्विगुणविशिष्टद्युलोकादिवैश्वानरोपासनानां गुणफलभेदश्रुतौ उपास्त्यैक्यमुक्तम्, तद्वदन्यासामपि ब्रह्मोपास्तीनामैक्यं स्यात् ।

गुणभेदेऽप्यभेदेन ब्रह्मणस्तदुपासना ।

अनुबन्धाविभागेन सर्वत्रैकैव गम्यते ॥

युक्तः कार्यरूपाणामपूर्वोत्पादकभावनानामनुबन्धभूतसाध्यस्वभावधात्वर्थभेदाद्भेदः; तदनुरक्तानामेव तासां प्रतीतेः । इह तु ब्रह्मणस्तद्गुणानां च सिद्धरूपत्वादभेदः । न हि विशालवक्षाश्चकोरेक्षणः क्षत्रिययुवा एकत्रोपदिष्टः स एवान्यत्र सिंहास्यो वृषस्कन्ध उपदिश्यमानश्चकोरेक्षणत्वादि परित्यजति; अनुष्ठानं हि पुरुषाधीनात्मलाभमनुबन्धभेदे भेत्तुमर्हति, न सिद्धम्; तस्य पुंश्रयन्तात्पूर्वमेव सिद्धेः । साध्याप्युपास्तिर्मनोवृत्त्यावृत्तित्वादेकैव; सा च गुणभेदेऽप्यभिन्नैव, अग्निहोत्रमिव दध्यादिभेदे । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

सिद्धेऽपि वस्तुनि स्तुत्या तदुपासा विधीयते ।

तस्याः पुरुषतन्त्रत्वाद्विगुणभेदेन भिन्नता ॥

यद्यप्युपासनभावना उपासनाधीननिरूपणा, उपासनं चोपास्याधीननिरूपणम्, उपास्यं चेश्वरादि व्यवस्थितरूपम्,

तथाप्युपासनाविषयभावोऽस्य कदाचित्केनचिद्रूपेणेत्यपरिनिष्ठित एव । न च पुरुषतन्त्रत्वेऽप्येकमुपासनं सर्वत्र शिष्यत इति वाच्यम् ; तस्य प्रतिप्रकरणं तत्तद्गुणभेदेन भेदात्, छल-चामरादिगुणभेदादिव राजोपासनस्य । न चोपासनभेदाद्गुणव्यवस्था, गुणव्यवस्थया चोपासनभेदः— इति परस्पराश्रयः ; शब्दान्तरादिभिरुपासनाभेदावगमेऽधिगतभेदेन गुणव्यवस्थायां तद्व्यवस्थया पूर्वाधिगतोपासनभेदस्य निर्वाहात्— अभ्यासाधिगतस्येव प्रयाजभेदस्य समिदादिनामभिर्निर्वाहः । न च गुणभेदेऽप्यग्निहोत्रैक्यवदुपासनैक्यम् ; अग्निहोत्रं विधाय दध्यादिगुणानां विहितत्वेनोत्पन्नशिष्टतया भेदकत्वाभावात् । उपास्तिगुणानां तूत्पत्तिशिष्टत्वेनोपासनभेदकत्वात् आमिक्षावाजिनयोरिव कर्मभेदकत्वम् । अगृह्यमाणविशेषतया चैकत्रोत्पत्तिरन्यत्र गुणविधिरिति न वक्तुं शक्यम् ; तत्रोपास्तीनां प्रत्ययावृत्तित्वाविशेषेऽपि ‘वेद’ ‘उपासीत’ ‘स क्रतुं कुर्वीत’ इत्याद्यर्थविशेषपरिज्ञानापेक्षमेव शब्दान्तरमुच्चार्यमाणमर्थान्तरमवगमयति— यथा ज्योतिरादिषु यागस्वरूपेणाविशेषेऽपि ज्योतिरादिशब्दभेदाद्वान्तरभेदः । तथा सत्यकामत्वादयो दहरविद्यायां शाण्डिल्यविद्यायां चाभ्यस्यन्ते इत्यभ्यासादप्युपासनभेदः । संख्या तु ‘तिस्र आहुतीर्जुहोति’ इत्यादौ कर्मभेदिका, उपासनासु तु नास्ति । अत एव भाष्ये ‘यथासंभवम्’ इत्युक्तम् । संज्ञापि ‘दहरविद्या’ ‘शाण्डिल्यविद्या’ इत्यादिका विद्याभेदिका । गुणादुपास्ति-



भेद उक्त एव, प्रकरणान्तरं तु विद्यासु स्फुटमेव । तथा फलं च— ‘ सर्वेष्वन्नमत्ति ’ इत्यादि संनिधौ श्रुतमुपास्तिं भिनत्ति ॥

**विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ३४ ॥**

विद्याभेदचिन्तानन्तरमहंग्रहप्रतीकाङ्गावबद्धोपास्तीनामनुष्ठानप्रकारोऽधिकरणत्रयेण निरूप्यते । अहंग्रहोपास्तीनां विकल्पेन समुच्चयेन वानुष्ठानम् इत्यनियमः, उत विकल्पेनैवेति नियमः—इति संशयः; समानफलयोः काम्यदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमयोर्याथाकाम्यवत् एकब्रह्मलोकप्राप्तिफलानामुपास्तीनां याथाकाम्यसंभवात्, एकफलानां ब्रीहियवादीनां विकल्पनियमदर्शनाच्च । समुच्चयनियमस्तूपास्तीनां नाशङ्कनीयः, पृथगाधिकारत्वात्; यस्त्वग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमः, स नित्यत्वकृतः; उपासनास्तु काम्या इति । पूर्वत्र शब्दान्तरादिप्रमाणादुपास्तीनां भेद उक्तः, तद्वदिह विकल्पसमुच्चयनियमप्रमाणाभावाद्याथाकाम्यम् ॥

समुच्चये विकल्पे वा मानाभावादुपास्तिषु ।

यथाकामं प्रयोगः स्यात्फलभूम्ने समुच्चयः ॥

सत्यप्येकफलत्वे, कदाचिदुपास्तीनां समुच्चयः फलभूमार्थिनः उपपद्यते । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

लभ्येत विद्याफलमत्र साक्षा-

त्कृतेः कृतिः सा च न भिन्नरूपा ।



भिन्नासु विद्यासु विषक्तबुद्धे-

नैकाग्रता तेन विकल्प एव ॥

‘यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति’ इति, ‘देवो भूत्वा देवानप्येति’ इति चोपासनाफलविशेषाणां प्राप्तिः उपास्यसाक्षात्कारसाध्या अवगम्यते; साक्षात्कारे च न विशेषः, एकेन चोपास्येश्वरादौ साक्षात्कृते उपासनान्तरमनर्थकम् । न च फलभूमा प्रयोजनम्; नानोपासनकरणे सति कलहेन चित्तैकाग्रव्याघातादुपास्यसाक्षात्करणानुत्पत्तौ कस्यापि फलस्यालभे तद्भूतो दूरनिरासात्; तस्माद्विकल्प एवेति ॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा

पूर्वहेत्वभावात् ॥ ३५ ॥

‘मनो ब्रह्मेत्युपासीत’ इत्यादीनि प्रतीकोपासनानि नियमेन विकल्प्येरन्, यथाकामं वानुष्ठीयेरन्निति संशयः; अहंग्रहोपास्तिषु विकल्पनियमदर्शनात्, नानाफलेषु दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिषु याथाकाम्यदर्शनाच्च । पूर्वत्राहंग्रहोपास्तीनामुपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तत्वाद्विकल्पनियम इत्युक्तम्, तद्वत्प्रतीकोपास्तीनामपि तत्पर्यन्तत्वाद्विकल्पः ॥

अङ्गोपास्त्यतिरिक्तत्वे ब्रह्मोपास्तित्वहेतुतः ।

प्रतीकधीर्विकल्प्येत यथाहंग्रहचिन्तनम् ॥

न चोपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तत्वमुपाधिः; साधनव्यापक-

त्वात् । 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इति वाक्यस्य 'वाग्वै ब्रह्म' इत्यादिप्रतीकोपास्तिसंनिधिसमाम्नातत्वेन प्रतीकोपास्तित्वमपि साक्षात्कारवत्त्वसिद्धिः । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

साक्षात्कारानपेक्षत्वे सति भिन्नफलत्वतः ।

याथाकाम्यं प्रतीकेषु दर्शसोमादियागवत् ॥

प्रतीकोपास्तयो यथाकाममनुष्ठेयाः, उपास्यसाक्षात्कारनिरपेक्षत्वे सति भिन्नफलत्वात्, दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमवत्; अहंग्रहोपास्तपु व्यभिचारनिवारणायाद्यं विशेषणम्, व्रीहियवादिषु तद्वारणाय द्वितीयम् । न च विशेषणासिद्धिः; 'वाग्वै ब्रह्म' इत्यत्रापि वागादिषु ब्रह्मदृष्टिमात्रं विधित्सितम् । यतः 'वाग्वै ब्रह्म' इत्युपक्रम्य, 'वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाप्रज्ञेत्येनमुपासीत' इति हि वाक्यशेषे समामनन्ति । तत्र वागभिमानिनी देवता वागित्युच्यते, आयतनमित्यनुग्राह्यकरणनिर्देशः; अर्थाद्भूलोकं निर्दिष्टम्, आकाशमित्यव्याकृतम्, तत्सर्वमेकीकृत्याहमित्युपास्यम्, अपरिच्छिन्नोपासने ह्यर्थादहंग्रहः सिद्धः । तदाहुरत्रभवन्तो वार्त्तिककाराः—

विराड्गृहीतिरत्र स्यात्साधारणग्रहात् ।

तथा देवतया सूत्रं नियन्तापि च यद्विरा ॥

कारणाद्यखिलं विश्वं देवतावधि भण्यते ।

यतो वागाद्युपास्यं तत्तस्मात्सर्वं विवक्षितम् ॥

इति । तस्मादत्र 'देवो भूत्वा' इति साक्षात्काराभिधानमवि-  
द्धम् । तथा च प्रतीकेषु साक्षात्कारवत्त्वे प्रमाणाभावेन सा-  
क्षात्कारानपेक्षत्वमिति न विशेषणासिद्धिः ; साधनव्याप्यभा-  
वात् पूर्वपक्षानुमाने उपाधेरप्यनिवारणम् ॥

**अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ३६ ॥**

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इत्यादीन्यङ्गाश्रितोपास-  
नानि किं नियमेन समुच्चयानि, याथाकाम्येन वानुष्ठेयानीति  
संशयः, पर्णमय्यादिष्वङ्गाश्रितेषु समुच्चयनियमदर्शनात्, गो-  
दोहनादिषु याथाकाम्यदर्शनाच्च । पूर्वत्र प्रतीकोपास्तीनां भि-  
न्नफलत्वात् याथाकाम्यमुक्तम् ; तद्युक्तं भिन्नफलेष्वङ्गाश्रितो-  
पासनेषु समुच्चयनियमेन फलभेदस्यानैकान्तिकत्वादित्याश-  
ङ्क्यात्रापि याथाकाम्यप्रतिपादनात्संगतिः । 'तन्निर्धारणानि-  
यमः' इत्यत्र पृथक्फलत्वादङ्गोपास्तीनां समुच्चयो भग्नः, इह  
तु फलभेदेऽपि समुच्चय आशङ्क्यते ॥

उपास्तीनां स्वतन्त्रत्वे बहिर्भावः क्रतोर्भवेत् ।

समुच्चयाद्विना न स्यान्नियमेनाङ्गसंगमः ॥

यद्यपि क्रतुफलात्पृथक्फलमुपास्तीनामस्ति, तथापि न  
स्वतन्त्रा भवितुमर्हन्ति ; तथा सति क्रत्वनाश्रिततया क्रतुप्र-  
योगाद्वहिरप्यमूषां प्रयोगप्रसङ्गात् । तस्मादङ्गग्राहिणा प्रयो-  
गवचनेनाङ्गनियता उपासना अपि प्रयुज्यन्ते ; अप्रयोगे ता-

सामङ्गाश्रितत्वनियमायोगान्न तत्समुच्चयनियमः, स च प्रयोगवचनः उपासनासमुच्चितत्वं तत्फलकामनानामपि अवश्यंभावमाक्षिपति ; तदभावे तासां समुच्चयाभावात् । एतेन गोदोहनादयो व्याक्षिप्ताः । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

पारतन्त्र्यमुपास्तीनां सत्स्वेवाङ्गेषु वर्णनम् ।

फलानामविधेयत्वान्न प्रयोगविधिग्रहः ॥

इदमुपास्तीनामाश्रयतन्त्रत्वम्— यदाश्रये सत्येव प्रवृत्तिर्नासतीति, न तु तत्प्रवृत्तिरेवेति ; अतश्च यावदाश्रयभावित्वेऽपि अङ्गोपास्तीनां तत्तन्त्रत्वमविरुद्धमिति न तत्सिद्धयर्थं क्रतुप्रयोगवचनपरिग्रहः । न चोद्दिश्यमानान्प्रयोगवचनः समुच्चेतुमर्हति, तस्य विहितग्राहित्वात् । उद्देश्यं हि मानान्तरसिद्धम्, तस्य च विधेयत्वं व्याहृतम् ; तस्मात्फलकामनानामनित्यत्वात्तत्संबद्धोपास्तीनामनित्यत्वम्, तासां च समुच्चयनियमेन नित्यत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोधः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥



## चतुर्थः पादः ॥

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

पूर्वं परापरब्रह्मविद्यानां गुणोपसंहारनिरूपणेन परिमाण-  
मवधारितम् । इदानीमासां कर्मनिरपेक्षाणामेव पुरुषार्थसा-  
धनत्वं निरूप्यते । तत्र करणत्वादमूषामितिकर्तव्यता वक्त-  
व्या, तच्च कर्मैवेति शङ्कायां तदन्तरेणापि निर्गुणविद्यायां तदु-  
त्पत्त्युपयोगिनो यज्ञादयः शमादयः श्रवणादयश्च इतिकर्तव्य-  
ता निरूप्यन्ते ; सगुणविद्यासु तु कर्मपेक्षानियमाभावेऽपि  
तत्साहित्ये फलोत्कर्षः । तदेवं गुणोपसंहारपादो विद्यापरि-  
माणनिरूपकत्वेन हेतुः, अयं तु ज्ञातपरिमाणविद्याफलनिरू-  
पकत्वेन हेतुमानिति संगतिः ॥

फलभेदाद्विना विद्याभेदाभेदाद्यसंभवात् ।

हेतुर्वा स्यादयं पादः पूर्वपादश्च हेतुमान् ॥

इत्यपरा संगतिः ; अस्मिन्स्तु पक्षे,

सिद्धं कृत्वा फलं पूर्वं विद्याभेदादि चिन्तितम् ।

स एव फलभेदोऽत्र विद्यानामुपपाद्यते ॥

क्रतूपकाराद्विन्ने सगुणनिर्गुणब्रह्मप्राप्तिलक्षणे फले सिद्धे

विद्याभेदादिचिन्ता संगच्छत इति ब्रह्मात्मविद्या क्रत्वर्था पुरुषार्था वेति संशयः ; अप्रकरणाधीताया अस्याः क्रत्वव्यभिचारिद्वारसंभवासंभवाभ्याम् ॥

कर्तुः साधारणत्वेऽपि देहाद्भिन्नत्वधीः क्रतोः ।

अन्यत्रानुपयुक्तेति क्रत्वङ्गमवगम्यते ॥

यद्यपि प्रोक्षणादिवदात्मज्ञानं न कंचित्कर्तुमारभ्याम्नातम्, यद्यपि च कर्तृमात्रं नाव्यभिचारितक्रतुसंबद्धम्, तस्य लौकिककर्मस्वपि साधारण्यात् ; तथापि देहव्यतिरिक्तत्वेन ज्ञातो न लौकिककर्मण्युपयुज्यते, तस्य देहमात्रेणाप्युपपत्तेः ; ततश्च देहाद्यतिरिक्त उपनिषद्भयोऽधिगम्यमान आत्मा स्वव्यापकं क्रतुं जुहूरिवोपस्थापयति ; ततश्च तज्ज्ञानं जुहूद्वारेणैव पर्णमयता वाक्यात्क्रतुना संबध्यते । तथा च तत्र फलश्रुतिरर्थवादः । यत्तु कर्तृत्वाद्यतिरिक्तं शुद्धबुद्धादिरूपमुपनिषत्सु वेद्यते, तद्विवक्षितमनुपयोगित्वान् । न च तज्ज्ञानमात्रात्कैवल्यं लभ्यत इति सप्रयोजनता ; तथा सति आत्मविदां जनकादीनां कर्माभावप्रसङ्गात् । ततश्च शुद्धबुद्धत्वादिकं कर्तृस्तुत्यर्थम् ; तथा सगुणैश्वर्यवचनानि चार्थवादः । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

असंसार्यात्मबोधो न कर्माङ्गं तद्विरोधतः ।

याज्ञवल्क्यादिसंन्यासात्तुल्यमाचारदर्शनम् ॥

प्रसाधितं हि वाक्यान्वयाद्यधिकरणेषु वेदान्तानां संसा-

यात्मानुवादेनासंसारिब्रह्मत्वपरत्वम्; तथा च तादृगात्मज्ञानं न कर्माङ्गम्, अनुपयोगाद्विरोधाच्च । तथा सति अपाराध्यात्तद्वाक्यानामात्मज्ञानफलवचनानां नार्थवादत्वम् । देहातिरिक्तात्मज्ञानस्य तु वेदान्तस्य त्वंपदार्थशुद्धयङ्गस्यानुषङ्गिकं कर्मप्रवृत्त्युपयोगित्वम्—आमिक्षार्थस्येव दध्यानयनस्य वाजिनोपयोग इति न किञ्चिदप्यात्मज्ञानं कर्माङ्गम् । यत्तु ब्रह्मविदां कर्मदर्शनाद्विद्यायास्तदङ्गत्वमिति,

लोकसंग्रहणाय स्यादनङ्गस्याप्यनुष्ठितिः ।

अङ्गस्य तु सतस्त्यागो न कथंचन युज्यते ॥

महद्भिरस्माभिरनुष्ठितं कर्म लोकैः संगृह्येतेति मत्वा प्राणिषु दयया स्वनियोज्यमपि कर्म कृतवन्त इति संभवति; अङ्गत्वे तु कर्मणां याज्ञवल्क्यादिभिस्तत्त्यागो न युज्यते, त्यक्तस्यायोगादङ्गरहिताया याज्ञवल्क्यादिविद्याया वैफल्यापाताच्च । तदेवं ब्रह्मविदामाचारयोर्विरोधिकर्मानुष्ठानरूपाचारोऽन्यथासिद्धः, कर्मत्यागस्तु अनन्यथासिद्धः । समुच्चयप्रमाणान्तरनिरासो भाष्यटीकयोर्विशदः । ये तु समुच्चयमङ्गीकृत्यैव न विद्यायाः कर्माङ्गत्वम्, किं तु कर्मैव विद्याङ्गमित्यधिकरणार्थं वर्णयन्ति, तैः ‘उपमर्दं च’ इति सूत्रमुपमर्दितम्; न ह्युपमृदितस्य कर्मणो विद्याङ्गत्वम्; न चैषां मते स्तुतये विदुषः कर्मानुमतिः, अपि तु अनुष्ठानायेति तदपि सूत्रमसंगतम् ॥

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥

‘त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानम्’ इति, पुनः ‘तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मान-माचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थो-ऽमृतत्वमेति’ इति श्रूयते; इदं वाक्यं गार्हस्थ्यतिरिक्ताश्र-माणामनुष्ठेयत्वं ज्ञापयति न वेति, वर्तमानापदेशत्वात् गार्ह-स्थ्येनानुष्ठेयेन समभिव्याहाराच्च संशयः । पूर्वत्रोर्ध्वरेतःस्वा-श्रमेषु ब्रह्मविद्याया आम्रानात्कर्मनैरपेक्ष्येण मोक्षसाधनत्वमु-क्तम्, इदानीं त एवाश्रमा आक्षिप्यन्ते ॥

अनुवादाद्विधौ कल्पे प्रत्यक्षश्रुतिबाधनात् ।

इह कर्माणि निन्द्यन्ते ब्रह्मनिष्ठां प्रशंसितुम् ॥

अत्र हि वाक्ये धर्मस्कन्धान् धर्मसमूहान् त्रीन् शुभलोक-प्राप्तिमात्रफलत्वेन निन्दित्वा ब्रह्मसंस्था मोक्षफलतया स्तूयते । न चान्यार्थदर्शनादस्मादाश्रमान्तराण्यनुष्ठेयानि सिध्यन्ति, विध्यश्रवणात्; विधिकल्पना ‘वीरहा’ इत्यादिप्रत्यक्षश्रुतिवि-रुद्धेति प्राप्ते, अभिधीयते—

आश्रमादन्यतः स्कन्धत्रित्वं धर्मेषु नोचितम् ।

परिशेषात्परिव्राट् तु ब्रह्मसंस्थ इतीरितः ॥

न तावद्यज्ञादीनां प्रातिस्विकनानाविध्युत्पत्तीनामाश्रमोपा-धिकत्वमन्तरेण त्रिस्कन्धत्वमुपपद्यते; तत्र यज्ञादिलिङ्गको गृ-



हस्थाश्रम एको धर्मस्कन्धः, ब्रह्मचारी च द्वितीयः, तप इति तपःप्रधानं वानप्रस्थः, परिशिष्टब्रह्मसंस्थशब्देन परिशिष्टः परिव्राडभिधीयते । तत्र परामर्शादनुवादरूपादाश्रमान्तराणि प्रतीयमानानि देवताधिकरणन्यायेन न शक्यन्ते अपह्नोतुम् । न च 'वीरहा' इत्यादिनिन्दाविरोधः, तस्य प्रतिपन्नगार्हस्थ्यं प्रमादादज्ञानाद्वाग्निमुद्वासयन्तं प्रत्युपपत्तेः । एवं चानुवादान्यथानुपपत्त्यान्यत्र तन्मूलभूतो विधिः कल्प्यते । अथवा किमन्यत्र विधिकल्पनया, अत्रैव विधिः कल्प्यः । यद्यपि ब्रह्मसंस्थत्वस्तुतिपरतया एकवाक्यता प्रतीयते, तथापि सा न संभवति ; आश्रमान्तराणां पूर्वसिद्धेरभावे परामर्शानुपपत्तेः तदपरामर्शे च स्तुतेरसंभवेन स्तुतिपरतयैकवाक्यत्वासंभवात् । अपि च विधेयार्थैक्ये ह्यनुवादस्य विधिस्तुत्यर्थत्वेनैकवाक्यत्वम् ; अत्र त्वप्राप्तार्थभेदप्रतिभानाद्विधेयभेदे सति नैकवाक्यत्वमिति भङ्क्त्वा वाक्यमुपरिधारणवद्विधिः कल्प्यते । अथवा श्रुतिप्रसिद्धं गार्हस्थ्यं स्मृतिप्रसिद्धे ब्रह्मचर्यवानप्रस्थे अनूद्य ब्रह्मसंस्थता स्तूयते इत्येकवाक्यत्वनिर्वाहः ; तत्स्तुत्या च तद्विधिरनुमीयते, स्तुतेर्विध्यविनाभूतत्वात् ॥

अपरं वर्णकम् ॥

ब्रह्मसंस्थशब्दः किमाश्रमचतुष्टयवचनः, उत पारिव्राज्यवचन इति संशयः ; तस्य यौगिकत्वेन प्रकृतमात्रपरामर्शकत्वात्, असाधारणाश्रमधर्मोपक्रमवलादस्याप्यसाधारणाश्रम-

वाचकत्वप्रतीतिश्च । तदर्थं च तपःशब्देन परिव्राडुक्तो न वेति विचार्यते । पुरुषार्थाधिकरणे ज्ञानस्यासहायस्य मोक्षफलत्वमुक्तम् , तन्न संभवति ; गृहस्थादीनामपि ब्रह्मनिष्ठत्वस्य ब्रह्मसंस्थशब्देनाभिधानात्तदनुष्ठितकर्मणां ज्ञानसहकारित्वप्रतीतेरित्याक्षिप्यते ॥

तप इन्द्रियसंयमादिकं

यतिषु स्यादिति तेऽपि तापसाः ।

तत आश्रमिणः परामृशे-

चतुरोऽप्यत्र समासगा श्रुतिः ॥

न तावद्ब्रह्मसंस्थपदं परिव्राजि रूढम् ; पारिव्राज्यमात्रादमृतत्वप्राप्तेः ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गात् । सत्यवयवार्थे समुदायशक्तिकल्पनायोगाच्च । तेन ब्रह्मणि संस्था अस्येति बहुव्रीहिः । तत्र समासवर्तिन्या इदंशब्दश्रुत्या सह परिव्राजा सर्वेऽप्याश्रमिणः परामृश्यन्ते । न च परिव्राजकस्याप्रक्रान्तत्वात्कथं परामर्श इति वाच्यम् ; तपःशब्देन तस्योक्तत्वात् । तस्याप्यष्टप्राप्तित्वाधिकशौचेन्द्रियसंयमादेस्तपस्त्वात् । अत एव 'त्रयः' इति चतुर्णां निर्देश उपपन्नः यतिवनस्थयोरेकीकारात् । एते चाब्रह्मसंस्थाः पुण्यलोकभाजः, ब्रह्मसंस्थास्त्वमृतत्वं यान्तीत्यवस्थाभेदापेक्षत्वात् पुण्यलोकांमृतीभावयोरेकत्राविरोधः— यथा देवदत्तो मन्दप्रज्ञ आसीत्स एव शास्त्राभ्यासादिदानीं महाप्राज्ञ इति । सूत्रयोजना तु— परा-

मर्शं ब्रह्मसंस्थाशब्देन सर्वेषामाश्रमाणां जैमिनिर्मेने, न तु सर्व-  
कर्मत्यजः कस्यचित्तेन शब्देन चोदना ; कर्मत्यागं शास्त्रमपव-  
दीति हि 'न कर्मणामनारम्भात्' इति । च-शब्दस्तु पुण्यलो-  
मृतत्वयोरवस्थाभेदादविरोधार्थः । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

आदावसाधारणकर्मकीर्तना-

दन्तेऽपि तत्कीर्तनमेव युज्यते ।

चतुर्ध्वपि त्रित्वमसंगतं भवे-

त्तपःपदेनेह यतेः परिग्रहे ॥

अमृतत्वं तदा यान्ति यदान्ये ब्रह्मसंस्थिताः ।

अमृतः पुण्यलोकश्च ब्रह्मसंस्थः सदा यतिः ॥

इह ह्यसाधारणेनैकैकेन लक्षणेनैकैक आश्रमो वक्तुमुपक्रा-  
न्तः 'यज्ञोऽध्ययनम्' इत्यादिना । एकस्मिन्वाक्ये च यथोप-  
क्रान्तं तथैव परिसमापनमुचितम् ; प्रतीयते चात्रैकवाक्यता  
'द्वितीयः' 'तृतीयः' 'एते' इति च पूर्वसापेक्षत्वादुत्तरो-  
त्तरस्य । तव त्वसाधारणसाधारणधर्माभ्यामुपक्रमोपसंहारौ  
स्याताम् ; त्वन्मते ब्रह्मसंस्थत्वस्य सर्वसाधारणत्वात् । न च  
सर्वनाम्ना प्रकृतमात्रपरामर्शाच्छ्रुत्यैव वाक्यभङ्ग इति वा-  
च्यम् ; श्रुतेरप्युपक्रमस्य बलीयस्त्वात्—ऋगादिश्रुतिभ्योऽपि  
वेदोपक्रमस्य बलवत्त्ववत् । चतुष्टेन प्रसिद्धेषु आश्रमेषु त्रित्व-  
मयुक्तम् ; यत्संख्याका हि ये प्रसिद्धास्ते तत्संख्ययैव कीर्त्यन्त  
इति ह्युत्सर्गः । न च सति संभवे उत्सर्गस्य त्यागो युक्तः ।

तव च तपःशब्देन तन्त्रेण यतिपरिग्रहे 'त्रयः' इति यतेरप्य-  
 भिधानं स्यात्; न च तपो यतिवनस्थासाधारणम्; तद्ध-  
 र्मस्य शौचस्य तपःशौचसंतोषेत्यादौ तपसो भेदेनाभिधा-  
 नात् । अष्टग्रासनियमस्य तपस्त्ववद्वात्रिंशद्ग्रासनियमस्यापि  
 गृहस्थधर्मस्य तपस्त्वापातात् । इन्द्रियसंयमस्तु तपस्त्वेन श्रू-  
 यते— 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' इत्यत्र  
 परमग्रहणात्, सत्यं तप इतिवत् । इतरथा नैष्ठिकस्यापि  
 तद्भावात्तपःपदे तन्त्राभिधानसंभवेन पृथङ्निर्देशवैयर्थ्यात् ।  
 किं च 'तपः' इति भिक्षुसंग्रहे 'एते' इति प्रकृतानां  
 साकल्येन परामर्शात् तेषां च पुण्यलोकाभिधानाद्भिक्षोरपि  
 पुण्यलोकत्वं स्यात्, तच्चायुक्तम्; अब्रह्मसंस्थत्वाभावात्;  
 अत एव तस्यैव सदा ब्रह्मसंस्थस्य पुण्यलोकोऽमृतत्वं चेति  
 विरोधः; अवस्थाभेदेन च व्यवस्थोपपत्तये त्रिषु च ब्रह्मसं-  
 स्थपदं यदेति संबन्धनीयम् । न च 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानम्'  
 इति स्मृतेस्तस्याप्यनियतं ब्रह्मसंस्थत्वम्; तस्यानुषङ्गिकत्वात्;  
 'प्राप्य पुण्यकृताल्लोकान्' इतिवत्, लोकैषणाव्युत्थितस्य सं-  
 न्यासविधानात्, तेन साधारणाभिधानाभावेन ब्रह्मसंस्थपदं  
 न तन्नम्, किं त्वावृत्त्येति वाक्यभेदः; यदा सदेत्यध्याहारापा-  
 तश्चेति । यदिह केशवो वक्ति— यदि भिक्षोः पुण्यलोकप्रा-  
 प्तिर्विरुध्यते, मा भूत्तस्य तपःशब्देन ग्रहणम्; ब्रह्मसंस्थपदस्य  
 तु प्रकृताश्रमत्रयमात्रप्रवृत्तौ को विरोधः; यतेरपि ब्रह्मनिष्ठत-  
 यामृतत्वं प्रमाणान्तरसिद्धम्, अतः प्रयोजकाविशेषे ब्रह्मसं-

स्थपदे भिक्षुपरित्यागोऽनुपपन्न इति चेत्, तर्हि ब्रह्मसंस्थपदेन यतिग्रहणेऽप्यन्येषां परित्यागे कारणं वाच्यमिति ; तत्प्रागेव निरस्तम्, असाधारणधर्मोपक्रमस्य समासान्तर्वर्तिसर्वनामश्रुतेरपि बलवत्त्वेनासाधारणयत्याश्रमधर्मस्य ब्रह्मसंस्थशब्दाभिधेयत्वे प्रकृतपरामर्शासंभवस्योक्तत्वात् । अतोऽप्रकृतः परिव्राट् ब्रह्मसंस्थः, यौगिकमपि ब्रह्मसंस्थपदं ब्रह्मणि समाप्तिमाचक्षाणं सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकतन्निष्ठमाह ; सा च नान्येष्वित्यसाधारणी । उपशमभिक्षाटनश्रवणादीनां ब्रह्मविद्योत्पत्तौ सहायत्वं चित्तविक्षेपकरत्वान्नान्येषामिति श्रुतिस्मृतिभिरेते विधीयन्ते, इतरेषां च त्याग इति । अत एव परिव्राजोऽपि न सर्वकर्मपरित्यागः, श्रवणादेर्भावादित्युक्तमुक्तम् । सूत्रयोजना तु परिव्राड्भिरेवानुष्ठेयं ब्रह्मसंस्थत्वम्, यज्ञादिभिरसाधारणाश्रमधर्मैः साम्येन श्रुतत्वादिति । ‘न कर्मणाम्’ इत्यादिस्मृतिस्तु ज्ञानरहितसंन्यासान्नामृतत्वमित्येवमर्थेति ॥

**स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥**

‘स एष रसानां रसतमः परमः परार्थोऽष्टमो यदुद्गीथः’ इत्यादयोऽङ्गाश्रिता रसतमत्वादयः स्तुत्यर्थाः, उतोपास्याङ्गविशेषणतयोपासनविधिगोचरा इति संशयः ; कर्माङ्गाश्रितेषु ‘स्वर्गो लोक आहवनीयः’ इत्यादिषु स्तुतित्वदर्शनात्, ‘यस्य पर्णमयी जुहूः’ इत्यादिषु विधित्वदर्शनाच्च । पूर्वत्रानुष्ठेयसाम्यश्रुतेराश्रमान्तरं विधेयमित्युक्तम्, इह तु रसतमत्वादी-

नामङ्गाश्रितत्वेन 'स्वर्गो लोक आहवनीयः' इत्यादिस्तुतिसाम्यात्स्तुत्यर्थत्वम् ॥

अङ्गेनाङ्गविधेः प्राप्तेरङ्गोपासाविधेरपि ।

संनिधेस्तत्प्रशंसा स्यादुपास्यं त्वन्यतो मतम् ॥

यद्यप्युद्गीथादिविधिः कर्मप्रकरणवर्तित्वाद्व्यवहितः, तथापि तद्विध्यव्यभिचरितोद्गीथादेरिह कीर्तनात्तेन संनिधाप्यते— जुह्वेव पर्णमयता ऋतुदेशे ; स च रसतमत्वादिनैकवाक्यतामुपगतः स्तूयते । न च संनिहितविध्यन्वयनियमोऽर्थवादानाम् ; अनुषङ्गादिना व्यवधानेऽप्यन्वयात् । अथवा 'उद्गीथमुपासीत' इत्याद्युपासनाविधिः प्रशस्यते, न तूपास्यसमर्पका रसतमत्वादयः ; 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथम्' इत्यनेनैव तत्समर्पणात् । ननु विशेषणपरं तदिति स्थितम्, सत्यम् ; अध्यासपरं तु तदिति कृत्वा चिन्ता ॥

सिद्धान्तस्तु—

व्यवहितविधिनानपेक्षभावा-

न्न हि रसतादि न तेन योगभाणि ।

निकटगतविधेरुपास्यदाना-

त्स्तुतिपरता वहिरङ्गतोऽनपेक्षा ॥

सर्वत्र विधौ कर्तव्यतैकार्थसमवेतश्रेयःसाधनतायामवगतायां न प्राशस्त्यस्यास्ति कश्चिदुपयोगः ; अतो विधिना

सह प्रतीतसमभिव्याहृतीनामर्थवादानामाकाङ्क्षया विधेरप्या-  
काङ्क्षामुत्थाप्य रक्तपटन्यायेनैकवाक्यतया स्तुत्यर्थत्वम् ; अनु-  
पङ्गोऽप्यर्थवादस्य साकाङ्क्षत्वात् । ‘चित्पतिस्त्वा पुनातु देव-  
स्त्वा सविता पुनातु’ इत्यत्र हि ‘अच्छिद्रेण पवित्रेण’  
इत्यस्य पुनात्वित्यस्मिन्नस्यपेक्षा, कचिद्धि पठितव्यः सन् अन्ते  
पठित इति । न त्विह रसतमत्वादेर्देशान्तरस्थोद्गीथादिविधाव-  
स्यपेक्षेति न तत्स्तुतित्वम् ; संनिहितोपासनाविधौ तु किं  
विषयसमर्पणेनोपयुज्यताम्, उत स्तुत्येति संशये, विषयसम-  
र्पणेन यथार्थवत्त्वम्, नैवं स्तुत्या ; बहिरङ्गा हि सा ।

यदा रसतमत्वादि नाङ्गनिष्ठमपि स्तुतिः ।

तदा किमङ्ग वक्तव्यमनङ्गात्मधियः फले ॥

इति प्रकृतसंगतिः ॥

**पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ ४ ॥**

‘अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः’ इत्याद्याख्याना-  
नि विद्यासंनिधौ श्रुतानि किमाश्रमेधिकपारिप्लवप्रयोगार्थानि,  
उत विद्यार्थानीति संशयः ; ‘सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे’  
इति सर्वशब्दात्, ‘पारिप्लवमाचक्षीत’ इति पुनर्विधाना-  
च्च । परिप्लुत्यानियमेन बुद्धिस्थकथनं पारिप्लवः । पूर्वत्रो-  
द्गीथादिस्तुत्यर्थत्वादुपास्यविषयसमर्पकत्वं रसतमत्वादेर्ज्याय  
इत्युक्तम्, तर्ह्याख्यानानामपि विद्यास्तुत्यर्थत्वात्साक्षात्पारि-  
प्लवप्रयोगशेषत्वं ज्यायः अनुष्ठानपर्यवसानसंभवात् ॥



सर्वशब्दश्रुतेर्विद्यासंनिधानस्य बाधनात् ।

अपि वेदान्तगाख्यानं व्रजेत्पारिप्लवार्थताम् ॥

यद्यप्यौपनिषदाख्यानानि विद्यासंनिधौ श्रुतानि, तथापि 'सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे' इति सर्वशब्दश्रुत्या निःशेषार्थया दुर्बलस्य संनिधेर्बाधितत्वात्पारिप्लवार्थान्येवाख्यानानि । न च 'यस्याश्विने शस्यमाने सूर्यो नाभ्युदियादपि सर्वदाशतयीरनुव्रूयात्' इति दाशतयीनां विनियोगेऽपि प्रातिस्विकविनियोगैस्तत्र तत्र कर्मणि यथा विनियोगो न विरुध्यते, तथेहापि सत्यपि पारिप्लवे विनियोगे संनिधानाद्विद्याङ्गत्वमपि भविष्यतीति वाच्यम्; दाशतयीनां 'दाशतयीः' इति समुदायविनियोगस्य, प्रातिस्विकानाम् 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यम्' इत्यादिविनियोगानां च श्रौतत्वेन तुल्यबलत्वात् । कचिच्च समानबलतया सकृत्प्रवृत्तस्य प्रातिस्विकविनियोगस्यावगुण्ठनाभावाल्लिङ्गादिभिरपि मन्त्रविनियोगं सहते सर्वशब्दः । इह तु संनिधानाच्छ्रुतेर्वलीयस्त्वात्पारिप्लवार्थत्वमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

मन्वाद्याख्यानमेवैतद्वचसा विनियुज्यते ।

यतोऽत्र सर्वशब्दोऽपि ततस्तत्रैव संकुचेत् ॥

'सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे शंसति' इत्यभिधाय पुनः 'पारिप्लवमाचक्षीत' इति विधाय, ततः 'मनुर्वैवस्वतो राजा वभूव' इत्यादि पठ्यते; तत्र पुनर्विधानं वाक्यशेषगताख्याननियमार्थम्; इतरथा वैयर्थ्यात् । अतः सर्वशब्दोऽपि तत्रैव



संकोच्यः । वाक्यशेषगताख्यानानामपि मध्ये एकद्वयाद्यभिधायोपरमस्य व्यावर्तकतया च तस्यार्थवत्ता । पुनर्विधिश्रुत्या चावच्छेदिकया सर्वशब्दश्रुतौ भग्नदर्पायां निर्भयः संनिधिः विद्यास्वेवोपनिषदाख्यानानि विनियुज्जीत ; प्रतिपत्तिसौकर्यं च प्रयोजनम् ॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ ५ ॥

ब्रह्मविद्या मोक्षे कर्मकृतोपकारमपेक्षते न वेति संशयः ; तदर्थं च यज्ञादीनां किं विद्याफले मोक्षे अन्वयः, उत विविदिषायामेवेति ; इच्छाया यज्ञादिफलत्वासंभवसंभवाभ्याम् । पूर्वत्राख्यानानां विद्यासंनिधेर्विद्याशेषत्वमुक्तम्, तर्हि विद्याप्रकरणे 'यज्ञेन' इत्यादिवाक्येन यज्ञादीनां विद्यायां विनियोगात्तेषां ब्रह्मविद्याशेषत्वमिति प्राप्तम् ॥

न वेदनेच्छा विहितप्रवृत्तेः

फलं भवेत्किं तु विमुक्तिरेव ।

ज्ञानेन तस्या उदयेऽद्य शान्तिं

यज्ञादि कुर्वति फलोपकारम् ॥

इह हि यज्ञादीनां साधनभावस्यापूर्वत्वाद्विधिपरमिदं वाक्यम् ; सविधिके च वाक्ये विध्यवच्छिन्नभावनारूपवाक्यार्थानुप्रवेशपूर्वक एव पदानां परस्परसंबन्धः ; अन्यथा दध्ना होम इतिवद्वैयर्थ्यात् । सा च भावना मोक्षेणैव भाव्येनावच्छेद्या, न तु विविदिषया, तस्या अपुमर्थत्वात् । न च विवि-

दिषा भावनायां करणम्; अविहितत्वात् । तस्मान्न तस्या यज्ञादि द्रव्यदेवतावत्संनिपत्य, नापि प्रयाजादिवदारात्, उपकरोति । तेन विविदिषया वेदनद्वारेण यत्कुर्यादित्यर्थप्राप्तमेवानूद्य यज्ञादिभिरुपकृत्येति विधीयते; ततश्च ज्ञानस्य फलोपकार्यङ्गं यज्ञादिः, उपकारश्च कर्मक्षयः । ब्रह्मभावाभिव्यक्तिर्हि ज्ञानेन क्रियते कर्मभिश्च कर्मक्षयः; स च ध्वंसत्वान्नित्यः; न चेच्छाकामस्य यज्ञादावधिकारः संभवति; अपुमर्थत्वात्, तस्यां कामानुपपत्तेः । न च ज्ञानसाधनत्वेन पुमर्थता, साध्येच्छापूर्वकत्वात्साधनेच्छायाः साध्यज्ञानेच्छायाः प्रागेव जातत्वेन पुनस्तस्याः कामनानुपपत्तेः । न च तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तमिच्छानुवृत्तेरिष्टत्वाच्छाब्दज्ञानेच्छायां जातायामपि साक्षात्कारादाविच्छाकाम्यत इति वाच्यम्; तत्रापि साक्षात्कारादिकामनानुपपत्तेः; तदिच्छायां च जातायां पुनः कामानुपपत्तिरिति पूर्वोक्तादनिस्तारात् । किं चेच्छा विषयसौन्दर्यजन्या, न यज्ञादिसाध्या । न च बुभुक्षादावास्ति साधनापेक्षेति वाच्यम्; तत्रापि जाठरानलपाटवस्य भैषज्यैः साध्यत्वात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

क्रमेण मोक्षहेतुत्वाद्भवेद्विविदिषा फलम् ।

ज्ञानात्कर्मक्षयः सिद्धस्तस्मिन्दृष्ट इति श्रुतेः ॥

रुचिकामनयोर्भेदात्कामेऽपि ब्रह्मवेदने ।

रुचिः क्रियाभिराधेया दुग्धे पित्तवतो यथा ॥

यदुक्तं भावनाभाव्यो मोक्ष इति ; तन्न घटते ; ब्रह्मभावो  
मोक्षो न भाव्यः, तस्य नित्यत्वात् । मोक्षगतः कर्मक्षयो न  
कर्मसाध्यः ; ‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे’  
इति ज्ञानसाध्यत्वश्रवणात् । यच्च इच्छाया अपुमर्थत्वान्न  
भाव्यत्वमिति ; तन्न ; ज्ञानद्वारा मोक्षसाधनत्वेन पुमर्थत्वात् ।  
असुखत्वादफलत्वे ग्रामादौ व्यभिचारात् । या चेच्छायां का-  
मनानुपपत्तिरुक्ता, सापि न ; यतोऽन्या कामना, अन्या च  
रुचिः, यथा पित्तदूषितास्यो दुग्धपानं कामयते, न च तस्मै  
दुग्धं रोचते, तत्र सत्यामपि कामनायां रुचिः साध्या ; एवं  
परमपुरुषार्थसाधनत्वेन ब्रह्मज्ञानेऽभिलाषेऽपि पापिनां विषय-  
रागापहृतचेतसामरुचौ सत्यां यज्ञादयः पापक्षयद्वारेणारुचिमु-  
पगन्तो जनयन्त्यभिरुचिम् । एवं चास्यां विविदिषापराभिधा-  
नायां श्रुतभाव्यायां लभ्यमानायां ज्ञानद्वारा मोक्षभाव्यत्वक-  
ल्पनां पौरुषेयीं वेदो न मृष्यते । न च तस्य भाव्यतेत्यप्युक्तम् ।  
एवम् ‘यज्ञेन’ इति श्रुतिर्न मोक्षे कर्मणां समुच्चयमाह । ‘वि-  
द्यां चाविद्यां च’ इत्यत्र ‘अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा’ इत्यविद्यायाः  
कर्मणः पापक्षयहेतुत्वमुक्तम्, पापं च तत्र ज्ञानोत्पत्तिप्रति-  
बन्धकं विवक्षितम्, मोक्षगतपापक्षयस्य विद्यासाध्यत्वश्रुतेः ;  
संहितत्वमप्येकपुरुषाश्रयत्वमेव, नैककालत्वम् ; विरोधात्, न  
हि विद्याकाले कर्मानुष्ठानं शक्यम्, नापि कर्मकाले विद्या ।  
किं च स्मृतिरपि कर्मज्ञानयोः ‘कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं  
प्रवर्तते’ इति भिन्नकालत्वमाह । एवं समुच्चयविषयत्वेनावभा-

समानवचनान्तराण्यपि व्याख्येयानि ॥

**सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ ६ ॥**

ब्रह्मात्मैकत्वविद्या स्वोत्पत्तौ यज्ञादि नापेक्षते, उतापेक्षते इति संशयः ; ज्ञानस्य प्रमाणप्रवृत्तौ सत्यामन्यापेक्षाया अदर्शनात्, 'यज्ञेन' इत्यादिश्रुतेश्च । पूर्वत्र विद्याफले कर्मानपेक्षोक्ता, तर्ह्युत्पत्तावपि अनपेक्षा । ननु विविदिषा यज्ञादिना साध्या न मोक्षः, तत्र कर्मसाध्यांशाभावादिति स्थिते, किमत्राशङ्क्यते ? उच्यते—

ब्रह्माप्तौ कर्मविध्वंसे माभूद्यज्ञाद्यपेक्षणम् ।

अविद्यापनये विद्या यज्ञादिकमपेक्षते ॥

फलोपकारत्वसंभवे यज्ञादीनां न फल्गुनीच्छामात्रे विनियोगः कल्प्यते, संभवति च मोक्षे उपकारः कर्मणाम् ॥

ब्रह्मोपासनयाविद्याप्रतिबन्धनिरासतः ।

स्वरूपानुभवव्यक्तौ कर्मणामुपकारिता ॥

न तावच्छाब्दज्ञानोत्पत्तौ कर्मणामुपयोगः, तस्य विदितपदपदार्थसंगतेः समधिगतशाब्दन्यायतत्त्वस्य पुंसः स्वरसत उत्पत्तेः । नापि तदभ्यासे यथापूर्वानुभवमुत्पत्तेः । साक्षात्कारोऽपि यथाभ्यासमुदेतीति न तत्राप्यस्ति कर्मापेक्षा । तस्मात्साक्षात्कारद्वारिकायां विपर्यासनिवृत्तिपूर्वकवस्तुतत्त्वाभिव्यक्तौ कर्मणामुपयोगः । औपाधिकभ्रमे हि विपर्यासनिवृत्तिः

यत्नान्तरसाध्यादुपाधिध्वंसात्, न ज्ञानादेव; द्विचन्द्रादिषु  
तथा दृष्टत्वात् । न च तत्रापरोक्षज्ञानमेव विपर्यासनिवर्तकम्,  
विपर्यासनिवृत्तिमन्तरेण साक्षात्कारस्यैवानुदयात् । न खलु  
तिमिरनिवृत्तिव्यतिरेकेण चन्द्रैकत्वभावना जनयति चन्द्रत-  
त्त्वसाक्षात्कारम् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

तिमिरं न शशाङ्कमोहजं

क्रियया तद्विनिवारणं ततः ।

अपरोक्षमतिः परात्मगा

तदबोधप्रभवं भवं नुदेत् ॥

यो हि साक्षात्कारो यद्विषयः स तदविद्यां निवर्तयंस्तदु-  
द्भवं भ्रममपि निवर्तयतीति ब्रह्मसाक्षात्कारादविद्यानिवृत्ति-  
द्वारा संसारभ्रमप्रदाह उपपद्यते । सत्यप्यविद्योपाधौ तज्जे च  
भ्रमे ब्रह्माहमस्मीति शाब्दबोधभावनापरिपक्वं चेतस्तत्साक्षा-  
त्कारं जनयेत्, सत्येव भेदभ्रमे चक्षुरिव भेदभ्रान्तिनिव-  
र्तिकां प्रत्यभिज्ञाम् । अन्तःकरणादेरपि अविद्योपादानत्वा-  
त्तन्निवृत्तौ निवृत्तिः; तिमिरादि तु न चन्द्राद्यज्ञानजम् । अतो  
न चन्द्रादिज्ञाननिरस्यमिति न दृष्टान्तः । किं च,

ब्रह्मास्मीति मतौ शाब्दयामधिकारोपमर्दनात् ।

नैव कर्म कुतस्तेन भावनायाः समुच्चयः ॥

न च परोक्षनिर्णयेन बाधितस्यापि ब्रह्मण्यनाद्यभिमानस्य

तिक्तगुडादिप्रत्ययवदाभासरूपेणानुवर्तमानस्य कर्माधिकारहे-  
तुत्वम्, बाधितेऽस्मिन्श्रद्धाविरहादश्रद्धधानस्य च पुंसः कर्म-  
ण्यनधिकारात् । यदुक्तं भगवता— ‘अश्रद्धया हुतम्’ इत्या-  
दि । यत्त्वत्र केशव उवाच— भेदाभेदाभ्यां ब्रह्मास्मीति च  
कर्मण्यधिकृतोऽस्मीति चाभिमानावविरुद्धौ । ‘अधिकारनि-  
मित्तेऽपि न श्रद्धते यदा नरः । अविद्वानिव पापोपहतचित्तो  
ब्रजत्यधः’ इति, तदसाधु; मुक्तानामपि भेदाभेदाभ्यामधि-  
कारप्रसङ्गात्, शास्त्रकृते श्रद्धाविरहेऽधःपातानापत्तेः । भास्क-  
रेण तु अत एवोद्धरेतःसु च विद्यादर्शनादग्नीन्धनादि गृहस्थ-  
कर्ममात्रं नापेक्षते ब्रह्मविद्या, किं तु यत्यादिकर्माण्यपेक्षत  
इति पूर्वसूत्रं व्याख्याय सर्वाश्रमकर्मपेक्षेतत्सूत्रं व्याख्या-  
तम् । तत्र पूर्वसूत्रे मात्रपदाध्याहारप्रसङ्गः । ‘सर्वापेक्षा’  
इत्यनेनैव सर्वाश्रमकर्मोपयोगसिद्धेः पूर्वसूत्रवैयर्थ्यं चेति ।  
तस्मात्

अनागसि प्रयुक्तत्वात्प्रह्लाद इव शंकरे ।

कृत्या याति प्रयोक्तारं सूत्राभिप्रायसंवृतिः ॥

सर्वज्ञानुमतिश्च प्राणाल्यये तद्दर्शनात् ॥ ७ ॥

प्राणविद्यायाम्— यदिदं किं चाश्वभ्यः आक्रिमिभ्यो भक्ष्य-  
त्वेन स्थितम्, तद्वै प्राण तेऽन्नम्— इति प्राणेन जितैरिन्द्रियैः स-  
र्वमन्नं प्राणाय दत्तमित्युपदिश्यान्नायते; च्छान्दोग्ये ‘न ह वा  
एवंविदि किंचनानन्नं भवति’ इति; तथा वाजसनेयकेऽपि—

‘न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति’ इति । तत्र संशयः—  
किमिह सर्वमन्नमद्यादिति प्राणविद्याङ्गत्वेन विधिः, उत प्रा-  
णस्य सर्वमन्नमिति चिन्तनस्य स्तुतिरिति; सर्वान्नभक्षणस्या-  
पूर्वत्वसंभवासंभवाभ्याम् । पूर्वत्र ‘विविदिषन्ति इति’ वर्त-  
मानापदेशेऽप्यपूर्वत्वात्पञ्चमलकारस्वीकारेण विधिः कल्पितः,  
एवमत्रापि ‘भवति’ इति वर्तमानापदेशेऽप्यपूर्वत्वात्पञ्चमल-  
कारापत्त्या विधिः ॥

न रागाद्भक्षणं प्राप्तं पश्चाद्यन्नतृणादिषु ।

भवतेर्भावनालाभाद्विधिः सर्वान्नभक्षणे ॥

स्तुत्यर्थत्वाद्विध्यर्थत्वं न्याय्यम्, प्रवृत्तिविशेषकरत्वला-  
भात् । भवत्यर्थेन च भावना लक्ष्यते । न च तन्निरूपकधा-  
त्वर्थाभावः, ‘अनन्नं भवति’ इत्यत्रान्नशब्दस्य ‘अद भक्षणे’  
इत्यस्माद्धातोर्निष्ठायां निष्पन्नत्वेन भक्षणस्य भावनावच्छेदक-  
स्य भावात् । ‘अस्यानन्नं जग्धं भवति’ इत्यत्र तु भक्षणमुक्त-  
मेव । भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रेण च पुरुषार्थविषयेण न सर्वा-  
न्नभक्षणशास्त्रं विद्याङ्गविषयं बाध्यते, गम्यागम्याविधायक-  
शास्त्रेणैव वामदेवविद्याङ्गभूतसर्वस्त्र्यपरिहारवचनम् । न च  
करिकरभभक्ष्यस्य वटकाष्ठशमीकरीरादेरशक्यत्वादत्तुं सर्वा-  
न्नभक्षणविध्यसंभवः; पुरुषशक्यपेक्षस्य शास्त्रस्य योग्यवि-  
षयत्वात् । एवं प्राप्ते, अमिधीयते—

अशक्तेः कल्पनीयत्वाच्छास्त्रान्तरविरोधतः ।

प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति चिन्तनसंस्तवः ॥

अशक्तिरुक्ता । शक्यमात्रे संकोचे तु सकृत्प्रवृत्तस्यावकुण्ठ-  
नाभावाच्छास्त्राविरुद्धमात्रे स स्यात् । न च पुरुषार्थविषयो  
भक्षणनिषेधः, विधिस्तु प्राणविद्यार्थ इति वाच्यम्; विधेरे-  
वाश्रवणात् । न चापूर्वत्वात्तत्कल्पना, अदनीयेऽनुवादत्वात्  
अनदनीये त्वशक्ये विध्ययोगात्, शक्ये कलञ्जादौ निषेध-  
शास्त्रेण वैपरीत्यपरिच्छेदादपूर्वार्थत्वाभावात् । विषयव्यव-  
स्थापि क्लृप्तस्य शास्त्रस्य । इह तु न क्लृप्तिः स्तुत्याप्युप-  
पत्तेः ॥

### विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ८ ॥

‘यज्ञेन’ इत्यादिवाक्यं विविदिषायां यज्ञादीनि विनियुक्ते,  
न वेति संशयः; नित्यत्वकाम्यत्वयोरेकत्र विरोधात्, विनि-  
योगश्रुतेश्च । पूर्वत्र विविदिषार्थत्वं यज्ञादीनामुक्तं तदा-  
क्षिप्यते, यथा शास्त्रान्तरविरोधात्सर्वान्नत्ववचनं स्तुतिः,  
एवं यज्ञादीनां नित्यत्वश्रुतिविरोधाद्विविदिषार्थत्ववचनं स्तु-  
तिरित्यनन्तरसंगतिः ॥

अवश्यत्वानवश्यत्वे नैकत्र स्तां विरोधतः ।

वस्तुनिष्ठविरोधो न वचनेनापनीयते ॥

आश्रमकर्माणि यावज्जीवादिश्रुतिभिर्नित्यसमीहितोपात्तदु-  
रितक्षयहेतुत्वादवश्यकर्तव्यानि विहितानि, ‘विविदिषन्ति’  
इति च इच्छार्थतया विनियुक्तानि, विविदिषायाश्चानवश्यं-



भावात् तत्साधनानां नावश्यकर्तव्यता, तस्माद्विरोधः ।  
न च वस्तुगतो विरोधः शक्यो वचनाभ्यां निवर्तयितुम्;  
एतेन 'एकस्य तूभयत्वे' इत्येतदप्याक्षिप्तम्; तस्मादनध्यव-  
साय इति प्राप्ते, अभिदध्महे—

सिद्धे हि स्याद्विरोधोऽयं न तु साध्ये कथंचन ।

विध्यधीनात्मलाभेऽस्मिन्यथाविधि मता स्थिताः ॥

सिद्धं हि वस्तु विरुद्धधर्मयोगेन बाध्यते, तस्य नित्यस्या-  
नित्यस्य वा व्यवस्थितत्वेनान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्; साध्य-  
रूपं तु विधितः कर्तव्यमित्यध्यवसाय यथाविधि निष्पाद्यते;  
अतस्तस्य रूपं विधित एव ज्ञातव्यम् । विधितश्चाग्निहोत्रादे-  
रावश्यकत्वानावश्यकत्वप्रतीतेर्न विरोधः । न च विविदिषार्थ-  
प्रयोगस्यानावश्यकत्वेन नित्यत्वाभावात् प्रत्यवायपरिहाराय  
नित्यप्रयोगोऽपि पृथक्कर्तव्यः, न चेन्नित्यप्रयोगस्यानित्यत्वं स्या-  
त्, तच्च विरुद्धमिति वाच्यम्; नित्यप्रयोगं विकृत्य अनित्य-  
प्रयोगनिवेशात्साङ्गस्य कर्मण उभयत्वाप्यविशेषेणानित्यप्रयोगे-  
ऽपि नित्यस्य प्रसङ्गसिद्धेः नित्यविधेः पृथक्प्रयोक्तृत्वाभावात् ।  
ततश्च न प्रयोगावृत्तिप्रसङ्गः । ननु 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहु-  
यात्' 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति वाक्ययोरेकत्र प्रक-  
रणे श्रवणाद्युक्त एकस्य कर्मणः काम्यत्वेन नित्यत्वेन च प्रयो-  
गः; यज्ञादिवाक्यस्य तु भिन्नप्रकरणत्वान्न विनियोगान्तरहे-  
तुत्वम् । किं तु कौण्डपायिनामयनवत्कर्मन्तरविधायकत्वमे-  
वेति, तन्न; यतो न प्रकरणान्तरं साक्षात्कर्मभेदकम्,

किं तु यत्र कर्मैव धातुनोपादायाख्यातेन विधीयते, तत्र कर्मविधायकत्वं स्वभावमपरित्यजन्विधिः कर्मान्तरं विदध्यादित्युत्सर्गः; प्रकरणैक्ये तु स्फुटतरप्रत्यभिज्ञानादज्ञातज्ञापकत्वाभावात्कर्मानूद्य गुणादिपरो भवति । गुणाद्यश्रवणे तु कर्मैव विधत्ते, यथा समिदादिषु । प्रकरणभेदे तु बुद्धिविच्छेदाद्विघटितप्रत्यभिज्ञानः स्वरसमजहत्कर्म विदधद्भिनत्ति, यत्रानुपादेयसंबन्धः— यथा ‘मासमग्निहोत्रं जुह्वति’ इत्यत्र कालोपबन्धात् । उपादेययोगे तु कर्मानुवादेन गुणविधिरेव यथा ‘आहवनीये जुहोति’ इत्यत्र होमानुवादेन आहवनीय उपादेयो विधीयते । तदाहुः— ‘उपादेयो गुणो यत्र भवेत्प्रकरणान्तरे । तत्राकर्मान्तरं युक्तमुद्देश्ये त्वन्यकर्मता’ इति । इह तु सत्यपि प्रकरणान्तरे सत्यपि चानुपादेयविविदिषासंबन्धे न कर्म भिनत्ति, यज्ञादौ विधेरश्रवणेन पृथगुत्पत्त्यप्रतीतेः; विविदिषायां तु विधिः श्रूयते, सा च फलत्वादविधेयेति तत उत्तीर्णो यज्ञादौ संक्रामन्नपि न तदुत्पादकः, उत्पत्तौ विनियोगे च विधिव्यापारे गौरवप्रसङ्गात्; अतोऽन्यत्रोत्पन्नान्येवाख्यातापरतन्त्रैर्यज्ञादिशब्दैरुपस्थापितानि यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुक्ते । सूत्रोक्तसहकारित्वं च विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितनिवर्तकत्वेन विद्यासाधनश्रवणादीनां यज्ञादीनि सहकारीणीत्येवमभिप्रायम्; न प्रयाजादिवद्विद्याफलोपकारकत्वपरम्; ‘अत एव चाग्नीन्धनादि’ इत्यत्र तन्निषेधादिति ॥

## अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ९ ॥

अनाश्रमिकर्माणि विद्याया असाधनं साधनं वेति संशयः ; आश्रमिकर्मणां विद्यायां विनियोगात्, अनाश्रमिकर्मणां धर्म-  
त्वप्रसिद्धेश्च । पूर्वत्र नित्यानां यज्ञादीनां विद्यायां पृथग्विनि-  
योगान्न नित्यानित्यसंयोगविरोध इत्युक्तम्, तर्ह्यनाश्रमिभिर-  
नुष्ठितानां वर्णमात्रधर्माणां विद्यायां विनियोगादर्शनात्तेषां वि-  
द्यासाधनत्वाभ्युपगमे नित्यानित्यत्वविरोधः । अपि च

अप्यनाश्रमिकर्मभ्यो ब्रह्मविद्या भवेद्यदि ।

ब्रह्मायासेषु वैयर्थ्यं स्यात्तदाश्रमकर्मसु ॥

तस्माद्विद्यासाधनाश्रमकर्मणामभावाद्विद्यायामनाश्रमिणा-  
मनधिकार इति प्राप्ते, उच्यते—

तपोऽनशनदानेभ्यो जपाच्च ब्रह्मबोधनम् ।

भवान्तरीययज्ञाच्च स्यादनाश्रमिणामपि ॥

दानादिषु प्रत्येकं तृतीयाश्रुतेर्निरपेक्षं विविदिषासाधनत्व-  
मवगतम् । न च दानादीन्याश्रमकर्माणीत्यत्र प्रमाणमस्ति ;  
यज्ञसंनिधिस्तु श्रुतिभिरविशेषप्रवृत्ताभिर्बाध्यते । तेन यज्ञर-  
हितानामप्यनाश्रमिणां दानादिभिः जन्मान्तरकृतयज्ञादेश्च वि-  
द्याधिकारः । न च द्रव्ययज्ञ एव यज्ञः, तपोयज्ञादेरपि गांतासु  
दर्शितत्वान् ; आश्रमिणां तु कर्मभूयस्त्वादचिरेण विविदिषा,  
अन्येषां चिरेण, सत्याश्रमपरिग्रहसामर्थ्ये च न वर्णमात्राद्वि-

विदिषोदय इत्याश्रमकर्मणामर्थवत्ता ॥

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि निय-  
मातद्रूपाभावेभ्यः ॥ १० ॥

ऊर्ध्वरेतसामाश्रमिणां प्रच्युतानां पुनर्गार्हस्थ्यमापन्नानां  
ये यज्ञादयस्ते किं विद्यासाधनानि न वेति संशयः ; प्रत्यव-  
रोहस्य निषिद्धत्वात्प्रत्यवरुह्य कृतकर्मणां यज्ञादित्वप्रसिद्धेश्च ।  
यद्यप्याश्रमाधिकरणानन्तरमियं चिन्तोचिता, तथाप्यवान्त-  
रसंगतिलोभादिह क्रियते । पूर्वत्रानाश्रमिकर्मणामपि विद्या-  
साधनत्वमनाश्रमिष्वपि विद्योपलब्धेरित्युक्तम्, तर्हि प्रच्युत-  
कर्मणामपि विद्यासाधनत्वं नैष्ठिकत्वप्रच्युतस्यापि वेदव्यास-  
स्य ब्रह्मवित्प्रवरत्वदृष्टेः । किं च

प्रच्युतेः प्रतिषिद्धत्वमनाश्रमितया समम् ।

प्रायश्चित्तं समं चात्र निषेधस्यातिलङ्घने ॥

यथा हि 'अरण्यमियात् . . . . .ततो नेयात्' इति प्रत्यवरोहे  
निषेधस्तथा 'अनाश्रमी न तिष्ठेत्' इत्यनाश्रमित्वेऽप्यस्ति ।  
यथा वा अनाश्रमित्वनिषेधातिक्रमे 'संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा  
कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्' इति प्रायश्चित्तं स्मृतम्, तथा प्रच्यु-  
तिनिषेधोलङ्घनेऽपि स्मर्यते—'ये प्रत्यवसिता विप्राः प्रब्रज्या-  
ग्निजलादितः । आर्द्राशुकादि संत्यज्य गृहस्थत्वं चिकीर्षवः ॥  
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्त्रीणि चान्द्रायणानि च । जातक

मादयः कार्या मतेनाङ्गिरसेन तु' इति । अग्निजलादिशब्देन वानप्रस्थं लक्ष्यते । 'ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थः' 'आर्द्रवासाश्च हेमन्ते' इति तद्धर्मविधिः । अत्र च चिकीर्षितगार्हस्थ्योपायत्वं कृच्छ्रादेरवगम्यमानं तत्प्रतिबन्धकप्रच्युतिनिषेधातिक्रमकृतपापनिवर्तनेन ; अन्यथा साक्षादुपायत्वासंभवात् । 'चण्डालाः प्रत्यवसिताः परिव्राजकतापसाः । तेषां जातान्यपत्यानि चण्डालैः सह वासयेत्' इत्यादिनिन्दाश्चाकृतकृच्छ्रविषयाः ॥

सिद्धान्तस्तु—

चलतः स्थापयेद्धर्म इति यो नियमः स्मृतः ।

राज्ञां तद्वाक्यशेषोऽयं चारयित्वेति णिच्छुतेः ॥

नात्र प्रच्युतस्य गार्हस्थ्यप्राप्त्यर्थं प्रायश्चित्तं विधीयते ; किं तर्हि यस्मादाश्रमाच्च्युतिस्तत्रैव पुनः स्थित्यर्थं प्रायश्चित्तं राज्ञा कारयितव्यम् । 'गृहस्थत्वं चिकीर्षवः' इति तु पूर्वधर्मेषु अनुष्ठानचिकीर्षया च्युताविदं प्रायश्चित्तमिति ज्ञापनार्थम् । यस्तु रागप्राबल्यात्प्रच्युतः सन्यत्याद्याश्रमे पुनः स्थातुमिच्छति, तं प्रत्युक्तम्— 'प्रव्रज्यावसितो राज्ञो दास आमरणान्तिकम्' इति । प्रच्युतस्य पुनर्गार्हस्थ्यभ्यनुज्ञायाम् 'चण्डालाः प्रत्यवसिताः' इत्यादिनिन्दातिशयो न स्यात् । न चास्यानाचरित-कृच्छ्रादिविषयत्वम् ; को हि कृच्छ्रमात्रायासाद्भीतः स्वस्य चण्डालतां स्वापत्यानां च चण्डालैः सह वासं सहते ? तस्मात्प्रत्यवरोहस्याशास्त्रीयत्वात्पतितकृतकर्मणां न विद्यासाधनत्वम् ;

व्यासादीनां तु तेजोविशेषान्न प्रत्यवायः; तैश्च न रागात्प्रवृत्तम्; नैष्ठिकादिभाव एव च पुनर्व्यवस्थितमिति वैषम्यम् ॥

## न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तद- योगात् ॥ ११ ॥

ऊर्ध्वरेतसां योनौ निषिक्तेरेतसामुपकुर्वाणव्यातिरिक्तानां प्रायश्चित्तमस्ति न वेति संशयः; योनौ रेतोनिषेकश्चावकिरणम् । 'खण्डितं व्रतिना रेतो येन स्याद्ब्रह्मचारिणा । कामतोऽकामतोबाहुरवकीर्णीति तं बुधाः' इति जातुकर्णेनाविशेषेणोक्तस्य याज्ञवल्क्येन विशेषितत्वात्— 'अवकीर्णी भवेद्ब्रह्मचारी तु योषितम् । गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुध्यति' इति । तत्र विशेषस्य स्त्रीसंगमस्योपलक्षणत्वाश्रयणाद्वरं सामान्यस्य रेतःखण्डनस्य संकोचः, शब्दार्थवाधाभावात् । ततः सूक्तम्— योनौ निषिक्तेरेतसाम् इति । उपकुर्वाणे तु न संदेहः, तस्मिन्निन्दातिशयादर्शनेन गर्दभालम्भस्य निश्चयात् । अवकीर्णिमात्रे प्रायश्चित्तस्य विहितत्वात्, नैष्ठिके तदभाववचनाच्च संशयः; आमरणाद्ब्रह्मचर्यसंकल्पभङ्गस्य तुल्यत्वान्नैष्ठिकग्रहणं स्मृतौ यतिवनस्थयोरुपलक्षणार्थम् । पूर्वत्र प्रत्यवरोहे शास्त्राभावात्स न कार्य इत्युक्तम्, इहापि नैष्ठिकस्य वचनाभावान्न प्रायश्चित्तम् ॥

प्रायश्चित्तनिषेधस्य विशेषविषयत्वतः ।

सामान्यविषयं शास्त्रमुपकुर्वाणगोचरम् ॥

‘आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा’ इति नैष्ठिकाविषये विशेषतः प्रायश्चित्ताभावः स्मर्यते ; यत्तु पूर्वोदाहृतयाज्ञवल्क्य-वचनम्, या च श्रुतिः—‘ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत’ इति ; तत्र स्मृतिः सामान्यविषया न विशेषस्मृतिं बाधते ॥

श्रुतेस्तु विषयो दत्तो मनुना ह्युपपातकी ।

प्रायश्चित्तनिषेधात्तु पतनं नैष्ठिकच्युतिः ॥

मनुर्हि गोवधप्रायश्चित्तमभिधाय, ‘एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः । अवकीर्णिवर्जं शुद्धयर्थं चान्द्रायणमथापि वा’ इति उपपातकिषु तदतिदिश्य, पुनरवकीर्णिनमुपपातकित्वेन सिद्धवत्कृत्य ‘वर्जम्’ इति गोवधप्रायश्चित्तं व्यावर्त्य, ‘अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे । पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि’ इति प्रायश्चित्तान्तरं विदधाति ; तेन ज्ञायते ह्युपपातकमवकिरणमिति । नैष्ठिकादिच्युतिस्तु प्रायश्चित्तादर्शनस्मृतिसामर्थ्यादुपपातकादधिकेति पतनम् । तस्मादुपपातकभूतोपकुर्वाणकच्युतिविषयं प्रायश्चित्तं न पतनरूपनैष्ठिकच्यवनविषयमिति सिद्ध इह प्रायश्चित्तशास्त्राभावः ॥

अत्रोच्यते—

इह दर्शनवारणादभावो

दृशिविषयस्य ततोऽस्य कार्यता स्यात् ।



श्रुतिरिह च विशेषबोधने तु

श्रुतिवचसो व्यवधायिका तु जातिः ॥

‘प्रायश्चित्तं न पश्यामि’ इति स्मृतौ प्रायश्चित्तदर्शनाभावोऽवगम्यते, न तु प्रायश्चित्ताभावः, स तु दर्शनाभावात्कल्प्यः । न चाभावमात्रबोधान्निवृत्तिः प्रायश्चित्तस्य ; प्रागभावादिबोधेष्वदर्शनात् । अतो न कुर्यात्प्रायश्चित्तमिति निषेधविधिरुन्नेतव्यः । तत्र स्मृतेर्मूलभूता श्रुतिः कल्प्येति त्रिभिर्व्यवधानम् । श्रुतेस्तु नैष्ठिकविशेषोपसर्पणे अवकीर्णित्वसामान्यमात्रं व्यवधानम् । ततश्च यावत्स्मृतिः प्रायश्चित्तदर्शनाभावद्वारा प्रायश्चित्ताभावं नैष्ठिकस्य विषयीकरोति तावच्छ्रुतिः सामान्यद्वारेण तस्य प्रायश्चित्तमवगमयतीति स्मृतिकृता श्रुतिकल्पना आमलूनसस्यवदन्तरा विलीयते । तथा प्रायश्चित्तस्मृतेरपि सामान्यश्रुतिकल्पना चेति द्वयन्तरितत्वात् त्र्यन्तरितप्रायश्चित्ताभावस्मृतेः सकाशात्प्राबल्यम् । एवं च प्रायश्चित्ताभावसिद्धेर्नैष्ठिकच्युतिरुपपातिकेति, मनुवचनस्य नोपकुर्वाणमात्रविषयत्वम् ; प्रायश्चित्तादर्शननिर्देशस्तु ‘उपकुर्वाणो हि यत्कुर्याद्ब्रह्मचारी तु नैष्ठिकः । तदेव द्विगुणं कुर्यात्’ इति हारीतेन द्विगुणप्रायश्चित्तस्योक्तत्वात् एकगुणं न पश्यामीत्येवमर्थः वक्ष्यमाणासंव्यवहाररूपप्रयत्नगौरवार्थश्च । भिक्षुवनस्थविशेषे तु ‘वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत्’ कक्षो लतासमूहः । ‘भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवृद्धिर्वज्रम्’ इत्यवकीर्णित्वसामान्यप्राप्तगर्दभालम्भबाधेन प्रा-



यश्चित्तं विहितम् । सोमवृद्धिर्लतावर्द्धनम् । यत्तु 'वानप्र-  
स्थो यतिश्चैव खण्डने सति रेतसः । पराकत्रयसंयुक्त-  
मवकीर्णिव्रतं चरेत्' इति शाण्डिल्यवचनम्, तदभ्यासवि-  
षयम्; प्रयोजनं तु पूर्वपक्षे अवकीर्णिना भिक्षुणा कृतं प्राणा-  
यामप्रणवजपादि न विद्यासाधनम्; सिद्धान्ते तु कृतप्राय-  
श्चित्तेनानुष्ठितं विद्यासाधनमिति । अत एव लक्षणसंगतिः ॥

**बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ १२ ॥**

कृतप्रायश्चित्तरवकीर्णिभिव्यवहतव्यम्, न वेति संशयः;  
तेषां कृतप्रायश्चित्तत्वात् निन्दातिशयस्मृतेश्च । पूर्वत्रावकीर्णि-  
नां प्रायश्चित्तमस्तीत्युक्तम्, तर्हि प्रायश्चित्तैः पापनिर्हरणाद्य-  
वहार्यत्वम् ॥

दोषादव्यवहार्यत्वं प्रायश्चित्तेन नाशितम् ।

तथाप्यव्यवहार्यत्वे प्रायश्चित्तमनर्थकम् ॥

सिद्धान्तस्तु—

प्रायश्चित्तैर्निरस्येत पारलौकिक्यशुद्धता ।

नैहिकी वचनान्यायबाधो बालवधादिवत् ॥

निषिद्धकर्मानुष्ठानजनितं पापं लोकद्वयेऽप्यशुद्धिमापाद-  
यति । तत्र कस्यचित्पापस्य तु लोकद्वयेऽप्यशुद्धिः प्रायश्चित्तै-  
रपनीयते, कस्यचित्तु परलोकाशुद्धिमात्रमपनीयते, एहलौकि-  
की त्वशुद्धिः पापजन्या न शक्या प्रायश्चित्तैरपनेतुम्— यथा

बालवधादौ । यदाह मनुः—‘ बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः । शरणागतहन्तृश्च स्त्रीहन्तृश्च न संविशेत् ’ इति । न भोजनादिसर्वव्यवहारमाचरेदित्यर्थः । याज्ञवल्क्योऽपि— ‘ प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् । कामतोऽव्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ’ अज्ञानेन कृतं कामतश्च कृतमेनः प्रायश्चित्तैरपैति, बालघ्नादिस्त्वव्यवहार्यो जायत इत्यर्थः ; ‘ बालघ्नांश्च ’ इत्यादि वचनम् । ततश्च कृतप्रायश्चित्तस्य बालघ्नादेरिहाव्यवहार्यत्वेऽपि न प्रायश्चित्तवैयर्थ्यम् ; पारलौकिकनरकपातपरिहारात् । न च यस्य प्रायश्चित्तं कृतं तत्कृतमशुद्धत्वं सर्वात्मना निवर्तत इति न्यायविरोधः ; अस्य प्रायश्चित्तात्पापनिवृत्तिरिति प्रतिपादकवचनमूलत्वात्, वचनेन कृतप्रायश्चित्तस्य बालघ्नादेरिहाव्यवहार्यत्वप्रतिपादकेन न्यायस्य बाधात् । एवमिहापि ‘ नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनां चावकीर्णिनाम् । शुद्धानामपि लोकेऽस्मिन्प्रत्यापत्तिर्न विद्यते ’ इति कौशिकवचनेनासंव्यवहार्यत्वम् । न च निवृत्तपापे कथं तत्कृताशुद्धेरनुवृत्तिरिति वाच्यम् ; निमित्तनिवृत्तावपि कार्यानुवृत्तेर्बहुलमुपलम्भादिति ॥

**स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ १३ ॥**

‘ ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ’ इत्येवमादीन्यङ्गाश्रितोपासनानि याजमानानि, उतार्तिव्यानीति संशयः ; फलस्य कर्तृगामित्ववचनात्, ऋत्विजां परिक्रयवचनाच्च । पूर्वत्र

कृतप्रायश्चित्तः संव्यवहार्य इत्युत्सर्गस्य वचनाद्वाध उक्तः,  
एवमिहापि आश्रयाङ्गानुष्ठातुरेवाश्रितोपास्तिकर्तृत्वमित्युत्सर्ग-  
स्य 'वर्षति हास्मै य उपास्ते' इति वचनात्फलभाज एव यज-  
मानस्य साधने कर्तृत्वप्रतिपादकाद्वाधः । 'पतितैर्व्यवहारे हि  
कदाचित्स्युस्त ऋत्विजः । आर्त्विज्यत्वादुपास्तीनां तत्संपर्कं  
ततस्त्यजेत्' इति सिद्धान्तप्रयोजनं प्रकृतोपयोगश्च ॥

फलस्य कर्तृगामित्वाद्याजमानमुपासनम् ।

परिक्रयान्न कर्तृत्वं तस्याङ्गविषयत्वतः ॥

'वर्षति हास्मै य एवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते'  
इत्यादिवचनानि कर्तुः फलमवगमयन्ति ; अधिकारिणश्च फ-  
लभाक्त्वमिति फलभोक्तुर्यजमानस्यैवोपासनेषु कर्तृत्वम् । न  
चोद्गातृकर्तृकेऽप्युपासने अस्ति परिक्रयद्वारा यजमानस्य क-  
र्तृत्वमिति वाच्यम् ; परिक्रयस्य साङ्गप्रधानविषयत्वात् । न  
चोपासनाङ्गमित्युक्तम् 'पृथग्व्यप्रतिबन्धः फलम्' इत्यत्र ; न  
चैवं गोदोहनादेरपि याजमानत्वशङ्का ; अप्रणयनादेरङ्गस्या-  
वश्यमृत्विग्भिर्निर्वर्त्यत्वेन तदाश्रितद्रव्यव्यापाररूपस्य पृथक्प्र-  
योगायोगात् । उपास्तीनां तु क्रियात्वाद्भवति पृथक्प्रयोगः ।  
शक्यते ह्युद्गीथाद्यङ्गेषु ऋत्विग्भिरनुष्ठीयमानेषु यजमानेन ते-  
ष्वदित्यादिदृष्टिरध्यसितुम् । उपास्तीनामौद्गात्रसमाख्या, 'तं ह  
वक्रो दातुभ्यः' इत्याद्यन्यार्थदर्शनं च, अधिकारिण एव कर्तृ-  
त्वप्रतिपादकश्रुतेः न्यायाच्च बाध्यत इति प्राप्ते, अभिधीयते—

साक्षात्परिक्रयाद्वा स्याद्यजमानस्य कर्तृता ।

नान्यथा गतिरस्त्यत्र वाक्यशेषसमाख्ययोः ॥

तदनुग्रहसिद्धयर्थमुपासनविधिस्ततः ।

परिक्रयेण कर्तृत्वं कांस्यभोजिवदाश्रयेत् ॥

यजमानगामिता हि फलस्य तन्मात्रकर्तृकत्वे परिक्रीतऋ-  
त्विक्कर्तृकत्वे च संभवति ; ततः कांस्यभोजिन्यायेन लिङ्गदर्शनं  
समाख्यां चानुग्रहीतुं फलश्रुतिः परिक्रयद्वारकं कर्तृत्वमाश्रय-  
ति । न चेदमन्यार्थदर्शनमात्रं लिङ्गदर्शनम्, अपि तु वाक्य-  
शेषः ; अतश्च न प्रापकान्तरापेक्षा समाख्यवाक्यशेषाभ्यां  
यजमानगामिफलसाधनानामपि उपास्तीनामृत्विक्कर्तृकत्वे सिद्धे  
तदर्थमपि ऋत्विक्परिक्रेतव्यः । एवं च कर्तुरेव फलमिति  
न विरोधः यजमानस्यापि द्वारकर्तृत्वादिति ॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो

विध्यादिवत् ॥ १४ ॥

‘तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं  
च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ  
ब्राह्मणः’ इति श्रूयते । तत्र संशयः— मौनं न विधीयते, उत  
विधीयत इति ; मौने विधेरश्रवणात्, बाल्ये श्रुतस्य तस्य मौने-  
ऽप्यनुषङ्गसंभवाच्च । पूर्वत्र ‘तं ह बकः’ इति वाक्यशेषाद-  
ङ्गोपासनमृत्विक्कर्तृकमित्युक्तम्, एवमिहापि ‘अथ ब्राह्मणः’

इति विधिविधुरवाक्यशेषात् 'अथ मुनिः' इत्येषोऽपि न विधिः ॥

एकवाक्यत्वलाभेन प्राप्तेः पाण्डित्यशब्दतः ।

बाल्यं स्तोतुमनूद्येत मुनिता न विधीयते ॥

मुनिशब्दो हि ज्ञानवाची, मननान्मुनिरिति व्युत्पत्तेः । संन्यासं वा वदेत्, 'मौनं वानप्रस्थम्' इति स्मृतेः । ज्ञानप्रकर्षं वा ब्रूयात्, 'मुनीनामप्यहं व्यासः' इति दर्शनात् । वाङ्मनियमवाचको वा, 'मयूरा मौनिनस्तस्थुः' इति दर्शनात् । अत्र पूर्वस्मिन्नर्थद्वये ज्ञानं पाण्डित्यशब्देन प्राप्तम्, संन्यासश्च 'व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति प्राप्तः । उत्तरमर्थद्वयमप्राप्तम् । तत्र यतरस्मिन्पक्षे मुनिशब्दस्य प्राप्तार्थता स एवाश्रयणीयः, 'अथ मुनिः' इति साकाङ्क्षनिर्देशप्रतीतैकवाक्यत्वरक्षणाय विध्यनुषङ्गपरिहाराय च ; तस्माद्बाल्यस्तुत्यर्थं मौनमनूद्यते ; यदा पाण्डित्यशब्देन मौनस्य प्राप्तिः, तदर्थं विधीयमानस्य बाल्यस्य प्रशंसा, न हि पाण्डित्यं स्वरूपेण ज्ञानं भवति ; अपि तु बाल्येऽनुष्ठिते अनन्तरं मौनापरपर्यायं पाण्डित्यं कृतं भवेत्, तस्माद्बाल्यं प्रशस्तमिति । यदा तु मौनस्योत्तमाश्रमस्य प्राप्तस्यानुवादः, तदा बाल्यमात्रानुष्ठानवानुत्तमाश्रमित्वेन स्तूयत इत्येवं प्राप्ते, अभिधीयते—

ज्ञानातिशयरूपस्य मौनस्याप्राप्तितोऽन्यतः ।

समानकर्तृकत्वाच्च पाण्डित्येन विधेयता ॥

ज्ञानोत्कर्षवत्सु हि व्यासादिषु मुनिशब्दः प्रयुज्यते, न

शास्त्रीयज्ञानमात्रवत्सु ; तेषु हि पण्डितोपाध्यायादिशब्दा एव प्रयुज्यन्ते । या तु ज्ञानमात्रे व्युत्पत्तिः, सा गच्छतीति गौः इतिवन्न शब्दार्थं व्यवस्थापयति ; संन्यासे च वृत्तिः गार्हस्थ्येन सन्निवृत्त्यादिसमभिव्याहारात् । वाङ्नियमे तु मुनिधर्मत्वलक्षणया मौनशब्दस्य वृत्तिः ; सा च निरूढेति मुख्यवत्प्रतीतिः ; न वाचकत्वमेव, अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात् । वाङ्नियमे तु मुख्यत्वे रूढिकल्पना स्यात् । ज्ञानातिशये तु योगस्यैव नियतप्रयोगवशात्संकोच इति लाघवम् । तेन पाण्डित्यशब्देन ज्ञानमात्रवाचिना मौनस्याप्राप्तत्वाद्विधेयपाण्डित्येनैककर्तृकत्वनिर्देशाच्च विधिः । न तु पाण्डित्यं श्रवणम्, बाल्यं मननम्, मौनं निदिध्यासनम्, ब्राह्मण्यं साक्षात्कारः । तत्र साक्षात्कारः फलत्वान्न विधेयः । उपायास्तु अन्वयव्यतिरेकसिद्धसाधनतया न विधेयाः । अवघातादिवैषम्यं च कल्पतरावुपपादितम् । तत्र कथं मौनविधिः ? उच्यते—

विधिवन्निगदैः शब्दैः प्राप्तार्थस्यानुवादिभिः ।

प्रवृत्त्यतिशयोत्पादात्स्तुत्यामी विधयो मताः ॥

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ १५ ॥

‘बाल्येन तिष्ठासेत्’ इत्यत्र बालभावस्य इच्छया संपादयितुमशक्यत्वाद्बालस्य कर्म तद्वितार्थः । तत्किं कामचारवाद्भक्षणता भावशुद्धिर्वेति संशयः ; उभयोरपि बालकर्मत्वात् ।

पूर्वत्र मौनशब्दस्य ज्ञानातिशये प्रसिद्धिमाश्रित्याप्राप्तमौनविधि-  
राश्रितः, एवमत्रापि बाल्यशब्दस्य कामचारादौ प्रसिद्धेः,  
तदेव बाल्यम् । न हि शुद्धभावेऽपि तपस्विनि बालशब्दं  
वृद्धाः प्रयुज्जते ॥

सकलं बालचरितमसंकोचाद्विधीयते ।

अविद्वद्विषयत्वेन न निषेधैर्विरुद्धता ॥

सामान्यविषयं हि शौचादिनियमविधानं निषेधशास्त्रं  
चानेन विशेषविधानेन अविद्वद्विषये व्यवस्थाप्यमिति प्राप्ते,  
अभिधीयते—

ज्ञानाङ्गत्वेन बाल्यस्य विधिः शेष्यविरोधिनी ।

शास्त्रान्तराविरुद्धा च भावशुद्धिर्विधीयते ॥

‘बाल्यं निर्विद्य मुनिः’ इति क्त्वाप्रत्ययेन ज्ञानातिशयं  
प्रति बाल्यमङ्गत्वेनावगतम् । न च यथेष्टचेष्टायां प्रधानसिद्धिः ;  
तस्माच्छेष्यनुग्रहाय भावशुद्धिरेव बाल्यम् । एवं च नियमशा-  
स्त्रमपि न संकोच्यम् । यद्यपि केवलायां भावशुद्धौ बाल्यश-  
ब्दो न प्रसिद्धः, तथापि कामचारादिमति बाले भावशुद्धि-  
रस्ति ; तावन्मात्रपरतया बाल्यशब्द उक्तहेतुद्वयवशात्संको-  
च्यः ॥

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥

विद्यासाधनं निरूपितम् । इदानीं तत्फलं विद्या किमैहि-



क्येव उतामुष्मिक्यपीति विचार्यते, कारीरीफले ऐहिकत्व-  
नियमदर्शनात्, चित्राफले चानियमदर्शनात् ॥

वेदनेच्छोपयोगित्वाद्यज्ञादेरविधानतः ।

श्रवणादेश्च तत्साध्या विद्या ह्यत्रैव संभवेत् ॥

न तावत् यज्ञादेः साक्षाद्विद्यासाधनत्वम्, येन तस्य विधे-  
यत्वेन तत्फलस्य विद्यायाः साक्षात्कारस्य इह वामुत्र वा जन्म  
भवेत्; किं तु विविदिषायाम् । सा च जातैव; अन्यथा  
श्रवणादौ प्रवृत्त्ययोगात् । श्रवणादि च न विधेयमित्युक्तम्;  
तस्माद्भुजिफलतृप्तिवच्छ्रवणादिफलं विद्या ऐहिक्येवेति प्राप्ते,  
अभिधीयते—

श्रवणादेः फले विद्याजन्मनि प्रतिबन्धकम् ।

अघं निहन्ति यज्ञादि प्रतिबन्ध्यस्ति तस्य च ॥

तद्धंसानियतत्वेन यज्ञाद्यनियतं फले ।

तत्सापेक्षत्वतो विद्या नैहिक्येव नियोगतः ॥

इह हि 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि  
बहवो यं न विद्युः' इति शास्त्राद्यथा श्रवणादिस्वरूपनिष्प-  
त्तये सत्त्वशुद्धिद्वारा विद्यायामभिरुचिः श्रवणादिप्रवृत्तिप्र-  
तिबन्धकपापनिरासश्च यज्ञादिभिः कर्तव्यौ, एवं श्रवणा-  
दिभिः साक्षात्कारोत्पत्तौ च यज्ञादिभिस्तौ कर्तव्यौ; एवं  
च यज्ञादिभिः सत्त्वशुद्धयादिना श्रवणादिपूत्पादितेष्वपि



विरोधिकर्मन्तरैः प्रारब्धफलैः विद्याफले प्रतिबन्धाप्रति-  
बन्धौ संभाव्येते । न चैवं प्रतिबन्धकनिवर्तकस्यापि प्रतिबन्ध-  
कान्तराभ्युपगमे तन्निवृत्त्यर्थमपि कर्मन्तरमनुष्ठेयमित्यनवस्था,  
उत्पन्नविविदिषैरपि वा फलप्रतिबन्धविगमाय यज्ञाद्यनुष्ठेयमा-  
पयेतेति वाच्यम्; विद्योत्पादे यज्ञादिप्रतिबन्धकस्य पाप्मनो  
भोगद्वारेण प्रतिबन्धकत्वाश्रयणाद्भोगनिवृत्तौ तत्क्षये यज्ञा-  
दिभिः फलसिद्धयर्थसत्त्वशुद्धयारम्भसंभवात् । ततश्चानियत-  
फलयज्ञादिसापेक्षत्वाच्छ्रवणादेरविधेयस्याप्यनियतफलत्वमिति  
सिद्धम् ॥

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृते-

स्तदवस्थावधृतेः ॥ १७ ॥

मुक्तिः सातिशया न वेति संशयः; तत्साधनस्य साति-  
शयत्वात्, ब्रह्मण एकरूपत्वाच्च । पूर्वत्र श्रवणादिसाध्यवि-  
द्यायाः प्रमाणजन्यत्वेनैकरूपत्वेऽपि यज्ञाद्युपकृतश्रवणादिवी-  
र्यविशेषात्तत्फलविद्यायामैहिकामुष्मिकत्वरूपविशेष उक्तः, तर्हि  
सातिशयोपायसाध्यत्वान्मोक्षोऽपि सातिशयः; कर्मफलवत् ।  
न च ब्रह्मोपासनापरिपाकजन्यसाक्षात्कारनान्तरीयकायां मुक्तौ  
ऐहिकामुष्मिकत्वविशेषसंभवः इति स्वरूपत एव मुक्तेरुत्कर्ष-  
निकर्षौ स्याताम्; तथा च कर्मसाध्यत्वस्यापि संभवात्  
'पुरुषार्थोऽतः' इत्यस्याक्षेपः ॥

मुक्तिः सातिशया सातिशयसाधनसाध्यतः ।

विद्याफलत्वतश्चैवं विमुक्तिः सगुणा यथा ॥

उत्तरम्—

आद्ये सव्यभिचारित्वं द्वितीये सगुणत्वतः ।

सोपाधितोभयत्रापि श्रुतिभिर्बाधितार्थता ॥

ऐहिकामुष्मिकत्वरूपातिशयवत्त्वाद्विद्याया मोक्षेऽतिशय-  
साधनम्, एतज्जन्मजन्मान्तरानुष्ठितयागसाध्यस्वर्गैरनैकान्ति-  
कम्; विद्यास्वरूपगतातिशयस्य हेतुत्वे त्वसिद्धिः; वेद्यब्रह्मै-  
क्यरूपेण तस्या अप्येकरूपत्वात् । विद्याफलत्वं तु सगुणत्वेन  
सोपाधिकम् । न च साधनव्याप्तिः, भाष्योदाहृतश्रुतिभिर्मुक्ते-  
र्निर्गुणत्वावगमात्; अत एव कालात्ययापदेशश्च । न चाविद्या-  
निवृत्तावपि रूपतोऽतिशयः; अभावत्वात्; प्रतियोगिकृतस्तु  
स्यात्; स च न मुक्तेः; निःशेषाविद्योच्छेदेन विना मुक्तेरेवा-  
भावादिति ॥

मखादिभिः प्रबलतरैः समीरणैः

रजस्तमोघननिवहे निवारिते ।

शमादिभिर्विगतमले हृदम्बरे

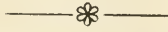
सतारके विलसति बोधचन्द्रमाः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-  
पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥

## चतुर्थोऽध्यायः ॥



### आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

इह साधनफलयोर्हेतुहेतुमत्त्वकृतं क्रमं 'मुख्यक्रमेण चाङ्गानाम्' इतिवत् तद्विचारयोराश्रित्य साधनविचारानन्तरं फलविचारः क्रियते— नन्विहैकवचनपरिग्रहो नास्ति; सत्यम्; अत एव तद्वदित्युक्तम्। न च सोऽनर्थकः; सम्यग्ज्ञानस्य सपरिकरस्य प्राङ्मोक्षसाधनत्वेनोक्तस्य वादिपरिकल्पितमोक्षेष्वयोग्यतामवधार्य साधनभासत्वशङ्कायां तन्निरसनप्रयोजनत्वात्, सगुणविद्याफलस्य चिन्तनीयत्वाच्च। जीवन्मुक्तिनिरूपणमाद्यपदार्थः। तत्प्रयोजनं च तदधिकरणे वक्ष्यते। आवृत्त्यादिसाधनानामत्र विचारेऽभिप्रायो वर्ण्यते—

शाब्दनिश्चयसामग्री विहिता चिन्तिता पुरा।

साक्षात्कारफलाक्षिप्ता चिन्त्यते फलसंनिधौ ॥

‘आत्मेति’ इत्याद्यधिकरणचतुष्टयमत्र प्रासङ्गिकम्। प्रथमतः तावच्छ्रवणादीन्यहंग्रहोपासनानि चोदाहृत्य विचार्यते— किं तानि सकृत्प्रयोक्तव्यानि, असकृद्वेति; अदृष्टार्थत्वदृष्टार्थत्वसंभावनाभ्यां संशयः ॥

अदृष्टा श्रवणादीनां मोक्षसाधनतोचिता ।

चोदनालक्षणा चेति स्यात्प्रयोगः सकृत्सकृत् ॥

न तावत्परोक्षावभासविज्ञानफले शास्त्रयुक्ती प्रत्येकं मिलिते च अनावृत्ते आवृत्ते वा साक्षात्कारं प्रत्यक्षप्रमाणफलं प्रसोतुमर्हतः; अतिप्रसङ्गात् । न च भावनामात्रजमपरोक्षमपि ज्ञानं प्रमाणम्, प्रातिभत्वात्; अतः दृष्टद्वारासंभवात्, मुक्तिफलस्य चात्यन्तपरोक्षत्वात्तदर्थानि श्रवणमननध्यानानि चोद्यमानानि यावद्विधानमनुष्ठेयानि नाधिकमावर्तनीयानि । मोक्षस्य ज्ञानमात्राप्यत्वश्रुतयः स्तुत्या कथंचिद्व्याख्येयाः । उपासनानां तु उपासनशब्दार्थनिष्पत्तिपर्यन्तमावृत्तिरिति प्राप्ते, अभिधीयते—

दृष्टोऽर्थः श्रवणादिभ्यः साक्षात्कारप्रमोदयः ।

मुक्तिर्यन्त्रान्तरीयेति तत्प्रयोगः फलावधिः ॥

न तावच्छ्रवणादीनां दृष्टे संभवति अदृष्टार्थः कल्प्यः; दृष्टासंभवश्च मोक्षस्य साध्यत्वश्रवणाद्वा, सिद्धेऽपि तस्मिञ्श्रवणादिजन्यसाक्षात्कारस्यानुपयोगाद्वा, तस्य श्रवणाद्यजन्यत्वाद्वा, जन्यत्वेऽप्यप्रमाणत्वाद्वा, तच्च तादृशविषयव्यभिचारदर्शनाद्वा, प्रमाकरणाजन्यत्वाद्वा । नाद्यः, मुक्तेः सवासनाविद्योच्छेदेनात्मनः स्वरूपावस्थानलक्षणायाः श्रुतिसिद्धत्वात्; श्रुतेश्च संभवन्मुख्यार्थायाः स्तुतिलक्षणार्थत्वायोगात् । न द्वितीयः, अपरोक्षभ्रमस्यापरोक्षागन्तुकज्ञानेन विना निवृ-

त्यभावात् । न तृतीयः, गान्धर्वशास्त्रश्रवणाद्यभ्याससचिव-  
श्रोत्रेण षड्जादिसाक्षात्कारोपजनदर्शनेन ब्रह्मात्मत्वसाक्षा-  
त्कारस्य वेदान्तश्रवणाद्यभ्याससचिवमनोयोनित्वस्यानुमान-  
सिद्धत्वात् । न चाप्रामाण्यशङ्का, विषयतथात्वस्य मौलिकप्र-  
माणसंवादात् । न च संवादाधीनं प्रामाण्यम्, प्रतिबन्धनि-  
रासार्थत्वात्तस्य । न चाकरणजन्यत्वम्, मनोजन्यत्वात्;  
अतो दृष्टार्थत्वाच्छ्रवणादेः, उपासनानां च 'यस्य स्यादद्धा'  
इत्यादिशास्त्रेण साक्षात्कारद्वारा फलश्रवणात्साक्षात्कारपर्य-  
न्तमावृत्तिरिति सिद्धम् ॥

**आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ २ ॥**

‘तत्त्वमसि’ ‘अहं ब्रह्म’ इत्यादिसामानाधिकरण्यं गौणम्,  
मुख्यं वेति विरोधपरिहारासंभवसंभवाभ्यां संशयः ॥

नित्यापरोक्षो जीवात्मा परोक्षः सर्वदा परः ।

कस्यापरोक्षसिद्धयर्थमावृत्तिः श्रवणादिषु ॥

इत्याक्षेपकी संगतिः । तथाहि—

विरुद्धधर्मयोगित्वात्समारोपानिरूपणात् ।

सामानाधिकरण्यादि गौणं जीवपरात्मनोः ॥

पुरोवर्त्तिनि द्रव्ये सामान्यरूपेणालोचिते विशेषेणागृहीते  
विशेषान्तरसमारोपः; आत्मनस्तु निर्विशेषसामान्यस्य नागृ-  
हीतमस्ति किंचिद्रूपमिति समारोपासंभवात् औत्पत्तिकविरु-

द्वगुणसंसर्गो जीवब्रह्मणी भिनत्ति इति तयोः सामानाधिकरण्यं गौणं प्रतीकोपदेशपरमिति प्राप्ते, उच्यते—

न मुख्ये संभवत्यर्थे जघन्यः परिगृह्यते ।

विरुद्धधर्मवत्त्वं प्रागध्यासेनोपपादितम् ॥

पूर्वपूर्वाध्यासोपाधेः सामान्यरूपेण स्फुरणाद्विशेषतोऽस्फुरणाच्च विरुद्धधर्माध्यास इति इह वक्तव्यस्य प्रागेवोपपादितत्वान्मुख्यं सामानाधिकरण्यमिति ॥

न प्रतीके न हि सः ॥ ३ ॥

‘मनो ब्रह्मेत्युपासीत’ इत्यादि अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्युपदेशपरेषु वाक्येषु संशयः— किं मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिद्वारा तदभिन्नजीवदृष्टिरपि विधित्सता, किं वा मनआदीनां ब्रह्मविकाराणां तद्वारा जीवात्मत्वमानीयाहंप्रहोपासनं विधित्सितम्, तथा च प्रतीकोपदेशानामर्थात् ‘इदं सर्वं यदयमात्मा’ इतिवत् मनआदिविलयार्थत्वमपीति, किं वा ब्रह्ममात्रदृष्टिविधिरिति; जीवब्रह्माभेदस्य प्रागुक्तत्वात्, अहं मन इत्यश्रवणाच्च । तत्र—

प्रामाण्यमविशेषेण मतं श्रुतितदर्थयोः ।

ततः प्रतीकेऽहंदृष्टिस्तस्य चाहंप्रहोऽर्थतः ॥

अत्रोच्यते—

युक्तो वाचनिकार्थेषु यावदुक्तसमाश्रयः ।

अर्थात्तत्वाधिको वादः स्यादाकाङ्क्षाविरोधयोः ॥

सतोरिति शेषः । श्रुताधिकोऽर्थः श्रुतेनाविरुद्धः श्रुतोपपादकश्च कल्पनीयः । प्रतीकेष्वहं दृष्टिः प्रतीकानां बाह्यप्रहो ब्रह्माभेदात्कल्प्यमानः श्रुतं विहन्ति ; सकलस्यैव ब्रह्माभेदेनातिप्रसङ्गात् । मनआदिविलयविवक्षायां च कुत्र किं वोपास्येतेति । अतो ब्रह्मदृष्टिर्मनआदाविति ॥

**ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ४ ॥**

यथावचनं वाचनिकोऽर्थ इत्युक्तम् ; प्रकृतोदाहरणेषु सा मानाधिकरण्यमात्रश्रवणात्को वाचनिकोऽर्थ इत्याकाङ्क्षायां विचार्यते । किं मनआदिदृष्टिर्ब्रह्मणि कर्तव्या, तद्दृष्टिर्वा तेष्विति ॥

फलवच्च प्रधानं च संस्कार्यमिति वैदिकात् ।

न्यायान्निश्चित्य शास्त्रार्थमुपेक्ष्यो लौकिको नयः ॥

ब्रह्मणः फलप्रसवसामर्थ्येन फलवत्त्वात् ; अत एव प्रधानत्वाच्च ब्रह्मैवादित्यादिदृष्टिभिः संस्कर्तव्यम् । ब्रह्मदृष्ट्या तेषामुपासने अन्यदुपास्यमन्यत्फलं ददातीति वैयधिकरण्यादतिप्रसङ्गाच्च प्रधानशब्दे च न दृष्टिलक्षणा युक्तेति शास्त्रीयन्यायान्निर्णीते वाक्यार्थे, निकृष्टदृष्टिर्नोत्कृष्टे इति लौकिको न्यायः नादरणीय इति प्राप्ते, उच्यते—

स्वपरोपासने तुल्या ब्रह्मणः फलदातृता ।

कांस्यभोजिनयेनातो लोकन्यायोऽनुगृह्यताम् ॥

ब्रह्मणः सर्वकर्माध्यक्षतया स्वपरोपासनयोः फलदातृत्वा-  
विशेषात् प्राधान्याविधाताच्च शास्त्रार्थसंदेहे लौकिकन्याया-  
न्निर्णयः क्रियते ब्रह्मैवादित्यादावारोप्यमिति ; तथा च तस्या-  
र्थतः प्रधानस्यापि शब्दतो गुणत्वाच्चरमश्रतत्वादितिपरत्वाच्च  
तच्छब्दस्य दृष्टिलक्षणार्थत्वं युक्तमिति ॥

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ५ ॥

‘य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत’ इत्याद्यङ्गावबद्धोपा-  
सनेषु पूर्ववदुत्कर्षनिकर्षविशेषाभावात्संशयः किंदृष्टिः क वि-  
धित्सितेति ॥

कूटदृष्ट्या क्रियाभावात्संस्कार्यस्त्वक्रियात्मकः ।

प्राथम्यादुपचाराच्च सामाधारत्वकीर्तनात् ॥

यद्यपि ‘यदेव विद्यया करोति’ इति विद्यायाः क्रियासह-  
कारित्वश्रुतेः अनुपकारिण्याश्च सहकारित्वायोगाज्ज्ञानस्य स्व-  
गोचरे प्रकाशाख्यसंस्कारजनकत्वस्य दृष्टचरत्वात्समारोपरू-  
पस्यापि विद्याज्ञानस्य कथंचिदैन्द्रेव गार्हपत्यसंस्कारः क्रि-  
याद्वारा फलवत्त्वं गम्यते, तथाप्युद्गीथादेरादित्यादिदृष्टिदृष्टस्य  
रजतदृष्टिदृष्टस्येव पुरोवर्तिनस्तत्त्वं क्रियात्वमेवाभिभूयते; आ-  
दित्यादेः पुनरुद्गीथादिक्रियादृष्ट्या संस्क्रियमाणस्य क्रियात्वो-



द्वात् न क्रियैव संस्कृता स्यात् । प्रथमश्रुताश्चादित्यादयः  
 'एतस्यामृच्यध्यूढं साम' इति पृथिव्यग्न्योः ऋक्सामशब्दो-  
 पचारः तद्दृष्टिविषयत्वसादृश्याद्भवति । 'लोकेषु सामोपासीत'  
 इति च लोकानां सामाधारत्वं संकीर्त्यते । तस्मादनङ्गेष्वङ्ग-  
 दृष्टिरिति प्राप्ते, उच्यते—

फलवत्क्रियमाणं च निर्दिष्टं च द्वितीयया ।

आदित्यादिधियोपास्यमुद्गीथाद्यङ्गमिष्यते ॥

स्वतो वीर्यवतः क्रियमाणस्य विद्यासंस्कार्यत्वश्रवणात्  
 उद्गीथादेश्च तथाभावात् गौणज्ञानस्य च तत्क्रियात्वातिरोधाय-  
 कत्वात् 'साम' 'उद्गीथम्' इति च कर्मत्वनिर्देशात् अत एव  
 तन्मध्यपातिन्याः 'लोकेषु' इति सप्तम्यास्तृतीयार्थत्वात् 'इय-  
 मेव ऋक्' इति चैवकारसंयुक्तपृथिव्या विधेयत्वावगमेन प्रा-  
 थम्यस्याकिंचित्करत्वात् पृथिव्यग्न्योः ऋक्सामशब्दस्याधि-  
 ष्ठानारोप्यसंबन्धेन लाक्षणिकत्वोपपत्तौ गौणत्वकल्पनायाश्चा-  
 न्याय्यत्वादुद्गीथादिष्ववादित्यादिदृष्टिरिति सिद्धम् ॥

आसीनः संभवात् ॥ ६ ॥

अङ्गावबद्धोपासनेषु अनियतशरीरस्थितिसाध्याङ्गपारत-  
 न्त्यात् शरीरस्थितेरनियमः प्रागर्थसिद्धः । परिशिष्टोपासनेषु  
 ब्रह्मध्याने च संशयः— आसनं नियतं न वेति ; स च मा-  
 नसत्वेनोभयथापि तेषां संभवात् ॥

विद्यासु नासनस्यास्ति श्रुत्यादि विनियोजकम् ।

नापेक्षा मानसत्वेन बाह्यचेष्टानपेक्षणात् ॥

‘त्रिरुन्नतम्’ ‘समं काय’ इति च धारणायोगार्थमासनविधानम्; अतो नोपासनादावासननियम इति प्राप्ते, उच्यते—

चित्तैकाग्र्यं विना ध्यानं नेति तत्तदपेक्षते ।

तच्चासनं विना नेति विध्यादृतमिहासनम् ॥

ततश्च प्रयोगविधिरविशेषप्रवृत्तोऽप्यासनविषये संकोचमनुमन्यत इति ॥

**यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ७ ॥**

तेष्वेवोदाहरणेषु दिगादिनियमोऽस्ति न वेति वैधत्वान्मानसत्वाच्च संशयः । नियतमर्थं निरूप्य तत्प्रत्युदाहरणत्वेनानियतनिरूपणात्संगतिः ॥

पुण्यदिग्देशकाला ये विहिता वैधकर्मसु ।

सामान्यतस्ते नापेक्ष्याः कथं वैधैरुपासनैः ॥

यथा ‘समे शुचौ’ इत्यादिनियमो विहितत्वादाश्रितः, एवं सामान्यशास्त्रविहितपुण्यदेशादिनियमोऽपि आश्रयितव्य इति; अत्रोच्यते—

नियमो देशकालादेर्नेष्यते तत्प्रतीक्षणे ।

शेषिबाधप्रसङ्गः स्यादैकाग्र्यानियमाद्धियः ॥

यदा शुभदेशादिप्रतीक्षणं तदा चित्तैकाग्र्यस्य पाक्षिक-  
त्वेन शेषिध्यानबाधप्रसङ्गात् जातेष्टाविव जन्मानन्तर्यं देशा-  
दिनियमस्त्यज्यते । 'समे शुचौ' इत्यादि तु मनोनुकूलत्वादृ-  
ह्यत इति ॥

**आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ ८ ॥**

अत्राहंप्रहोपासनान्युदाहरणम् ; तेषां साक्षात्कारद्वारा फ-  
लश्रवणात् तावत्पर्यन्ता आवृत्तिः प्राक्सिद्धा । इदानीं जाते  
साक्षात्कारे प्रयोगः समापनीयः, किं वा आप्रायणात्कर्तव्य  
इति पारलौकिकफलस्यान्यप्रत्ययापेक्षत्वात् तस्य चान्यतः  
सिद्धयसिद्धिभ्यां संदिह्यते । प्रतिप्रयोगारम्भकालविचारस्य  
महाप्रयोगावधिकालविचारस्य च विषयद्वारं पौर्वापर्यम् ॥

अश्रुतत्वाददृष्टेनाप्यन्यप्रत्ययसंभवात् ।

आप्रायणप्रयोगोऽहंप्रहाणां निष्प्रमाणकः ॥

उच्यते—

दृष्टेऽर्थे नियते लभ्ये नादृष्टो नापि पाक्षिकः ।

कल्प्यते लभ्यते चायमाप्रायणमुपासने ॥

यद्युपासनाजन्यमदृष्टं फलमिवान्यप्रत्ययमाक्षिपेत्स पाक्षि-  
कः स्यात्, अदृष्टान्तरप्रतिबन्धसंभवात् ; आप्रायणमुपासना-  
नुवृत्तौ दृष्टद्वारेण जायमानो नियतः स्यादिति आप्रायणमुपा-  
सनानुवृत्तिरिति ॥

## तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ

तद्व्यपदेशात् ॥ ९ ॥

इह पूर्वोक्ताप्रायणानुष्ठानस्य ब्रह्मध्यानेऽपवादसिद्धयर्थं स-  
गुणविद्यया तत्फलविरोधिकर्मणां समानन्यायतया निवृत्तिसि-  
द्धयर्थं च ब्रह्मविदो निवृत्तसकलदुरिततया कृतकृत्यता प्रति-  
पाद्यते । ब्रह्मसाक्षात्कारः सर्वपापाश्लेषविनाशको न वेति  
श्रुतिद्वयविरोधशङ्कया संदेहः ॥

श्रुत्यर्थानुपपत्तिभ्यो ज्ञानस्याघविनाशिता ।

न प्रसिध्यति तद्वाधान्निषेधेन बलीयसा ॥

ज्ञानस्याघविनाशकता श्रुतत्वाद्वा स्यात्, तद्रूताज्ञानतत्कार्य-  
निवर्तनसामर्थ्याद्वा, तस्य श्रुतमोक्षसाधनत्वान्यथानुपपत्त्या  
वा । नाद्यः ; प्रायश्चित्तस्येव ज्ञानस्य दोषसंयोगेनाश्रुतत्वात् ;  
'पापं कर्म न श्लिष्यते' 'पाप्मनः प्रदूयन्ते' इति चार्थवादस्य  
पापगतानिष्टसाधनत्वबोधिवलवन्निषेधविधिविरुद्धस्याप्रमाण-  
त्वात् । न द्वितीयः ; निषेधविरोधादेव कल्पनीयज्ञानसामर्थ्य-  
स्याप्रारब्धविषय इवापापविषये व्यवस्थापनात् । नापि तृती-  
यः, योगसामर्थ्यलब्धबहुशरीरेष्वपर्यायमेवोपभोगेन क्षपितस-  
कलदुरितस्य ज्ञानं मोक्षसाधनमित्यपि निषेधविरोधादेव कल्प-  
नीयत्वात् । अतो ज्ञानस्याप्यघविनाशित्वे प्रमाणाभावादेव  
तदभाव इति प्राप्ते, उच्यते—

शक्तिमत्त्वं सतोऽघस्य नाशं तस्यैव चान्यतः ।

प्रमिण्वतां प्रमाणानां क विरोधः क बाधनम् ॥

सति हि विरोधे बलवता दुर्बलं बाध्येत ; श्रुत्यर्थानुपपत्त-  
यस्तु सति ज्ञाने दुरितस्यैव समूलनाशं प्रमिण्वन्त्यः सति  
दुरिते तस्य फलसामर्थ्यमात्रबोधिना निषेधेन विषयभेदाद-  
विरुद्धा इति सिद्धं तैर्ज्ञानस्याघविनाशित्वमिति ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १० ॥

ज्ञानस्य सुकृतनिवर्तकत्वसंदेहे

श्रुत्यर्थयोरिहासिद्धिमधिकां सुकृतक्षये ।

आशङ्क्य तन्निरासार्थं पूर्वन्यायोऽतिदिश्यते ॥

‘सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते’ इति पापमात्रनिवृत्तिश्रव-  
णात्, प्रत्युत विशेषविधानेन शेषपर्युदासान्न सुकृतक्षयश्रव-  
णम्; ‘उभे ह्येवैष एते तरति’ इति तरणस्य ज्ञाननिमित्त-  
त्वाश्रवणाद्यथासंभवं भोगेन सुकृतं ज्ञानेन दुष्कृतमिति क-  
ल्प्यम् । सामर्थ्यमपि ज्ञानस्य स्वविरोधिनिवर्तने स्यात् । न  
च शास्त्रीयस्य ज्ञानस्य शास्त्रीयेण कर्मणा विरोधोऽस्ति ; अतः  
श्रुत्यर्थयोरभावादार्थापत्तिमात्रं पूर्ववदन्यथयितव्यमिति अधि-  
काशङ्कायाम्, उच्यते—

अविशिष्टं हि सामर्थ्यं ज्ञानस्याज्ञानभूमिषु ।

छत्रिन्यायेन पापस्य तरणं विदुषः श्रुतम् ॥

सुकृतज्ञानयोः शास्त्रीयत्वसाम्येऽपि तेषामविद्यात्मतया सहजविरोधात्तदुच्छेदे समर्थं ज्ञानं भवति ; 'न सुकृतं न दुष्कृतम्' इत्युपक्रमाच्च । 'सर्वे पाप्मानः' इति च सुकृतोपलक्षणार्थम् । उभे सुकृतदुष्कृते एष विद्वांस्तरति इति च विदुषस्तरणं विद्यानिमित्तमेव विवक्षितम् । अतः श्रुत्यादिभिः पूर्ववत्सुकृतस्यापि अश्लेषविनाशौ ज्ञाननिमित्ताविति । ब्रह्मविदोऽपि नित्यकर्माधिकार इति भ्रमनिवृत्तिरार्थिकं प्रयोजनम् ; अनयोर्विचारयोः 'हानौ तूपायन...' इत्याक्षेपसमाधानरूपत्वात् उत्तरस्य चापादसमाप्तेर्विचारस्यैतदपवादरूपत्वात्साक्षात्प्रयोजनं न वक्तव्यम् । तदुक्तं तन्त्रभाष्यकारैः— 'आक्षेपे चापवादे च प्राप्यां लक्षणकर्मणि । प्रयोजनं न वक्तव्यं यच्च कृत्वा प्रवर्तते' इति ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ ११ ॥

पूर्वयोर्विनाशः प्रारब्धकार्यकर्मणोरपि, उत तत्पर्युदासेनेति हेतुसाम्यात्, जीवन्मुक्तिशास्त्राच्च संदेहः ॥

कर्मणामविशेषेण नाशे हेत्वविशेषतः ।

प्राप्ते प्रारब्धकार्येषु स इदानीमपोद्यते ॥

प्रारब्धकर्मप्रतिबद्धशक्ति

ज्ञानं तदारम्भकमोहलेशम् ।

न द्रागिवोन्मूलयतीति कल्प्यं

श्रुतप्रतीक्षानुपपत्तिमानान् ॥

विदुषां देहधारणतत्प्रतीक्षाश्रुत्योरन्यथानुपपत्त्या प्रारब्ध-  
कर्मप्रतिबद्धं ज्ञानं तन्मूलाविद्यालेशं प्रतिबन्धनिवृत्त्यनन्तरं  
निवर्तयति न पूर्वमिति कल्प्यम् । प्रयोजनं तु 'उपदेक्ष्यन्ति  
ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इति स्मृतेः, 'तस्मादात्मज्ञं  
ह्यर्चयेद्भूतिकामः' इति श्रुतेश्च जीवन्मुक्तादुपदेशग्रहणं तत्पू-  
जादिकरणं परेषामिति ॥

## अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १२ ॥

एवं तावत्सगुणनिर्गुणविद्याभ्यामनारब्धकार्यकर्मणामश्ले-  
षविनाशाविति स्थापितम् । इह त्वाद्यवर्णके अनारब्धकार्येष्वपि  
नित्यकर्मसु निर्गुणविद्याप्रयुक्ताश्लेषविनाशयोरपवाद आश-  
ङ्क्य निरस्यते । द्वितीये तु सगुणविद्याप्रयुक्ताश्लेषविनाशौ  
तेष्वपोद्यत इति संगतिः ॥

यज्जातीयविरुद्धं यन्न तत्तज्जातिहेतुजम् ।

ज्ञानं च नित्यकर्मोत्थं नातस्तज्जातिबाधकम् ॥

यज्जात्युपाधौ यस्य विरोधोऽवगतः न ततस्तस्योत्पत्तिः—  
दीपस्येव तमसः ; नित्यकर्मोत्पन्नं च ज्ञानम् ; अतो न सर्वात्म-  
ना तानि निरुणद्धीति । नित्यकर्मजानुषङ्गिकफलस्याप्यवश्य-  
भोक्तव्यत्वात् न ज्ञानान्मोक्षः ; निरोधे वा 'यज्ञेन विविदि-  
षन्ति' इति स्तुतिमात्रं स्यादिति, अत्रोच्यते—

काष्ठजातिविरुद्धाग्नेः काष्ठादुत्पत्तिदर्शनात् ।

ज्ञानं च नित्यकर्मोत्थं स्याच्च तज्जातिनाशकम् ॥

ततो नोक्तदोषद्वयमिति ॥

अथवा सगुणज्ञानान्नित्यानामपि कर्मणाम् ।

अश्लेषनाशावाशङ्क्यावविशेषश्रुतेरिह ॥

‘तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते’ इत्यविशेषश्रवणात्सगुणविद्यातो  
नित्यानामप्यश्लेषविनाशाविति ॥

विद्याफलस्य साध्यत्वात्तद्विदां कर्मदर्शनात् ।

सुकृतस्य च काम्यत्वान्नित्यानां सगुणेऽन्वयः ॥

सगुणविद्याफलस्य साध्यत्वात् ‘यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तो-  
ऽहमस्मि’ इति सगुणविदः कर्मसंबन्धलिङ्गात् नित्यानां सत्त्व-  
शुद्ध्यतिशयाधानद्वारेण विद्याफलोपकारकत्वसंभवात् ‘तत्सु-  
कृतदुष्कृते’ इति सुकृतशब्दस्य काम्येऽप्युपपत्तेः, नित्यकर्मणां  
विद्यया सह तत्फले समुच्चयः न निवृत्तिरिति ॥

यदेव विद्ययेति हि ॥ १३ ॥

इहाङ्गावबद्धोपास्तीनां किं नित्यकर्मवत्तत्कार्यत्वम्, उत  
काम्यकर्मवद्विद्यया निवृत्तिरिति कर्माङ्गत्वानङ्गत्वाभ्यां संदेहे,  
पूर्वन्यायापवादात्संगतिः । अङ्गत्वानङ्गत्वसंदेहश्चैतदर्थो भाष्ये  
दर्शितः । यद्यपि ‘तन्निर्धारणानियमः’ इति अङ्गत्वं निराकृ-  
तम्, तथापि,



निन्दानिषेधौ कल्प्येते विद्यावत्त्वप्रशंसया ।

कर्मणः केवलस्यात उन्मज्जत्यङ्गता पुनः ॥

अङ्गत्वे च प्रधानैः सह तत्कार्यत्वान्न काम्यवद्विद्यया निवृ-  
त्तिरङ्गाववद्धोपास्तीनामिति प्राप्ते, उच्यते—

कर्मणः साङ्गविद्यस्य तरवर्थेन संस्तवात् ।

शुद्धमप्यभ्यनुज्ञातं नाङ्गोपास्त्यङ्गता ततः ॥

यदि विद्यावतो वीर्यवत्त्वेनैव स्तुतिः स्यात् तर्हि इतरन्नि-  
न्दितं निषिद्धं च स्यात्; इह तु विद्यावतः तरवर्थेन स्तुते-  
रितरदपि वीर्यवत्त्वेनानुज्ञातम्; ततश्चाङ्गोपासनानामकर्मा-  
ङ्गतया स्वतन्त्रत्वात्काम्यकर्मभिः सह विद्यया निवृत्तिरिति ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ १४ ॥

यस्मिन्देहे विद्योत्पत्तिस्तत उपरितनप्रारब्धकर्मनिमित्तदे-  
हान्तरोपार्जितसुकृतदुष्कृतयोर्विद्यया नाश्लेषः, किं वा अश्लेष  
इति तेषु देहेषु विद्यानुवृत्त्यसंभवसंभवाभ्यां संशयः । आमु-  
ष्मिकविषयत्वेनागन्तुकत्वादन्ते निवेशोऽस्य विचारस्य ॥

मृतिजन्मान्तरायेण विद्याविस्मृतिसंभवात् ।

विद्वद्देहान्तरोपात्तकर्माश्लेषो न विद्यया ॥

न चान्यतस्तन्निवृत्तिरिति तन्निमित्तः पुनः संसारप्रवाहप्र-  
सङ्गः प्रारब्धकर्मक्षयेऽपीति प्राप्ते, उच्यते—

अप्रमुष्टस्मृतिः प्राचां स्मर्यतेऽनेकजन्मसु ।

अवधारणसामर्थ्यादन्येषामपि कल्प्यते ॥

प्राक्तनविदुषां जन्मव्यवधानेऽपि ज्ञानाप्रमोषस्मरणात्,  
'तावदेव' इत्यवधारणाच्च कल्प्यते प्रारब्धकर्मनिमित्तदेहान्त-  
रेष्वप्यनुवर्तमानज्ञानात् तत्रोत्पन्नकर्मणामश्लेष इति । ततः  
प्रारब्धकर्मक्षये मोक्षनियम इति प्रयोजनम् ॥

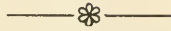
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥



## द्वितीयः पादः ॥



### वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

पूर्वपादे मुक्तिविरुद्धानारब्धकार्यकर्मनिवृत्त्या जीवन्मुक्तत्वम्, आरब्धनिवृत्तौ तु मोक्ष इति सगुणनिर्गुणविद्ययोः फलं सामान्येन निरूपितम् । इदानीं प्रारब्धकर्मक्षयानन्तरभाविनि मोक्षे विशेषप्रदर्शनाय पादत्रयमारभ्यते । तत्र उत्क्रान्त्यपेक्षानपेक्षालक्षणविशेषोऽस्मिन्पादे प्रदर्श्यते, उत्क्रान्तिपूर्वकत्वाद्गतेः । गत्यपेक्षाविशेषो गतेरर्थवत्त्वमित्येतदाक्षेपसमाधानाभ्यामनन्तरे; गतिपूर्वत्वात्फलस्य । फलस्वरूपविशेषस्तदनन्तरे । गत्युत्क्रान्तिस्वरूपनिरूपणं तु प्रसङ्गात् सगुणविदश्चिन्तनार्थम्; उत्क्रान्तिसिद्धयर्थं च वागादिवृत्तिलयविचार इति । इह 'वाङ्मनसि संपद्यते' 'इन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः' इति चोदाहृत्य विचार्यते । वागादीनां मनसि स्वरूपलयो वृत्तिलयो वेति वागादिशब्दात्, तेषाममनोविकारत्वाच्च संशयः ॥

स्वरूपलयपक्षे हि वागादिश्रुतिराञ्जसी ।

तेन स्वप्रकृतिन्याय इह श्रुत्यापवाध्यते ॥

यद्यपि प्रकृतावेव विकारस्य लय इत्यस्ति न्यायः, तथापि

वागादिश्रुतिस्तेषां स्वरूपलयपक्षे मुख्यार्था सती न्यायबाधिका । ततश्च करणलयान्न तदुपहितकर्तुरुत्क्रमणमिति प्राप्ते, उच्यते—

सिद्धानुवादरूपत्वादुत्क्रान्तिकथनश्रुतिः ।

प्राप्तं वृत्तिलयं न्यायात्प्रत्यक्षाच्चानुमन्यते ॥

लोके तावदुत्क्रान्तौ मनोवृत्तौ सत्यां वागादिवृत्तिमात्रोपसंहारदर्शनात्स्वप्रकृतिन्यायाच्च स्वरूपलयाभावात् वागादिवृत्तेर्मनसि संपत्तिर्गम्यते; न तयोः श्रुतिर्बाधिका; तस्याः सिद्धानुवादरूपतया तदर्थानुमोदनात् । ततो वागादिशब्दस्तद्वृत्तिषु लाक्षणिक इति उत्क्रान्तिसंभव इति ॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ २ ॥

‘मनः प्राणे’ इत्यनन्तरवाक्ये मनसः प्राणे स्वरूपलयो वृत्तिलयो वेति तद्विकारत्वसंभवासंभवाभ्यां संदेहे, पूर्वन्यायोऽतिदिश्यत इत्युपदेशानन्तर्यम् ॥

अवात्मकस्य प्राणस्य विकारोऽन्नमयं मनः ।

तेन स्वप्रकृतिन्यायात्स्वरूपेण मनोलयः ।

इत्यधिकाशङ्कायाम्, उच्यते—

विकृतेरिष्यते तावत्साक्षात्स्वप्रकृतौ लयः ।

न साक्षात्प्रकृतिः प्राणो मनसो नापि दूरतः ॥

अव्यवहितप्रकृतौ हि विकारलय इष्यते, अन्यथातिप्रस-  
ङ्गात्; व्यवहितप्रकृतौ विकारलयेऽभ्युपगते मनसोऽन्नप्रकृति-  
ष्वप्सु लयः स्यात् न प्राणे; तस्यानन्नप्रकृतित्वात् । अतो  
मनसोऽपि प्राणे वृत्तिलय इति ॥

**सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ३ ॥**

अप्रकृतौ विकारस्य वृत्तिलय इति स्थितम् । सति चैवम्  
'प्राणस्तेजसि' इत्यत्र प्राणस्य तेज उपलक्षितभूतेषु वृत्तिलय-  
श्रवणात्, 'इममात्मानं सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति' इत्या-  
दिना आत्माभिगमनश्रवणाच्च एकत्र साक्षादपरत्राश्रयद्वारा  
वृत्तिलय इति श्रुतिद्वयसामर्थ्यादवगतम्; तत्र संदिह्यते—  
स्फुटविशेषादर्शनात् किं तेजसि साक्षान्निलीनवृत्तिः प्राणः  
सह तेजसा पश्चादात्मनि लीयते, किं वा आत्मनि निलीन-  
वृत्तिस्तद्वारा तेजसीति । अस्य विचारस्य पूर्वयोश्च विषय-  
क्रमाद्भेदः । तत्र

प्राणस्य साक्षात्संपत्तिस्तेजस्याधारताश्रुतेः ।

आत्माभिगमनं पश्चात्तेजोद्वारावकल्पते ॥

तेजस आधारत्वनिर्देशादात्मानं प्रत्यागमनमात्रनिर्देशात्ते-  
जसि तद्वारा चात्मनि प्राणवृत्तिलयः तेजसः परदेवतासंपत्ति-  
रपि आत्मसंपत्तिरेवेति उपाधीनामात्मपारतन्त्र्यान्न स्वतः ना-  
प्युपाधितश्चात्मनो देहादुत्क्रान्तिरिति ॥

अत्रोच्यते—

तेजसः परसंपत्तेस्तद्वारा नात्मसंगमः ।

प्राणस्यात्मप्रणाड्या स्यात्संपत्तिस्तेजआदिषु ॥

यथा नौसंपन्नस्तद्वारा पारमेव संपद्यते न नाविकम्, संपन्नं तु वस्त्रादि नान्तरीयकतया नावमपि संपद्यते; तथा तेजःसंपन्नः प्राणः तद्वारा परामेव देवतां संपद्यते नात्मानम्; आत्मोपाधितया तेजसः साक्षाद्देवतासंपत्तिश्रुतेः । तस्मादात्मसंपन्नः प्राणस्तदुपाधिभूतेष्वपि निलीयते । अतो भूतद्वारा उत्क्रमणं संभवतीति ॥

**समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं**

**चानुपोष्य ॥ ४ ॥**

सेयमुत्क्रान्तिः सगुणब्रह्मविदो नास्ति, उतास्तीति अमृतत्वफलश्रुतेर्गतिश्रुतेश्च संशयः । पूर्वं तत्रात्मोपाधेस्तेजसो ब्रह्मण्येवोत्क्रान्तेरात्मन्यभावान्न तद्वारा प्राणस्यात्मसंपत्तिरित्युक्तम्; तस्य भवत्वेवमविदुषः, विदुषस्तूत्क्रान्तिप्रतिषेधादुपाधिरप्यात्मन्येव प्रलीयत इत्यपवादमाशङ्क्य निरस्यते । सगुणब्रह्मविदो नोत्क्रान्तिः । यतः—

परब्रह्मविदस्तावदुत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यते ।

सगुणापि परा विद्या ह्यमृतत्वफलश्रुतेः ॥

तथा च गतिः स्तुत्यर्थेति ॥

अथवा सगुणस्यापि व्यापित्वाद्व्रह्मणो न तत् ।

प्राप्तुमुत्क्रान्त्यपेक्षेति पूर्वपक्षोऽत्र वास्तवः ॥

सिद्धान्तस्तु—

विद्ये परापरे तावद्विन्ने रूपादिभेदतः ।

तत्परस्यां निषेधेऽपि ह्यपरोत्क्रान्त्यपेक्षिणी ॥

अमृतत्वस्य गौणत्वाद्देशान्तरफलत्वतः ।

गतिश्रुतेश्चाभिव्यक्तिगुणानां ब्राह्मलौकिकी ॥

सगुणब्रह्मणः सर्वगतत्वेऽपि उपासकं प्रति गुणाभिव्यक्तिः  
परलोक इति गम्यते एतैरेव हेतुभिः ॥

**तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ५ ॥**

‘तेजः परस्यां देवतायाम्’ इत्यत्र ब्रह्मणि तेजसः स्वरूप-  
लयः, वृत्तिलयो वेति, तयोः प्रकृतिविकारभावात्, ब्रह्म  
संपन्नस्य पुनः संसारश्रवणाच्च संशयः ॥

परस्यां देवतायां हि तेजआदेः स्वकारणे ।

सत्यां निःशेषसंपत्तावुत्क्रान्तिर्विदुषः कथम् ॥

इयं च तेजःसंपत्तिर्विदुष एव नाविदुषः ; ततश्च गत्युत्क्रा-  
न्तिश्रवणं पुनः संसारश्रवणं च तद्विषयं भविष्यतीति ॥

अत्रोच्यते—

अविशेषेण संसारश्रुतेः शास्त्रार्थवत्त्वतः ।

अनिवृत्तेरविद्याया नात्यन्तं तेजसो लयः ॥

‘योनिमन्ये प्रपद्यन्ते’ इति विद्वद्विदुषोरविशेषेण पुनः-  
संसारश्रुतेः कर्मज्ञानशास्त्रार्थवत्त्वादविद्यायाश्चानिवृत्तेर्नात्य-  
न्तिको ब्रह्मणि तेजआदिलय इति समानैव सगुणविदोऽप्यु-  
त्क्रान्तिरिति ॥

**प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ ६ ॥**

‘न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति’ ‘न तस्मात्प्राणा उत्क्राम-  
न्ति’ इति च निर्गुणविद उत्क्रान्तिर्निषिध्यते न वेति, निषे-  
ध्यस्य देह्यपादानत्वदेहापादानत्वाभ्यां संदेहे, पूर्वापवादात्सं-  
गतिः । तत्र

पञ्चम्यन्ताद्धि तच्छब्दात्प्रधाने प्रकृतात्मनि ।

सिद्ध उत्क्रान्त्यपादाने षष्ठी तत्रैव वत्स्यति ॥

‘न तस्मात्’ इति तच्छब्देन प्रकृतदेहदेहिनोर्देही प्रधानं  
परामृश्यते । पञ्चम्या च तस्य निषिध्यमानोत्क्रान्त्यपादान-  
त्वमुच्यते । तथा च ‘तस्य’ इति षष्ठ्यपि संबन्धसामान्य-  
वाचिनी अपादानसंबन्धे वत्स्यति । तथा चायं वाक्यार्थः—  
विद्वत्प्राणाः न ततो विदुष उत्क्रामन्ति, किं तु स एव सह  
प्राणैर्देहादुत्क्रम्य ब्रह्मलोकं गत्वा तत्र विधूतलिङ्गदेहो मुच्यत  
इति भेदाभेदिनः ॥

अत्रोच्यते—

निषिद्धोत्क्रान्त्यपादानं तुल्यप्रकरणान्तरे ।

वाक्यशेषेण निर्णीतो देहोऽत्रापि स गृह्यते ॥



समानप्रकरणे 'स उच्छ्वयत्याध्मायति' इति वाक्यशेषे उत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्वयनाद्यनन्यसंभविधर्मकीर्तनेन देहत्वनिश्चयात्प्रकृतवाक्ययोरपि देहस्यापादानत्वं गम्यते, सत्यपि अप्राधान्ये प्राप्तप्रतिषेधाच्च देहापादानैवोत्क्रान्तिर्ब्रह्मविदः प्रतिषिध्यत इति ॥

तानि परे तथा ह्याह ॥ ७ ॥

उत्क्रान्तिं प्रतिषिध्यानन्तरवाक्ये 'अत्रैव समवलीयन्ते' इति विद्वत्प्राणानां लयः उक्तः ; स किं भूताधारो ब्रह्माधारो वेति, 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' इति, 'कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' इति च श्रुतिद्वयविरोधेन संदेहे, विनिगम्यते ॥

भौतिकत्वानुमानेन भूताधारः कलालयः ।

पूर्णत्वात्पूरकत्वाद्वा भूतानि पुरुषो मतः ॥

भूतायनत्वमर्थोऽतः पुरुषायणताश्रुतेः ।

ततश्च तेषां भूतेभ्यः पुनरुत्थानसंभवात् ॥

ज्ञानान्निःश्रेयसावाप्तिर्नेति प्राप्तेऽभिधीयते ।

विद्वद्दृष्ट्या सभूतानां कलानां पुरुषे लयः ।

भूतेष्वविद्वद्दृष्ट्येति न विरोधः श्रुतिद्वये ॥

ततश्च नोक्तपरिपाटीति ॥

अविभागो वचनात् ॥ ८ ॥

स एव कलाप्रलयः शक्तिशेषः, अनवशेषो वेति, 'भिद्येते चासां नामरूपे' इति शक्तिशेषविवक्षाविवक्षाभ्यां संशये, समानविषयत्वात्संगतिः ॥

कलालयत्वसामान्याच्छक्ययोर्नामरूपयोः ।

भेदश्रतेश्च विदुषः शक्तिशेषः कलालयः ॥

उच्यते—

ज्ञानेन बाधितेऽज्ञाने तत्कार्यं नावशिष्यते ।

लक्ष्येते नामरूपाभ्यां तच्छक्ति च पुनः श्रुतेः ॥

ज्ञानेन मायाशक्तेर्निवृत्तत्वात्कलाप्रलयमुक्त्वा पुनः 'भिद्येते चासां नामरूपे' इति नामरूपभेदकथनस्य तच्छक्तिलय-परत्वाच्च निःशेषो विदुषः कलालय इति ॥

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्या-

सामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च

हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ ९ ॥

परिसमाप्यापवादचिन्तां निर्गुणविषयां प्रकृतसगुणविद्या-चिन्ताम् अनुवर्तयन् 'आसृत्युपक्रमात्' इत्युक्तं सृत्युपक्रमं दर्शयतीति तेनास्य संबन्धः । सगुणविद्यावानुत्क्रममाणः किम् अनियतनाड्योत्क्रामति, ब्रह्मनाड्यैव वेति, 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' इति जन्तुमात्रविषयो-

त्क्रान्तिनाडीविकल्पस्य 'तयोर्ध्वमायन्' इत्यनेन व्यवस्थासं-  
भवसंभवाभ्यां संशये,

नाडीविकल्पशास्त्रात्स्याद्विद्वाननियतोत्क्रमः ।

तयोर्ध्वमित्यपूर्वार्थात्परिसंख्या न चेष्ट्यते ॥

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति तस्या अमृतत्वसाधनत्वरू-  
पापूर्वार्थप्रतिपादकं वचो न नाड्यन्तरपरिसंख्यापकम्, भेदा-  
पातात्; येन विकल्पवाक्ये विद्वान्मूर्धन्यया अन्याभिरन्ये उ-  
त्क्रामन्तीति व्यवस्था कल्पेत; अतो विद्वाननियतनाडीको-  
त्क्रम इति प्राप्ते, भण्यते—

विद्याप्रकरणाम्नानात्तयोर्ध्वमिति वाक्यतः ।

ब्रह्मनाडीसमाख्यानाद्विद्वत्स्वेषा नियम्यते ॥

विद्याया नियतफलत्वात् तत्फलप्राप्त्यर्थं च वाक्यप्रकरण-  
समाख्यानैर्मूर्धन्यनाडीनियमवत्फलार्थोत्क्रान्तावपि सैव वि-  
दुषो नियम्यत इत्यर्थान्नाड्यन्तरपरिसंख्येति ॥

**रश्म्यनुसारी ॥ १० ॥**

'अथ यत्नैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामति अथैतैरेव रश्मिभि-  
रूर्ध्व आक्रमते' इति मूर्धन्यनाड्योत्क्रमतो रश्मिद्वारा ब्रह्म-  
लोकगमनं श्रुतम्; तत्र रात्रिप्रेतो विद्वान् रश्मिमार्गं प्राप्नोति  
न वेति, रात्रौ रश्म्यभावभावाभ्यां संशये, मार्गपर्वणोर्नाडी-  
रश्म्योः क्रमात्तदनुबद्धविचारयोः क्रमः ॥

तत्र,

रश्म्यभावाग्निशि प्रेतो ब्रजेदूर्ध्वं विनापि तम् ।

नैव बोर्ध्वं ब्रजेद्यद्वा प्रतीक्षेताहरागमम् ॥

आद्ये रश्मिभिरेवोर्ध्व आक्रमत इत्यवधारणं दिवाप्रेतविषयमिति पूर्वः पक्षः । तत्फलं चानियतमार्गपर्वत्वाद्विश्रमयो न ध्येया इति । द्वितीयतृतीययोर्विद्याया नियतफलत्वानुपपत्तिः । मृतेरनियतकालत्वादहरागमात्प्राग्देहोपघातसंभवाच्च । तृतीये त्वरावचनानुपपत्तिश्चाधिकेति प्राप्ते,

उच्यते—

औष्ण्यादिदर्शनाद्रात्रौ सौरत्वाच्चन्द्रोचिषाम् ।

रात्रौ रश्म्यनुसारित्वं ताभिश्चानुपपत्तिभिः ॥

पूर्वपक्षोक्ताभिरित्यर्थः ॥

**अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ ११ ॥**

दक्षिणायने प्रेतो विद्वानुत्तरायणदेवताधिष्ठितदेवयानं प्राप्नोति न वेति, तदोत्तरायणदेवतासंभवासंभवाभ्यां संशये, पूर्वातिदेशत्वादुपदेशानन्तर्यम् ॥

दक्षिणायन उत्क्रान्तो नोत्तरायणदेवताम् ।

प्राप्नोति मासाभावे तद्देवताया अभावतः ॥

देवतायाः स्थिरत्वेन मासाभावेऽपि संभवात् ।

प्रागुक्तानुपपत्तिभ्यां तामेष प्रतिपद्यते ॥

इति पूर्ववत्पूर्वपक्षसिद्धान्तौ । अधिकाशङ्का तु

मरणस्य प्रशस्तस्य प्रसिद्धेरुत्तरायणे ।

भीष्मेगोद्वीक्षणाच्चास्य तदपेक्ष्यं मृताविति ॥

उत्तरम्—

प्रशस्तिरतिदेशेनाविदुष्येवंति कल्प्यते ।

भीष्मस्योद्वीक्षणं चैवमाचारपरिपालनम् ॥

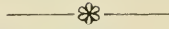
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥



## तृतीयः पादः ॥



### अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

इहोत्क्रान्तस्य विदुषो देवयानः पन्था निरूप्यते । स च श्रुत्यन्तरेष्वनेकधा श्रूयते— ‘अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते’ इति कचित्, ‘तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति अर्चिषोऽहः’ इति कचित्, कचिच्च ‘स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति’ इत्यादि ; तत्र किं परस्परभिन्ना एते पन्थानः, किं वा एक एवानेकविशेषण इति, भिन्नप्रकरणस्थत्वात्, एकदेशप्रत्यभिज्ञानाच्च संशयः ॥

भिन्नप्रकरणस्थत्वाद्भिन्नोपासनयोगतः ।

अनपेक्षा मिथो मार्गास्त्वेवरातोऽवधृतेरपि ॥

गतीनामासां भिन्नोपासनशेषत्वात्, एकोपासनशेषत्वेऽपि पञ्चाग्निविद्यादौ भिन्नप्रकरणस्थत्वात्, ‘स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति’ इत्येकत्र क्षेप्यनिर्देशस्य विलम्बितमार्गान्तराभावसूचकत्वात्, ‘एतैरेव रश्मिभिः’ इत्यवधारणस्य पथ्यन्तरव्यवच्छेदकत्वात् परस्परानपेक्षा एवैते पन्थानः ब्रह्मलोकप्राप्त्युपायाः विकल्पेनेति प्राप्ते, उच्यते—

एकत्वेऽपि पथोऽनेकपर्वसंगमसंभवात् ।

गौरवान्नैव नानात्वं प्रत्यभिज्ञानलिङ्गतः ॥

किमेते रश्म्यहर्वायुसूर्यादयोऽध्वनः पर्वणि सन्तोऽध्वना एकेन युज्यन्ते, आहो यथायथमध्वानमपि भिन्दन्तीति संदेहे अभेदेऽप्यध्वनो भागभेदोपपत्तो गुणानुरोधेन प्रधानभेदकल्पनायोगात् कल्पनालाघवात् एकदेशप्रत्यभिज्ञानाच्च बह्वल्पपर्वमार्गाणां च विकल्पानुपपत्तेः आहवनीयादिवदभिन्नत्वेऽप्यध्वनो भिन्नशेषत्वोपपत्तेः पितृयाणेन चन्द्रगमनमपेक्षयापि देवयानेनादित्यगमनस्य त्वरावचनोपपत्तेः, एकस्य च वाक्यस्य रश्मिप्रापकत्वमार्गान्तरव्यवच्छेदकत्वायोगेनावधारणस्य रश्मिशब्दप्राप्तायोगव्यवच्छेदानुवादकत्वादेकस्यैवाध्वनो विशेषणान्येतानीति । अथैतद्विचारस्य प्रयोजनम्— गतिविशेषणानामर्चिराद्यध्वनि संनिवेशविशेषोऽधिकरणद्वयेन चिन्त्यते परस्परं च तयोर्विषयपाठक्रमात् क्रमः ॥

**वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥**

‘स एतं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकम्’ इति कौषीतकिवाक्यस्थो वायुः अर्चिष उपरि निवेशयितव्यः, किं वा आदित्यादधस्तादिति संशयः; ‘स च वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते द्वारं करोति तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदि-

त्यमागच्छति' इति वाक्यान्तरे 'तेन' इति पदस्यादित्यमा-  
गच्छतीत्यनेन असंबन्धसंबन्धाभ्याम् ॥

श्रुत्याद्यभावे पाठस्य क्रमं प्रति नियन्तृता ।

ऊर्ध्वाक्रमणमात्रे च श्रुता वायोर्निमित्तता ॥

'तेन' इति श्रुतिर्वायुकृतावकाशस्य ऊर्ध्वदेशमात्रप्राप्तौ हे-  
तुत्वमाह नादित्यगमने; तस्या अनन्तरक्रियया संबन्धनिराका-  
ङ्क्षाया व्यवहितसंबन्धाभावात्; 'स आदित्यमागच्छति'  
इति च पदानां परस्परसंबन्धेन निराकाङ्क्षत्वात् । तस्माद्वा-  
य्वादित्ययोः श्रौतक्रमाभावात् पाठक्रमादर्चिरनन्तरं वायुः  
अग्न्यर्चिषोरभेदादिति प्राप्ते, उच्यते—

ऊर्ध्वशब्दो न लोकस्य कस्यचित्प्रतिपादकः ।

तद्भेदापेक्षया युक्तमादित्येन विशेषणम् ॥

अत्रोर्ध्वादित्यशब्दयोर्विशेषणविशेष्यवाचितया विशिष्टादि-  
त्यलोकसमर्पकत्वात् 'तेन' इति श्रुत्या वायुदत्ताच्छिद्रस्यादित्य-  
गमनं प्रति हेतुत्वकथनात्तस्य च नियतप्राक्सत्तात्मकत्वात्  
वाय्वादित्ययोः श्रौतक्रमनियमे सति पाठक्रमः पदार्थमात्र-  
प्रदर्शनार्थः न क्रमार्थ इति सिद्धम् ॥

तडितोऽधि वरुणः संबन्धात् ॥ ३ ॥

वरुणेन्द्रप्रजापतीनां वाय्वनन्तरपाठस्य श्रुत्या बाधे सति  
क निवेश इति पूर्ववद्विशेषदर्शनाभावात्संदेहे,



यत्र कचिन्निवेशो वा निवेशो वार्चिरादिके ।  
वरुणादेरिति प्राप्तं मानाभावेन तत्क्रमे ॥

उच्यते—

तडिदन्तेऽर्चिराद्यध्वन्यप्पतिस्तडितः परः ।

तत्संबन्धात्तथेन्द्रादिरप्पतेः पर इष्यते ॥

आगन्तूनां निवेशोऽन्ते स्थानाभावात्प्रसाधितः ।

तथा चेन्द्रादिरागन्तुः पठ्यते चाप्पतेः परः ॥

विशुदनन्तरभावित्वाद्दृष्टिरूपाणामपांपतेः वरुणस्य तत्सं-  
बन्धः । इन्द्रप्रजापत्योः आगन्तूनामन्ते निवेश इति न्याया-  
त्पाठक्रमाच्चाप्पतेरुपरि निवेशः ॥

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥

तेष्वेवार्चिरादिषु संशयः— किमेतानि मार्गचिह्नानि, उत  
भोगभूमयः, किं वातिनेतारो गन्तूणामिति ; स च ‘अर्चिषो-  
हरह आपूर्यमाणपक्षम्’ इत्याद्युपदेशस्य गच्छ इतस्त्वममुं  
गिरिं ततो नदीमित्यादिमार्गोपदेशसरूपत्वात्, ‘अग्निलोकम्’  
इत्यादिलोकशब्दात्, अन्तिमे पर्वणि ‘तत्पुरुषोऽमानवः’ इति  
पुरुषस्यामानवत्वविशेषणेन सर्वेषां पुरुषत्वसिद्धवत्काराच्च ।  
तडिद्वरुणसंबन्धवदिह सादृश्यसंबन्धान्मार्गचिह्नोपदेशत्वमिति  
संगतिः ॥

मार्गचिह्नसरूपत्वाच्चिह्नान्येवार्चिरादयः ।

भर्तृभोगभुवो वा स्युर्लोकत्वान्नातिवाहिकाः ॥

भर्ता जीवः । न चामानवस्य पुरुषस्य विद्युदादिषु वो-  
दृत्वदर्शनादर्चिरादीनामपि वोदृत्वं पुरुषत्वं वा उन्नेयम्; क-  
चिच्छ्रुतस्यान्यत्र संचारेऽतिप्रसङ्गात् । विद्युदादेर्वोदृत्वे च  
विद्युल्लोकादमानवस्य वोदृत्वाभावप्रसङ्गात् । तस्मान्नातिवाहि-  
का इति प्राप्ते, उच्यते—

संपिण्डकरणानां हि सूक्ष्मदेहवतां गतौ ।

न स्वातन्त्र्यं न वाग्न्याद्या नेतारोऽचेतनास्तु ते ॥

अयमर्थः— चेतनस्य स्वप्रयत्नशून्यस्य नियतोर्ध्वदेशग-  
मनं चेतनान्तराधीनमिति न्यायः अमानवत्वविशेषणलिङ्गे-  
नोपोद्बलितः अर्चिरादीनां वोदृत्वं गमयतीति सामान्यवति  
शब्दे विशेषापेक्षिणि स्फुटं यद्विशेषपदं तेन तत्सामान्यं निय-  
म्यते । ‘तेऽर्चिराद्यभिसंभवन्ति’ इति संबन्धसामान्यवचनः  
शब्दः ‘स एनान्ब्रह्म गमयति’ इति वाक्यशेषाद्रम्यगमयि-  
तृत्वसंबन्धविशेषे नियम्यत इति ॥

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

गतिनिरूपणानन्तरं तद्विषयं गन्तव्यं निरूपयति । ‘स  
एनान् ब्रह्म गमयति’ इत्यत्र किं परमविकृतं ब्रह्म गमयति,

आहो विकृतं कार्यमिति, अविकृतस्य गतिकर्मत्वसंभवासंभवाभ्यां संशयः ।

मुख्यत्वादमृतत्वाप्तेः परप्रकरणादपि ।

गन्तव्यं जैमिनिर्मेने परमेवार्चिरादिना ॥

नपुंसकान्तब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्मुख्यत्वात् 'तयोर्ध्वमाय-  
न्नमृतत्वमेति' इति गतिफलत्वेनावगतस्य चामृतत्वस्य कार्य-  
ब्रह्मण्यसंभवात् परप्रकरणे च 'प्रजापतेः सभां वेदम प्रपद्ये'  
इति प्रतिपत्त्यभिसंध्यादिश्रवणात् प्राप्तस्यापि पुनर्देशान्तरवि-  
शिष्टस्य प्राप्तिसंभवात् ब्रह्मलोकेष्विति बहुवचनस्य चैकस्मि-  
न्शब्दसाधुत्वमात्रार्थत्वात् लोकशब्दस्य लोकनं लोक इति  
यौगिकत्वात्, अर्चिरादिमार्गेण सत्यलोकमतिक्रम्य परं का-  
रणं ब्रह्म प्राप्तस्य तत्रैव लिङ्गशरीरप्रलयान्मोक्ष इति प्राप्ते,  
उच्यते—

कार्यमप्राप्तपूर्वत्वादप्राप्तप्रापणी गतिः ।

प्रापयेद्ब्रह्म न परं प्राप्तत्वाज्जगदात्मकम् ॥

जीवस्तावदविद्योपाधिविभागो ज्ञानादविद्यानिवृत्तावात्म-  
भूतमेव ब्रह्म प्राप्नोतीति तत्र तत्र श्रुतिस्मृतिन्यायैरुपपादि-  
तम् । तथा च न गतिपूर्विका ब्रह्मप्राप्तिः । सप्रपञ्चब्रह्मवादे-  
ऽपि जगदात्मकं ब्रह्म जीवैर्विकारैरवयवैरत्यन्तविभिन्नैर्वा नि-  
त्यप्राप्तमिति न गत्यपेक्षा । न च देशान्तरविशिष्टं गन्तव्यम् ;  
विकारावयवपक्षयोस्तद्वतः स्थिरत्वेन तदभिन्नयोस्तदयोगात् ।

भेदाभेदपक्षस्य निरस्तत्वात् । अत्यन्तभेदपक्षे संयोगानित्य-  
तया मोक्षानित्यत्वम् । अतः कार्यं ब्रह्मलोकं गमयति अमा-  
नवपुरुषः इति स्थिते, ब्रह्मपदं स्वार्थस्य वाक्यार्थेऽन्वयाभावा-  
दानर्थक्यहृतं गौणम् ; अमृतत्वं चापेक्षिकम् ; प्रतिपत्त्यभिसं-  
ध्यादेश्च वाक्यादिना प्रकरणादुत्कर्षः अर्थवादता वा । तथा  
च लोकशब्दादि बहु समञ्जसं स्यादिति ॥

### अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथादोषात्तत्क्रतुश्च ॥ ६ ॥

‘स एनान् ब्रह्म गमयति’ इति ब्रह्मशब्दार्थनिरूपणानन्तरं  
गन्तारं निरूपयति, एकवाक्योपादानसंबन्धात् । गन्तव्य-  
प्राथम्यम् ईप्सिततया प्राधान्यात् । प्रतीकोपासका ब्रह्मलोकं  
गच्छन्ति न वेति, तेषामब्रह्मक्रतुत्वात् तादृशमपि पञ्चाग्नि-  
विदां ब्रह्मलोकगमनदर्शनाच्च संशयः ॥

अब्रह्मक्रतवो यान्ति यथा पञ्चाग्निविद्यया ।

ब्रह्मलोकं प्रयास्यन्ति प्रतीकोपासकास्तथा ॥

‘ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमित्युपासते तेऽर्चिरभिसंभ-  
वन्ति’ इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्धिः समान-  
मार्गश्रवणात् तत्क्रतुन्यायस्य च तेष्वेव व्यभिचारात् तत्तत्फ-  
लविशेषस्य च ब्रह्मलोकेऽप्युपपत्तेः प्रतीकोपासका अपि ब्रह्म-  
लोकं गच्छन्तीति प्राप्ते, उच्यते—

प्रतीकोपास्तिफलानाम्

उत्तरोत्तरभूयस्त्वादब्रह्मक्रतुभावतः ।

प्रतीकोपासकान्ब्रह्मलोकं नामानवो नयेत् ॥

भवतु पञ्चाग्निविदामब्रह्मक्रतूनामपि ब्रह्मलोकगमनम्, 'तं यथा यथोपासते' इति सामान्यवचनस्य 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इति विशेषवचनेन बाधात् । प्रतीकभाजां तु 'ये चामी अरण्ये' इत्यनेन पञ्चाग्निविद्धिः समानमार्गे समुच्चयेऽप्यप्राधान्यात् 'स एनान्' इत्येतच्छब्देनापरामर्शान्न ब्रह्म-प्राप्तिः । एतच्छब्दस्य प्राधान्येन प्रकृतपरामर्शकत्वात्पञ्चा-ग्निविदामेव प्रकरणवत्त्वेन तथाभावात् । एवं च फलोत्कर्षोऽप्याञ्जसः स्यादिति ॥

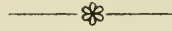
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥



## चतुर्थः पादः ॥



संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥

अस्ति मोक्षविषया श्रुतिः— ‘परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते’ इति ; तत्र किं मुक्तः पूर्वसिद्धरूपेणाभिनिष्पद्यते, किं वागन्तुकेन स्वीयेन धर्मेण केनचिद्विशिष्ट इति, स्वशब्दस्य स्वरूपस्वीयसाधारण्यात्संशयः ॥

प्रागभूतस्य निष्पत्तौ कर्तृत्वं न सतो यतः ।

फलत्वेन प्रसिद्धेश्च मुक्ते रूपान्तरोद्भवः ॥

न च बन्धाभावे उत्पद्यमाने स्वरूपोत्पत्त्युपचारः ; तुच्छत्वेनाभावस्य जन्यत्वायोगात् । अतो रूपान्तरेण मुक्तो निष्पद्यते ; तस्य च प्राप्तमेव स्वीयत्वम् ‘स्वेन’ इत्यनूद्यते इति ॥

अत्रोच्यते—

संभवत्यर्थवत्त्वे हि नानर्थक्यमुपेयते ।

बन्धस्य सदसत्त्वाभ्यां रूपमेकं विशिष्यते ॥

अविद्यारोपितसांसारिकरूपनिवृत्तौ सहजस्वरूपेणावस्थानमनधिगतमवबोधयन्स्वशब्दो नानुवादो युज्यते । बन्धाभावस्य घटादेरिव व्यावहारिकप्रमाणसिद्धा विचारासहैवोत्पत्तिरिति ॥

## अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ २ ॥

स्वरूपेणाभिनिष्पन्नो मुक्तः किं योगिनामिव परस्माद्भेदेन भवति, उताभेदेनेति, 'परं ज्योतिरूपसंपद्य' इति कर्मकर्तृ-भेदनिर्देशात्, तत्त्वमस्याद्यभेदनिर्देशाच्च संशये, पूर्वस्मिन्नेव विशेषविचारात्संगतिः ॥

श्रुतिद्वयाविरोधाय व्यवस्थैवं प्रकल्प्यते ।

ब्रह्म ज्ञेयमभेदेन तत्संपत्तिस्तु भेदतः ॥

अहंग्रहोपासनेष्विवेत्यर्थः ॥

उत्तरम्—

अज्ञातब्रह्मविज्ञानमभेदेन यदीष्यते ।

तत्संपत्तौ कुतो भेदो गौण्यतः कर्मकर्तृता ॥

अथवा तत्त्वमस्यादेः साधनज्ञानगोचरात् ।

फलवाक्यबलीयस्त्वाद्भेदो मुख्यो गुणात्परः ॥

उत्तरम्—

अभिनिष्पन्नरूपस्य स उत्तमपुमानिति ।

ब्रह्मतैवोच्यते तत्त्वमस्याद्यनुगुणं फलम् ॥

ततो भेदश्रुतयो गौण्य इति अनयोः शङ्कयोः प्रागनिराकृतत्वादगतार्थता ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः ॥ ३ ॥

स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यमानो ब्राह्मेण रूपेण निष्पद्यत इति स्थितम् । इदानीं तद्ब्राह्मं रूपं सविशेषं न वेति संदिह्यते; 'य आत्मापहतपाप्मा' 'स तत्र पर्येति' 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इति चोपन्यासविधिव्यपदेशेभ्यः, 'प्रज्ञानघन एव' 'नेति नेतीत्यस्थूलम्' इत्यादिवाक्येभ्यश्च ॥

तात्त्विकं सविशेषत्वमुपन्यासादिहेतुभिः ।

विशेषप्रतिषेधाः स्युरभेदाद्धर्मधर्मिणोः ॥

निषेधश्रुतीनां प्राप्तिसापेक्षत्वेन दुर्बलत्वादिति ॥

अत्रोच्यते—

नानाधर्मैरभिन्नत्वे ब्रह्म भिन्नं प्रसज्यते ।

भेदाभेदौ विरुध्येते न भेदे धर्मधर्मिता ॥

अतो निर्विशेषत्वं स्वाभाविकम्, सविशेषता त्वौपाधिकी-  
ति । इमां च व्यवस्थां सिद्धां कृत्वा 'न स्थानतोऽपि' इत्यत्र  
सोपाधिकानामपि विशेषाणां सत्यताशङ्का निराकृता ॥

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

अथ सगुणविदः प्राप्तविद्याफलस्य तत्तद्भोगोपकरणसंपत्तौ  
संकल्पातिरिक्तसाधनापेक्षास्ति, उक्तं नास्तीति संशयः; 'सं-  
कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इत्यादिश्रुतेः, यद्भोगोप-  
करणं तत्संकल्पातिरिक्तसाधनसंपाद्यं विमतं भोगोपकरण-



मित्यनुमानाच्च । पूर्वत्र ब्रह्मणि विशेषासंभवादविशेषप्रवृत्ता-  
पि सविशेषत्वश्रुतिरौपाधिकविषये व्यवस्थापिता; न तथे-  
हाविशेषप्रवृत्तमनुमानमयोगिविषये व्यवस्थापनीयम्; योगि-  
न्यपि संकल्पातिरिक्तसाधनसंभवादिति प्रत्यवस्थानात्संगतिः ॥

यत्नानपेक्षः संकल्पो लोके वस्तुप्रसाधनम् ।

न दृष्टः सोऽत्र यत्नस्य लाघवादवधारितः ॥

पदपदार्थज्ञानेऽनुमानसापेक्षत्वात् तद्विरुद्धम् ‘संकल्पा-  
देव’ इत्यवधारणं यत्नलाघवापेक्षं व्याख्येयम् । न च संक-  
ल्पमात्रजस्य अन्नपानादेराशामोदककल्पस्य तृप्त्यादिहेतुत्व-  
संभवः ॥

अत्रोच्यते—

पित्रादीनां समुत्थानं संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ।

न चानुमानबाधोऽत्र श्रुत्या तस्यैव बाधनात् ॥

पदपदार्थविज्ञानेऽनुमानसापेक्षापि वाक्यार्थावबोधे प्रमा-  
णान्तरानपेक्षा श्रुतिर्मानान्तरेणाशक्या बाधितुम्, अनुमान-  
मेव तु तया बाधितविषयमङ्गाभावान्नोदेति । अयोगिजत्वेन  
सोपाधिकं च । तथा च

संकल्पमात्रजन्यानां नाशामोदकतुल्यता ।

अर्थक्रियासमर्थत्वमपि संकल्प्यते यतः ॥

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ ५ ॥

प्राप्तैश्वर्यस्य विदुषो मनोतिरिक्तेन्द्रियाणां शरीरस्य च भावाभावौ अनियमेन भवतः, नियमेन वान्यतरः, सोऽप्यभावो भावो वेति द्विस्कन्धः संशयः; 'स मनसैवैतान्पश्यन्मते', 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इति च वाक्यद्वयं यथाप्रतीतार्थं ग्राह्यम्, किं वा एकानुसारेणैकं नेयम्; तदापि किमनुसारेण किं नेयमित्यनिश्चयात् । तत्र न तावन्नियमे संभवति अनियमो विकल्परूपः अष्टदोषयुक्तः । तत्रापि पूर्ववदवधारणात्,

अन्ययोगव्यवच्छिन्न्या मनसेति विशेषणात् ।

देहेन्द्रियवियोगः स्याद्विदुषो वादरेर्मते ॥

अनेकधाभावश्च विदुषो मनोभेदाद्वा भूमविद्यास्तुतये अस्य अविद्यमानो वा कीर्त्यत इति ॥

शरीरेन्द्रियभेदे हि नानाभावः समञ्जसः ।

न चार्थसंभवे युक्तं स्तुतिमात्रमनर्थकम् ॥

न च मनोभेदमात्राज्जाग्रद्भोगयोग्योऽनेकधाभावः संभवति; न च सगुणावस्थायां फलमनेकधाभावो निर्गुणायामपि भूमविद्यायां प्रशंसार्थमुच्यत इत्यर्थसंभवे निरालम्बनस्तुतिर्युक्ता । ततश्च 'मनसा' इति विशेषणमयोगव्यवच्छेदार्थं चैत्रो धनुर्धर इतिवदित्यपरं मतम् ॥

सिद्धान्तस्तु— कामेषु रममाणस्य तावन्मनोवियोगशङ्काभावात् 'मनसा' इति विशेषणं देहादिपरिसंख्यार्थम् ।  
तथा च

देहादेस्तुल्यमानाभ्यां स त्रिधा मनसेति च ।

भावाभावौ विकल्पेन भवेतां विद्वदिच्छया ॥

**प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ ६ ॥**

पूर्वत्र 'स त्रिधा भवति' इति वाक्योदाहरणेनानेकैः शरीरैर्विदुषः सशरीरत्वमुक्तम्; तदुपपादनाय विचार्यते—  
योगनिर्मितशरीराणि दारुयन्नवन्निरात्मकानि, उत सात्मकानीति; अन्तःकरणावच्छिन्नस्यात्मनो युगपदनेकत्र संनिधानासंभवात्, आत्मभोगायतने एव शरीरत्वप्रसिद्धेश्च ॥

आत्मान्तःकरणोपाधिस्तस्य प्रादेशिकत्वतः ।

युगपद्विन्नदेशस्थान्देहान्नावेष्टुमर्हति ॥

अन्तःकरणान्तरसर्गेऽर्थोत्पत्तिकान्तःकरणावच्छिन्नस्य न तैरवच्छेदो युक्तः; तस्माद्दारुयन्नसमानि योगजशरीराणि गौणानीति ॥

अत्रोच्यते—

शरीरत्वं न जातु स्याद्भोगाधिष्ठानतां विना ।

स त्रिधेति शरीरत्वमुक्तं युक्तं च तद्विभौ ॥

'स त्रिधा' इत्यादिका श्रुतिर्विदुषः स्फुटतरं बहुप्रकारतानिर्माणमाचक्षाणा भिन्नशरीरेन्द्रियोपाधिं विना तदयोगात् शरीरभेदानिर्माणमेवाचष्टे; शरीरत्वं च भोगायतनेषु प्रसि-

द्धम्, भोगायतनत्वं चात्मावच्छेदकस्यैवेति सात्मकत्वसिद्धिः । तेषां यद्यप्यौत्पत्तिकमन्तःकरणं परिच्छिन्नम्, तथाप्येकाविद्योपादानानि अनेकानि शरीराणि सान्तःकरणानि सृष्ट्वा तान्येकपदे योगी प्रविशति । न चान्तःकरणभेदे जीवभेदः ; अविद्योपाधेरेकत्वात् ॥

### जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनि- हितत्वाच्च ॥ ७ ॥

मनःशरीरसंसर्गादैश्वर्यं यदुपासितुः ।

जगत्सर्गे तदुत्सृष्टमिह मानादपोद्यते ॥

सगुणविद्यया सायुज्यादि प्राप्तानां निरङ्कुशमैश्वर्यम्, जगत्सर्गादिवर्जं वेति संशयः ; 'आप्नोति स्वाराज्यम्' इत्यादि-श्रुतेः, ईश्वराधीनसिद्धित्वाच्च ॥

स्वाराज्यकामचारादिश्रुतिभ्यः स्यान्निरङ्कुशः ।

स्वकार्यं ईश्वराधीनसिद्धिरप्यत्र साधकः ॥

यद्यपि विदुषामीश्वराधीना सिद्धयुत्पत्तिः, तथापि सिद्धिकार्यं तेषामीश्वरानपेक्षमिति निरङ्कुशं भवति । न च यदधीनं यस्यैश्वर्यम्, तत् तदैश्वर्यान्न्यूनमिति व्याप्तिः ; द्रष्टृसामन्तादौ व्यभिचारात् । अतः सिद्धयुत्तरकालं पूर्वसिद्धेश्वरादविशेषात् विदुषां जगत्सर्गादावपि कर्तृत्वमिति ॥

अत्रोच्यते—

नित्यत्वादनपेक्षत्वाच्छ्रुतेस्तत्प्रक्रमादपि ।

एकमत्याच्च विदुषां परमेश्वरतन्त्रता ॥

ब्रह्मणो हि नित्यसिद्धं कारणत्वम्, अन्यानपेक्षत्वात् । विदुषां तु मूलकारणापेक्षं साध्यम्; तत्र जगत्सर्गलक्षणं कार्यं मूलकारणस्यैवास्तु, आहो साध्यकारणत्वानामपीति विशये, मूलकारणस्यैवेति युक्तम्; तस्य कल्पशक्तित्वात्, इतरेषां कल्प्यशक्तित्वात्, ईश्वरस्यैव 'आत्मन आकाशः' इत्यादौ जगत्स्रष्टृत्वश्रुतेः, 'तेत्तजोऽसृजत' इत्यादौ च जगत्सर्गे 'सदेव सोम्येदम्' इत्यादिना तस्यैव प्रक्रमात्, ईश्वराधीनत्वाभ्युपगम एवैकमत्यलाभाच्च । अतो यावन्मात्रं विदुषामैश्वर्यं श्रुतम्, तावदेव तेषाम्, न सर्वेश्वरवन्निरङ्कुशमिति सिद्धम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥











8

132

43445

1913

Amalananda

Gastra darpana



PLEASE DO NOT REMOVE  
CARDS OR SLIPS FROM THIS POCKET

---

UNIVERSITY OF TORONTO LIBRARY

---

UTL AT DOWNSVIEW



D RANGE BAY SHLF POS ITEM C  
39 11 07 01 15 006 4